परामर्श Vol. 23 2002

G.K.V. Lib.
Hardwar

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २३, अंक १
दिसम्बर - जनवरी - फरवरी २००२
भारतीय सौर मार्गशीर्ष-पौष-माघ शके १९२३

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २०००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ८०/-
एक प्रति का मूल्य		२५/-

सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही रजिस्ट्रार, पुणे विश्वविद्यालय के नाम पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.२०/- अधिक जोड दें)

आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

सम्पादकीय

एक सूत्र है जिस का मूल उपनिषदों में पाया जाता है - आत्मानं विद्धि। आत्मा से किस वस्तु या विषय का निर्देश किया है या किया जा सकता है इसपर काफी बहस हो सकती है। आत्मा को हम कम से कम केवल खुद के अर्थ में लेकर विचार का आरंभ कर सकते हैं। अतः कहना है, अपने आप को जानो, अपने स्वरूप को पहचानो। जब हम अपनी ओर देखते हैं तब क्या हमारी दृष्टि साफ होती है ? किसकी दृष्टि से हम अपने को देखते हैं ? हम अपना एक चेहरा बनाते हैं, उसे अच्छी तरह से सँवारते हैं और थोडी दूरी पर खडे रहकर अपनी ओर देखते हैं। जो सँवारना किसी दृष्टि में लुभावना हो उसी तरह से हम अपने को सँवारते हैं और उसी दृष्टि से अपने को ताकते रहते हैं। जिस समाज का अंश बनकर हम जीते हैं उस समाज के अन्य सदस्यों की दृष्टि उधार लेकर भी अपने को देखते हैं। पहचान का मतलब लिया जाता हैं किसी ने किसी को पहचानना, किसी एक को किसी दूसरे ने अपनी नजर से पहचानना। इसी विधा का प्रयोग करते हुए हम अपनी पहचान के लिए अपनी ओर देखते हैं किसी और की दृष्टि से। किसी एक को जब किसी और की दृष्टि से देखा जाता है तब उस देखने के पीछे अपेक्षाबुद्धि होती है। खुद को पहचानने में भी जब अपेक्षाबुद्धि से देखा जाता है तब वह देखना साफ नहीं होता है। निरपेक्ष बुद्धि से अपने को देखने से शायद अपनी पहचान पायी जा सकती है।

एक व्यक्ति के रूप में अपने को जानना, पहचानना इस का मतलब है अपनी सामर्थ्य और कमजोरियों को देखना, उन के कारण ढूँढना और उन्हें संतुलित बनाने के लिए उपाय खोजना। हमारी कमजोरी होती है कि हम अपने को कमजोर मानते हैं। हमारी शक्तियाँ सुप्त एवं प्रकट रूप में होती है। सुप्त शक्तियों को जागृत करके प्रकट करना और कार्यान्वित करना हमारा उद्देश्य हो। प्रायः हम अपनी सामर्थ्य को जानते नहीं हैं। हममे क्या सुप्त है और किस तरह उसे जगाना है इस बात को भी पहचानते नहीं हैं। फलतः हम अपने को कमजोर मान बैठते हैं। कमजोरी को पूरा करने के लिए बाह्य आधार का अवलंबन किया जाता है। यहीं हम खुदका नियंत्रण तथा स्वातंत्र्य खो बैठते हैं। जब बाह्य आधार पर निर्भर करना होता है तब उस आधार से हमारा जीवन नियंत्रित होने लगता है। इस से हमारी आंतरिक शांति में बाधा पहुँचने से व्यक्तित्व असंतुलित बनता है और हमारे बर्ताव अपने तथा अन्यों

के लिए भी समस्या बन बैठते हैं। असंतुलित एवं अशांत मनुष्य क्रोध, ईर्ष्या, मत्सर, मद, लोभ आदि विकारों के वश होकर समाज में समस्याएँ पैदा करते चला जाता है। केवल खुद के क्रोधादि दोष देखने से खुद की पहचान नहीं बनेगी, किन शक्तियों के सुप्त रहने से कमजोरी की हालत पैदा हुई है इसे ठीक तरह से समझना जरूरी है। जब कोई मनुष्य दूसरे पर आघात करता है, चाहे वह आलोचक हो या आतंकवादी, उसकी इस प्रेरणा का मूल उसकी अपनी कमजोरी में है जिसे वह न देख पाता है न पहचान पाता है। अतः इन समस्याओं का हल ढूँढने के लिए हमें जाना होगा उसी स्रोत के पास जो हमें जाग्रत करके बताता है, आत्मानं विद्धि।

-सुभाषचन्द्र भेलके

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक १ दि.-ज.-फ.२००२

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक २ मा.-अ.-म.२००२

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।

- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।

- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।

- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।

- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक ३ जू.-जु.-अ.२००२

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक ४ सि.-अ.-न.२००२

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्रायः २००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचन्द्र भेलके ने यह त्रैमासिक 'विमर्श', सोमवार पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस [१]

"आधुनिक विद्वद्समाज, विशेषकर कला, मानविकी और समाजशास्त्र के अध्येता, प्रख्यात दार्शनिक लुडविग विटगेन्स्टाइन और उनकी कृति *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* से भली-भाँति परिचित न हों, यह कतई संभव नहीं है। लुडविग विटगेन्स्टाइन बीसवीं सदी के इतके प्रभावशाली दार्शनिक हैं कि उनके चिन्तन ने पूरी दुनिया की सोच को एक नई दिशा दी है। दार्शनिकों का *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* में प्रतिपादित सिद्धान्तों से मतभेद तो हो सकता है परन्तु उनके लिए उसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं।..."[२] भारत में विटगेन्स्टाइन दर्शन के विद्वान प्रो. अशोक वोहरा के ये उद्‌गार, कतिपय दार्शनिकों को अतिरंजित भले ही प्रतीत होते हों, परन्तु यह सच है कि अपने जीवन काल में ही 'प्लेटो' जैसी ख्याति प्राप्त करने वाले विटगेन्स्टाइन[३] समकालीन पाश्चात्य दर्शन के मूर्धन्य दार्शनिकों में स्थान रखते हैं। दर्शनशास्त्र में उनके स्थान की तुलना जीवविज्ञान में डार्विन और भौतिकी में आइन्स्टीन के स्थानों से की जाती है।[४]

वर्ष १९२९ में, केम्ब्रिज वापसी के बाद, विटगेन्स्टाइन ने जब पुनः दार्शनिक चिन्तन में रुचि लेना शुरू किया तब उनको अपने पूर्ववर्ती विचारों की त्रुटियों की अनुभूति हुई। इस अनुभूति में ही *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* का बीजारोपण हुआ। विटगेन्स्टाइन ने इस पुस्तक के प्राक्कथन में यह स्वीकार किया है कि यह पुस्तक *ट्रैक्टेटस* की भूलों की अनुभूति का परिणाम है। इसके लिए विटगेन्स्टाइन ने फैक रैमसे और पी. स्राफा की आलोचनाओं का आभार व्यक्त किया है।

पी. आई. का प्राक्कथन जनवरी १९४९ में लिखने के बाद विटगेन्स्टाइन ने इसके प्रकाशन का मन बना लिया था। वह इस पुस्तक के प्राक्कथन में यह स्वीकार करते हैं, "मैं चाहता था कि मैं एक अच्छी पुस्तक लिखूँ। किन्तु ऐसा नहीं हुआ और अब इसे सुधारने का समय निकल चुका है।" उनकी उपर्युक्त स्वीकृति और प्राक्कथन में ही उनके कथन, "इस अन्धे युग में यह असम्भव तो नहीं कि इस तुच्छ पुस्तक के भाग्य में किसी के मन-मस्तिष्क

को आलोकित करना लिखा हो - किन्तु सम्भवतः ऐसा होगा नहीं'' से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रकाशन को लेकर उनके मन में हिचकिचाहट मौजूद थी। शायद इसी हिचकिचाहट के कारण उन्होंने इसका प्रकाशन अपनी मृत्यु के बाद होने के लिए छोड दिया। जार्ज एच. वॉन रिट के अनुसार, विटगेन्स्टाइन ने *ट्रैक्टेटस* के बाद दार्शनिक विचारों का प्रकाशन इसलिए नहीं कराया क्योंकि उनको ऐसा महसूस होता था कि वह किसी अन्य सभ्यता और काल के लोगों के लिए लिख रहे हैं। रिट के इन विचारों में सत्यता झलकती है क्योंकि *ट्रैक्टेटस* के बाद विटगेन्स्टाइन ने अपने पूरे जीवनकाल में केवल एक निबन्ध 'सम रिर्माक्स आन लॉजिकल फार्म' तथा एक निबन्ध समीक्षा का ही प्रकाशन कराया था। इनके अतिरिक्त विटगेन्स्टाइन की समस्त कृतियों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद हुआ। *पी. आई.* का प्रकाशन भी उनकी मृत्यु के पश्चात् १९५३ में हुआ।

ट्रैक्टेटस की तरह ही *पी. आई.* के विचार भी दुर्बोध और जटिल हैं। परन्तु दोनों की पद्धतियों में भिन्नता है। *ट्रैक्टेटस* की पद्धति सूत्रात्मक है और *पी. आई.* टिप्पणियों के रूप में अनुच्छेदों में विभक्त है। *पी. आई.* दो भागों में विभक्त है। इसका भाग I जैसा कि परम्परागत रूप से पुस्तकें शीर्षकों में विभक्त होती हैं, शीर्षकों में विभक्त न होकर, अनुच्छेदों में विभक्त है। इसमें ६९३ अनुच्छेद हैं। विटगेन्स्टाइन ने इस भाग को १९४५ तक पूरा कर लिया था परन्तु वह इसके अन्तिम तीस पृष्ठों की सामग्री से संतुष्ट नहीं थे। विशेष रूप से वह इन अनुच्छेदों की क्रमबद्धता से संतुष्ट न थे। उनका उद्देश्य इनका ऐसा क्रम निर्धारित करना था जिससे कि इनमें विचारों का प्रवाह स्वतः प्रस्फुरित होता हुआ प्रतीत हो। इस पुस्तक के भाग II के १४ अनुभाग हैं, जिन्हें उन्होंने १९४७ और १९४९ के बीच लिखा। प्रथम दृष्ट्या अध्ययन से यह ज्ञात नहीं होता है कि इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूप से क्या है। परन्तु वस्तुतः यह पुस्तक जितनी छिन्न-भिन्न प्रतीत होती है उतनी है नहीं। इसमें युक्तियों के समूह हैं तथा इन युक्तियों को जोडने वाली ऐसी अनभिव्यक्त कडियाँ हैं जो युक्तियों के समूहों में क्रमबद्धता बनाए रखती हैं।

इस पुस्तक के दार्शनिक विचार एक दूसरे से असम्पृक्त और इस प्रकार गुत्थम-गुत्था हैं कि बिना किसी पूर्वविधान के स्पष्ट रूप से यह कहना कि इसमें अमुक दार्शनिक विचार (उदाहरण के लिए अर्थ-निर्धारण का विचार) अमुक-अमुक अनुच्छेंदो में है इत्यादि वस्तुतः न्यायसंगत नहीं होगा। फिर

भी, अनुच्छेदों के आधार पर *पी. आई.* के भाग I का विभाजन प्रायः दार्शनिक इसलिए करते हैं क्योंकि विचारों में असम्पृक्तता के बावजूद इसमें एक क्रमबद्धता स्पष्ट रूप से झलकती है, और विभाजन से इसके अध्ययन में सुविधा होती है। विषय-वस्तु के आधार पर इसके विभिन्न अनुच्छेदों के विभाजन के विषय में दार्शनिकों में सहमति के अभाव के बावजूद इसका निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता है :[६]

अनुच्छेद १-६४ : 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचना (मुख्य रूप से *ट्रैक्टेटस* और रसेल के तार्किक अणुवाद की आलोचना)।

अनुच्छेद ६५-८८ : *ट्रैक्टेटस* और फ्रेगे के अर्थ-निर्धारण सम्बन्धी विचारों की आलोचना ।

अनुच्छेद ८९-१३३ : दर्शनशास्त्र की प्रकृति, और तर्कशास्त्र की आदर्शभाषा की तलाश।

अनुच्छेद १३४-१४२ : प्रतिज्ञप्ति का सामान्य आकार और सत्य की प्रकृति।

अनुच्छेद १४३-१८४ : भाषायी बुद्धि।

अनुच्छेद १८५-२४२ : 'नियम का पालन' और भाषायी ढाँचा।

अनुच्छेद २४३-३१५ : निजी अनुभव और भाषा सम्बन्धित विचार।

अनुच्छेद ३१६-३६२ : विचार और सोचना।

अनुच्छेद ३६३-३९७ : कल्पना और मानसिक प्रतिबिम्ब।

अनुच्छेद ३९८-४११ : आत्मा की प्रकृति और 'मैं' पर विचार।

अनुच्छेद ४१२-४२७ : चेतना।

अनुच्छेद ४२८-४६५ : भाषा और सत्ता के बीच सम्बन्ध।

अनुच्छेद ४६६-४९० : आगमन और आनुभविक विश्वासों का सत्यापन।

अनुच्छेद ४९१-५४६ : व्याकरण और अभिप्राय (सेन्स) की सीमा।

अनुच्छेद ५४७-५८० : तादात्म्य और भाषायी अर्थ की विविधता ।

अनुच्छेद ५७१-६१० : मानसिक स्थितियाँ और प्रक्रिया, प्रत्याशा और विश्वास।

अनुच्छेद ६११-६२८ : मानवीय संकल्प।

अनुच्छेद ६२९-६६० : अभिप्रेत होना (इन्टेन्डिंग)।

अनुच्छेद ६६१-६९३ : अर्थ-निर्धारण।

अनुच्छेदों पर आधारित विभाजन के साथ-साथ, इस पुस्तक को दार्शनिक विचारों के आधार पर मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

(I) भाषा का अर्थ-सिंद्धान्त, 'भाषा का प्रयोग सिद्धान्त, 'भाषा-खेल' और 'जीवन का आकार'

(II) दर्शनशास्त्र की प्रकृति

(III) मन-दर्शन

इस लेख की परिसीमा को ध्यान में रखते हुए इसमें उपर्युक्त प्रथम दो भागों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। विटगेन्स्टाइन के मन-दर्शन के विहंगम परिदृश्य को देखते हुए मेरा विचार है कि इसके लिए एक और स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता होगी।

(I)

विटगेन्स्टाइन दर्शन में भाषायी अर्थ के सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। *पी. आई.* का 'भाषा का अर्थ-सिद्धान्त' *ट्रैक्टेटस* और रसेल के 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचनाओं का परिणाम है। *ट्रैक्टेटस* और रसेल के 'भाषा का चित्र् सिद्धान्त' के स्थान पर *पी. आई.* में विटगेन्स्टाइन ने 'भाषा का प्रयोग सिद्धान्त' की स्थापना की। इसके अनुसार किसी भी शब्द या वाक्य के अर्थ का निर्धारण उस शब्द या वाक्य के प्रयोग के द्वारा होता है। इस सिद्धान्त ने, 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की मान्यता 'किसी शब्द का अर्थ वह वस्तु होता है जिसके लिए वह शब्द प्रयुक्त होता है', को अस्वीकार कर दिया।

'भाषा का चित्र सिद्धान्त' के अनुसार भाषा का सार इस चित्रण में निहित होता है कि वस्तुओं और घटनाओं की प्रकृति क्या है। इसके अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यों का चित्र होती हैं। जब कोई प्रतिज्ञप्ति किसी तथ्य का चित्र प्रस्तुत करती है तब वह सत्य होती है और जब वह तथ्य का चित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं होती है तब वह असत्य होती है। यह सिद्धान्त इस बात को भी स्वीकार करता है कि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता और असत्यता का इसकी अर्थपूर्णता से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। कोई प्रतिज्ञप्ति असत्य होते हुए भी अर्थपूर्ण हो सकती है। इसके अनुसार सभी अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियाँ, आधारभूत प्रतिज्ञप्तियों का फलन होती हैं।

पी. आई. में सर्वप्रथम विटगेन्स्टाइन 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचना करते हैं। इसके लिए वह इस पुस्तक की शुरुआत सेंट आगस्टाइन की पुस्तक कन्फेशन्स के एक उद्धरण से करते हैं, जो निम्न-प्रकार है :

'जब मेरे अग्रज किसी वस्तु का नाम पुकार कर उस वस्तु की ओर चले तो मैंने यह देखा और समझ गया कि उस वस्तु को उस ध्वनि से जाना जाता है जिसे उन्होंने उस वस्तु को इंगित करने के लिए उच्चारित किया। उनकी शारीरिक गतिविधियोंसे, जैसे की चेहरे के हाव-भाव, आँखों का संचालन, शरीर के दूसरे अंगो की हरकतें और उनके स्वर के आरोह-अवरोह - उनके आशय का पता चलता है। इन भंगिमाओं गतिविधियों से हमारी मानसिक अवस्था, जैसे कि किसी वस्तु को खोजने की, उसके मिल जाने की, उसे नकारने की या फिर उससे बचे रहने की, भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार जब मैंने बार-बार शब्दों को उनके उचित स्थानों पर विविध वाक्यों में प्रयुक्त होते हुए सुना तो मैं शनैः-शनैः सीख गंया कि वे किन वस्तुओं के प्रतीक हैं, और जब मैंने अपने मुँह से वैसी ध्वनि निकालना सीख लिया तो मैं भी उनका प्रयोग अपनी इच्छा को व्यक्त करने के लिए करने गला।'' (आगस्टीन, *कन्फेशस*, १.८)

प्रश्न उठता है कि विटगेन्स्टाइन उपर्युक्त उद्धरण से ही *पी. आई.* की शुरुआत क्यों करते हैं? स्टैनली कावेल के अनुसार, ''मैंने आगस्टाइन के कन्फेशन्स को *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* को पढने से पहले पढा था और मुझे याद है कि मुझे आगस्टाइन के 'काल' से सम्बन्धित विचारों के बारे में जिज्ञासा हुयी थी परन्तु मुझे उनके उन अनुच्छेदों पर जिज्ञासा नहीं हुयी थी जो भाषा को सीखने से सम्बन्धित हैं। इसलिए यदि उन (भाषा से सम्बन्धित) शब्दों में कुछ ध्यान देने योग्य है तो यह तथ्य स्वयं ध्यान देने योग्य है। मानो यह बताता है : कोई पहले से ही नहीं जानता कि, जब किसी ने सोचना बन्द कर दिया है, कहाँ पर दार्शनिक चिन्तन को शुरुआत हो जाए।''[७] वस्तुतः विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* की शुरुआत *कन्फेशन्स* के उपर्युक्त अनुच्छेद से इसलिए की क्योंकि उनके अनुसार 'यह मानवीय भाषा के सार का एक विशिष्ट चित्र प्रस्तुत करता हैं।' इसके अनुच्छेद २ के अनुसार यह अर्थ के सम्प्रत्यय का दार्शनिक विवरण प्रस्तुत करता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार आगस्टीन के उद्धरण से अर्थ के सम्प्रत्यय के जिन पहलुओं पर प्रकाश पडता है और जो परम्परागत रूप से दर्शनशास्त्र में स्थापित है, इस प्रकार हैं :

(क) प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है।
(ख) शब्द नाम हैं अर्थात् शब्द वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते हैं।
(ग) किसी भी शब्द का अर्थ वह वस्तु है जिसके लिए वह प्रयुक्त होता है।
(च) वाक्य नामों के समुच्चय हैं।
(घ) शब्द (नाम) और अर्थ (वस्तु) के बीच सम्बन्ध निदर्शनात्मक परिभाषा (*ओस्टेन्सिव डेफिनीशन*) के द्वारा निर्धारित होता है।

आगस्टीन का उपर्युक्त विचार यह व्यक्त करता है कि निदर्शनात्मक परिभाषा, भाषा में अर्थ-निर्धारण का आधारभूत सिद्धान्त है। विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* के अनुच्छेदों १-६४ में इस 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' की आलोचना की है जिसके प्रमुख विचार-बिन्दु निम्न प्रकार हैं :

(१) यह सत्य नहीं है कि भाषायी अभिव्यक्ति में प्रत्येक शब्द का कोई- न-कोई अर्थ होता है। उदाहरण के लिए, उपसर्ग, हलन्त, 'यदि', 'और', 'तो' जैसे संयोजक किसी वस्तु को इंगित नहीं करते हैं। 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' भाषा के सीमित अर्थ को ध्यान में रखता है। यह संज्ञाओं के उचित प्रयोग का सिद्धान्त हो सकता है। परन्तु यह क्रिया, विशेषण, सम्बोधन, संयोजक इत्यादि के प्रयोगों पर ध्यान नहीं देता है। विटगेन्स्टाइन के अनुसार, 'नितान्त भिन्न कार्यों वाले केवल विस्मयादि बोधकों के सम्बन्ध में विचार कीजिए :

जल !
परे !
ओ !
बचाओ !
ठीक !
नहीं !

क्या अब भी आप इन शब्दों को 'विषयों के नाम' कहना चाहेंगे ? (*पी. आई.* अनुच्छेद २७)

२) भाषा का अर्थ केवल किसी तथ्य का विवरण देना नहीं होता है। भाषा कई प्रकार से प्रयोग में आती है। भाषा के प्रयोग की इस विविधता को विटगेन्स्टाइन 'भाषा-खेल' कहते हैं। वह 'भाषा-खेलों' की इस अनेकता का वर्णन *पी. आई.* अनुच्छेद २३ में निम्न-प्रकार से करते हैं :

"आदेश देना, और उनका पालन करना-
किसी वस्तु का विवरण देना, या उसकी नाप देना-
किसी वस्तु को उसके विवरण से (ड्राइंग से) बनाना-
किसी घटना का वर्णन करना-
किसी घटना के बारे में अनुमान करना-
किसी प्राकल्पना की रचना और उसकी परीक्षा करना-
किसी प्रयोग के परिणामों को सारणियों तथा रेखाचित्रों में प्रस्तुत करना-
कोई कहानी बनाना; और उसे सुनाना-
अभिनय करना-
अन्त्याक्षरी करना-
पहेलियाँ बुझाना-
व्यावहारिक गणित के सवाल हल करना-
एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना-
माँगना, धन्यवाद देना, बुरा-भला कहना, अभिवादन करना, प्रार्थना करना।"

विटगेन्स्टाइन के अनुसार 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के भाषा-खेलों की व्याख्या करने में असफल ही रहता है।

इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद है कि विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* में चित्र-सिद्धान्त को पूरी तरह से छोड दिया या कि वह इसे किसी न किसी रूप में स्वीकार करते रहे। जहाँ तक चित्र-सिद्धान्त की इस मान्यता की बात है कि 'प्रतिज्ञप्ति और जिसे प्रतिज्ञप्ति चित्रित करती है, के बीच कुछ उभयनिष्ठ होता हैं और इस उभयनिष्ठता के कारण यह दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं'; विटगेन्स्टाइन ने इस उभयनिष्ठता को *पी. आई.* के अनुच्छेद ५१९-५२१ में भी माना है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि चित्र-सिद्धान्त को विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* में उस रूप में स्वीकार नहीं किया जैसा कि उन्होंने इसका वर्णन *ट्रैक्टेटस* में किया था।

ट्रैक्टेटस के 'भाषा का चित्र सिद्धान्त' के स्थान पर विटगेन्स्टाइन ने *पी.आई.* में 'भाषा का प्रयोग सिद्धान्त' को प्रस्तुत किया। *पी. आई.* के अनुसार किसी भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण उस वस्तु के द्वारा नहीं होता जिसके लिए वह अभिव्यक्ति प्रयुक्त होती है। कोई अभिव्यक्ति किसी वस्तु के बारे में होने के कारण अर्थपूर्ण नहीं होती है। बल्कि वह नियम-

आधारित प्रयोग के कारण अर्थपूर्ण होती है। किसी भी अभिव्यक्ति की अर्थपूर्णता इस बात पर निर्भर करती है कि वह पहले से ही चलन या प्रयोग में है या नहीं। किसी अभिव्यक्ति का अर्थ-विशेष उस अभिव्यक्ति के प्रयोग विशेष पर निर्भर होता है। *पी. आई.* के अनुच्छेद ४३ के अनुसार, 'किसी भी शब्द का अर्थ तो भाषा में उसका प्रयोग है।' हम किसी शब्द का अर्थ उस शब्द के प्रयोग के द्वारा सीखते हैं। जिस प्रकार हम शतरंज को खेलकर सीखते हैं न कि इसके मोहरों के नामों को जानकर, उसी प्रकार भाषा में शब्दों का प्रयोग हमें उनके अर्थ को सिखाता है। किसी भी अभिव्यक्ति के अर्थ की व्याख्या इसके प्रयोग की व्याख्या के द्वारा होती है।

किसी अभिव्यक्ति के प्रयोग में होने और इसके अर्थ के बारे में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसका प्रयोग ही उसके अर्थ को निर्धारित करता है न कि उसका अर्थ उसके प्रयोग को। किसी अभिव्यक्ति के अर्थपूर्ण होने के लिए यह तो आवश्यक है कि वह प्रयोग में आती हो परन्तु उसका प्रयोग में आना इस बात की गारंटी नहीं देता है कि उसका कोई न कोई अर्थ भी हो। इसीलिए ऐसा संभव है कि कोई अभिव्यक्ति चलन में तो हो परन्तु उसका कोई अर्थ ही न हो। उदाहरण के लिए, हिन्दी सिनेमागीतों में अनेक शब्दों का प्रयोग बिना किसी अर्थ के होता है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* के अनुच्छेद २८९ में कहा है 'शब्द को बिना किसी औचित्य के प्रयोग करने का यह अर्थ नहीं होता कि हमें उसके प्रयोग का अधिकार नहीं है।' इससे यह साबित होता है कि किसी भाषायी अभिव्यक्ति के प्रयोग का क्षेत्रार्थ इसके अर्थ के क्षेत्रार्थ से अधिक व्यापक होता है।

किसी भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थनिर्धारण में उसके 'भाषा-खेल' अर्थात् नियम आधारित भाषायी प्रयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। किसी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण 'भाषा-खेल' के सन्दर्भ में ही होता है। 'भाषा-खेल' से परे प्रयोग के द्वारा कोई अभिव्यक्ति अर्थविहीन हो जाती है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन भाषा को 'नियम आधारित क्रिया' मानते हैं। इस सन्दर्भ में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :

(१) जिस प्रकार किसी भी खेल के कुछ नियम होते हैं उसी प्रकार भाषा व्याकरण के नियमों पर आधारित होती है।

(२) किसी भी शब्द का अर्थ, 'नियम आधारित प्रयोग' के द्वारा निर्धारित होता है जिसे विटगेन्स्टाइन 'भाषा-खेल' कहते हैं।

(३) भाषायी अभिव्यक्ति, भाषा रूपी खेल में नियमबद्ध तरीके से किसी न किसी 'जीवन के आकार' अर्थात् संस्कृति में प्रयोग में आती है।

इस प्रकार, विटगेन्स्टाइन के अनुसार 'भाषा-खेल', 'जीवन के आकार' पर आधारित होता है। 'जीवन के आकार' का अर्थ है : भाषायी समुदाय की सभी क्रियाएँ व आदतें अर्थात् संस्कृति।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार कोई भी भाषायी अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट 'भाषा-खेल' एवं विशिष्ट अभाषायी क्रियाओं के सन्दर्भ में ही अर्थपूर्वक प्रयुक्त होती है। इसीलिए उस अभिव्यक्ति के अर्थ निर्धारण के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह किसी सन्दर्भ अर्थात् 'जीवन के आकार' में प्रयुक्त हुयी है। वह *पी. आई.* के अनुच्छेद १९ में कहते हैं, ''किसी भाषा की कल्पना करने का अर्थ तो एक जीवन-शैली की कल्पना करना है।'' 'जीवन का आकार' वह संस्कृति है जिसमें वह विशिष्ट 'भाषा-खेल' घटित होता है। इस प्रकार 'जीवन का आकार' 'भाषा-खेल' का आधार है। वस्तुतः 'जीवन का आकार' भाषा का आधार है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक है कि जिस प्रकार 'भाषा-खेल' विविध प्रकार के होते हैं उसी प्रकार 'जीवन के आकारों' में भी विविधता पाई जाती है।

संक्षेप में, किसी भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण उसके प्रयोग, 'भाषा-खेल', तथा उसके 'जीवन के आधार' की प्रकृति के द्वारा होता है।

(II)

के. टी. फैन के अनुसार, यदि परम्परागत पाश्चात्य दर्शन को विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है तो विटगेन्स्टाइन के दर्शन को 'इन प्रश्नों पर ही क्रमबद्ध रूप से प्रश्न' के रूप में लिया जा सकता है।[८] विटगेन्स्टाइन के दर्शन को पारम्परिक पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के 'प्रश्नों पर ही प्रश्न' के रूप में इसलिए लिया जा सकता है क्योंकि विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ हमारे गलत ढंग से सोचने के कारण ही उत्पन्न होती हैं। दर्शनशास्त्र का प्रमुख कार्य इस प्रकार की सोच को बदलना है। वह कहते हैं, ''दर्शनशास्त्र हमारी सोच की ऐसी गाँठों को खोलती है जिन्हें हमने मूर्खतापूर्वक बना रखा है; परन्तु ऐसा करने के लिए

हमें गति करना है जो कि उतनी ही उलझी हुयी है जितनी कि गाँठे। यदपि दर्शनशास्त्र का परिणाम सामान्य है; इसकी पद्धति, यदि इसे उस *परिणाम* को प्राप्त करना है, (सामान्य) नहीं हो सकती है। दर्शनशास्त्र की उलझन इसकी विषय-वस्तु में नहीं बल्कि हमारी गाँठयुक्त बुद्धि में होती है।[१]

हमारी बुद्धि के भ्रमित होने का कारण भाषा की अस्पष्टता है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन ने यह माना है कि "दर्शनशास्त्र, भाषा द्वारा हमारी बुद्धि के वशीकरण के विरुद्ध संघर्ष है।" (*पी. आई.* अनुच्छेद १०९) इस वशीकरण के कारण या तो भाषा का गलत प्रयोग होता है या सन्दर्भ से परे भाषायी अभिव्यक्ति के अर्थ का निर्धारण करना मुश्किल हो जाता है। दर्शन में विविध प्रकार की तत्त्वमीमांसीय समस्याओं का रूप यही है। इन समस्याओं की प्रकृति के बारे में दार्शनिकों में मतैक्य का अभाव इसलिए रहा है क्योंकि तत्त्वमीमांसीय अभिव्यक्तियों को उनके सन्दर्भ से बाहर जाकर समझने पर ऐसा होना स्वाभाविक है।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक भ्रांतियाँ हमारी आदतों में कुछ इस तरह रच-बस गयी हैं कि हमें इनका पता ही नहीं चल पाता। वह *पी. आई.* के अनुच्छेद १२९ में कहते हैं, "हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषयों के पहलू अपनी सरलता एवं अंतरंगता के कारण हमसे छुपे होते हैं। (हम किसी वस्तु पर ध्यान देने में असमर्थ होते हैं — क्योंकि वह सदैव हमारी आँखों के सामने रहती है।) मनुष्य को अपनी जाँच का वास्तविक आधार तो सूझता ही नहीं जब तक कि इस तथ्य ने उसे आकर्षित न किया हो।— और इसका अर्थ है : हमें एक बार समझ आ जाने पर जो विषय सर्वाधिक आकर्षक एवं सर्वाधिक प्रभावकारी है उससे आकृष्ट होने में साधारणतः हम असफल रहते हैं।" नई और विचित्र वस्तुएँ हमारी निगाह में शीघ्र आ ज़ाती हैं। परन्तु रोजमर्रा की वस्तुएँ, ऐसी वस्तुएँ जिनके हम आदी हो चुके होते हैं, निगाह में आकर भी हमसे छिपी रहती हैं। इसी प्रकार, जो भ्रांतियाँ दार्शनिक समस्याओं को उत्पन्न करती हैं वे हमारे विचारों से अदृश्य किन्तु अन्त रूप से जुडी होती हैं। ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है कि इन भ्रांतियों को हम इसलिए नहीं जान पाते कि वे हमसे छिपी होती हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि हमें इनकी आदत पड चुकी होती है।

विटगेन्स्टाइन ने *पी. आई.* के प्राक्कथन में यह स्वीकार किया है कि वह *पी. आई.* को एक ऐसी पुस्तक के रूप में लिखता चाहते थे जिसके एक

ओर *ट्रैक्टेटस* और दूसरी ओर *पी. आई.* के विचार हो। इस सन्दर्भ में *ट्रैक्टेटस* और *पी. आई.* के 'दर्शनशास्त्र के सम्प्रत्यय' के तुलनात्मक अध्ययन से विटगेन्स्टाइन के *पी. आई.* के 'दर्शनशास्त्र के सम्प्रत्यय' के आसानी से समझा जा सकता है।

पी. आई. के दर्शन का सम्प्रत्यय *ट्रैक्टेटस* के दर्शन के सम्प्रत्यय से भिन्न है। *ट्रैक्टेटस* के प्राक्कथन के अनुसार, "यह पुस्तक दर्शनशास्त्र की समस्याओं से सम्बन्धित है। यह दर्शाती है कि इन समस्याओं की उत्पत्ति भाषा का तर्कशास्त्र गलत ढंग से समझे जाने के कारण होती है।" यही विचार वह *ट्रैक्टेटस* (४.००३) में व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ उसी प्रकार की होती हैं होती हैं जैसे 'क्या शुभ सुन्दर से अधिक तादात्म्य (आइडेन्टिकल) है?' वह *ट्रैक्टेटस* (४.००३१) में भी दर्शनशास्त्र को 'भाषा की मीमांसा' कहते हैं। *ट्रैक्टेटस* (६.५३) के अनुसार दर्शनशास्त्र की वही विधि उपयुक्त होगी जो 'कथनीय' अर्थात् 'प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहती। इस प्रकार, *ट्रैक्टेटस* में दर्शनशास्त्र का उद्देश्य, तथ्य की सही व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यहाँ प्रतिज्ञप्ति को तथ्य का चित्र माना गया है। इसमें प्रतिज्ञप्ति के उपयुक्त आकार का विचार प्रतिज्ञप्ति के द्वारा किसी तथ्य को चित्रित करने के विचार से जुडा हुआ है। इसके अनुसार, तथ्य की सही व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि कथन या प्रतिज्ञप्ति के तार्किक आकार की तथ्य के तार्किक आकार से संवादिता हो। दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति इस संवादिता के न होने के कारण होती है। दर्शनशास्त्र का उद्देश्य प्रतिज्ञप्ति के 'आभासित तार्किक आकार', जो कि असंवादिता और अन्ततः दार्शनिक समस्याओं का कारण होती है, की कृतिमता को स्पष्ट करना और 'उपयुक्त तार्किक आकार' की स्थापना करना है।

पी. आई. में विटगेन्स्टाइन ने 'तार्किक आकार' के विचार को छोड दिया। यहाँ पर जब चित्रित करने के लिए किसी तथ्य का कोई 'तार्किक आकार नहीं' है, तब प्रतिज्ञप्ति के आकार की उपयुक्तता को स्थापित करने के लिए किसी मापदण्ड की भी आवश्यकता नहीं। दूसरे शब्दों में 'उपयुक्त आकार' के विचार की कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार सभी कथन, 'जिस रूप में वे हैं उसी रूप में', किसी न किसी व्यवस्था के अन्तर्गत हैं। *पी. आई.* के अनुच्छेद ९८ के अनुसार "एक ओर

तो यह स्पष्ट है कि हमारी भाषा का प्रत्येक वाक्य '-जैसे भी है ठीक है।' याने हम किसी आदर्श के पीछे नहीं पडे हैं, मानों हमारे साधारण अस्पष्ट वाक्यों को अभी पूर्णतः असाधारण अर्थ नहीं मिले हों और किसी परिपूर्ण भाषा को हमारे द्वारा रचे जाने की प्रतीक्षा हो। दूसरी ओर, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ अर्थ होता है वहाँ परिपूर्ण व्यवस्था होती है। अतः अत्यन्त अस्पष्ट कथनों में भी परिपूर्ण व्यवस्था होती है।'' इसका तात्पर्य यह है कि *ट्रैक्टेटस* के विपरीत *पी. आई.* में किसी आदर्श भाषा के आविष्कार की कोई आवश्यकता नहीं। दार्शनिकों का कार्य प्रतिज्ञप्ति को सही करना नहीं बल्कि उसे समझना है। किसी भाषा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि उसकी प्रतिज्ञप्तियाँ क्या चित्रित करती हैं, बल्कि यह जानना है कि इनका कार्य क्या है एवं इनके उद्देश्य क्या हैं।

ट्रैक्टेटस के अनुसार प्रतिज्ञप्ति केवल एक कार्य करती है - तथ्य का चित्रण। परन्तु *पी. आई.* के अनुसार प्रत्येक कथन अनेकोनेक प्रकार से प्रयोग में आता है।

ट्रैक्टेटस के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति का आकार या तो उपयुक्त होता है या फिर अनुपयुक्त। परन्तु *पी. आई.* के अनुसार किसी भी प्रतिज्ञप्ति का आकार न तो उपयुक्त होता है और न ही अनुपयुक्त। किसी भी प्रतिज्ञप्ति के बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा समझी जा रही है या कि नहीं। इसके अनुसार दार्शनिक समस्याएँ भाषा को गलत ढंग से समझने के कारण उत्पन्न होती हैं। दर्शनशास्त्र की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि भाषायी अभिव्यक्ति को गलत ढंग से समझे जाने की संभावना न हो तो दर्शनशास्त्र की कोई सार्थकता ही न होगी। दर्शनशास्त्र का कार्य हमें हमारी भ्रांतियों से अवगत कराना है। इसीलिए दार्शनिक खोज वैज्ञानिक खोज के विपरीत किसी नयी वस्तु का आविष्कार नहीं है। ''समस्याओं का समाधान नई सूचना देने से नहीं होता, अपितु समाधान सदैव पूर्व ज्ञात समस्याओं को व्यवस्थित करने से होता है।''(*पी.आई.* अनुच्छेद १०९)

ट्रैक्टेटस का सम्बन्ध भाषा के 'तार्किक आकार' से है। इसका सम्बन्ध ऐसी आदर्श भाषा की प्राप्ति है जिसमें 'तार्किक आकार' की विसंगति हो ही नहीं। *फिलॉसोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* का सम्बन्ध आदर्श भाषा की प्राप्ति नहीं। यह भाषा में हस्तक्षेप के विरुद्ध है। इसका सूत्र है :'सब कुछ जस-का-तस

रख देना'। *ट्रैक्टेटस* के अनुसार भ्रांतियों का निराकरण या प्रतिज्ञप्तियों की स्पष्टता विश्लेषण के द्वारा उनके तार्किक आकार को दर्शाने से प्राप्त होती है। *पी. आई.* के अनुसार इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि प्रतिज्ञप्ति विशेष का उसके 'भाषा-खेल' में किस प्रकार प्रयोग हुआ है।

ट्रैक्टेटस और *पी. आई.* के दर्शनशास्त्र के सम्प्रत्यय में अन्तर के साथ-साथ समानताएँ भी हैं। विटगेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* और *पी. आई.* दोनों में दर्शनशास्त्र को विचारों का संग्रह न मानकर एक क्रिया मानते हैं। यह एक ऐसी क्रिया है जिसका उद्देश्य सामान्य भाषा की त्रुटियों के कारण उत्पन्न हमारी भ्रांतियों से हमें बचाना और प्रतिज्ञप्तियों को स्पष्टता प्रदान करना है। इसके अनुसार दर्शनशास्त्र की अपनी कोई विषय-वस्तु नहीं होती। इसका कार्य विचारों का स्पष्टीकरण है। (*ट्रैक्टेटस* ४.११२)

दोनों यह स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ भाषायी भ्रांतियों के कारण उत्पन्न होती हैं। इसीलिए दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि इन भ्रांतियों के निराकरण के बाद दार्शनिक समस्याओं का खोखलापन ज्ञात हो जाता है।

भ्रांतियों के निराकरण से दार्शनिक समस्याओं का खोखपालन इसलिए ज्ञात हो जाता है क्योंकि इससे भाषा को पूर्ण स्पष्टता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार, भाषायी स्पष्टता से दार्शनिक समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि दार्शनिक समस्याओं का हल (सोलुशन) प्राप्त कर लिया गया है। वस्तुतः दार्शनिक समस्याओं का हल नहीं प्राप्त होता है बल्कि वे विलीन (डिजाल्व) हो जाती हैं। ऐसा इसलिए है : क्योंकि दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति किसी भाषायी अभिव्यक्ति के तार्किक व्याकरण को त्रुटिपूर्ण ढंग से समझने के कारण होती है, इसीलिए जब इन त्रुटियों का निदान कर दिया जाता है तब दार्शनिक समस्याओं का स्रोत भी गायब हो जाता है। भाषायी त्रुटियों का निदान, कथन के 'भाषा-खेल' की समझ के द्वारा किया जा सकता है। 'भाषा-खेल' की समझ से ही दार्शनिक समस्याएँ विलीन हो सकती हैं। दर्शनशास्त्र का कार्य विवरण देना ही होता है। यह 'भाषा-खेल' और भाषायी त्रुटियों का केवल विवरण प्रस्तुत करता है न कि उनकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसीलिए विटगेन्स्टाइन कहते हैं, ''दर्शनशास्त्र तो हमारे सामने सब कुछ रखता है, वह न तो कोई व्याख्या प्रस्तुत करता है और न ही कोई निर्गमन करता है।— क्योंकि सब कुछ हमारी आँखों के सामने खुला होता है, व्याख्या के लिए

कुछ बचता ही नहीं.....।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद १२६) इसी कारण, ''यदि कोई दर्शन में स्थापना प्रस्तुत करे तो उस पर चर्चा करना कभी भी संभव नहीं होगा, क्योंकि सभी उससे सहमत होंगे।'' (*पी. आई.* अनुच्छद १२८)

दार्शनिक समस्याएँ इस बात का लक्षण है कि भाषायी अभिव्यक्ति त्रुटिपूर्ण है और दार्शनिकों का कार्य इन त्रुटियों की जाँच करना है। इसीलिए ''दार्शनिक द्वारा किसी प्रश्न का विवेचन तो किसी रोग के उपचार के समान ही होता है।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद २५५) दर्शन का कार्य भाषा को सुधारना नहीं। भाषा की त्रुटियों को स्पष्ट कर देने से ही दार्शनिक समस्याएँ विलीन हो जाती हैं।

पी. आई. में इस बात की चर्चा मिलती है कि भाषा कैसे हमारी बुद्धि का वशीकरण करती है। *ट्रैक्टेटस* ४.००३१ 'आभासित तार्किक आकार' और 'यथार्थ तार्किक आकार' में अन्तर करता है। *पी. आई.* के अनुच्छेद ६६४ में 'सतही-व्याकरण' और 'गहन-व्याकरण' की चर्चा है। इसके अनुच्छेद १२२ के अनुसार हम प्रायः शब्दों के सतही प्रयोग से बच नहीं पाते क्योंकि हमारा शब्दों के स्पष्ट प्रयोग पर नियन्त्रण नहीं होता। जब हमारी भाषा के शब्द प्रथम दृष्ट्या समानार्थक व्याकरण पर आधारित होते हैं तब हम उनको समानार्थी समझते हैं। उदाहरण के लिए 'हरा हरा है', इस वाक्य में प्रथम 'हरा' उद्देश्य और द्वितीय 'हरा' विधेय या विशेषण है। ये दोनों अलग-अलग हैं किन्तु समान दिखते हैं। दर्शनशास्त्र में भ्रांतियाँ प्रायः इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। दार्शनिक समस्याओं की प्रकृति दिग्भ्रमित होने जैसी स्थिति जैसी होती है। ''दार्शनिक समस्या का रूप यह है : मुझे नहीं मालूम कि मेरा मार्ग कौन सा है।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद १२३)

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र हमें उचित मार्ग बताने का कार्य करता है? वास्तव में यह ऐसा नहीं करता है। यह हमारी क्रियाओं के लिए आवश्यक ज्ञान का आधार नहीं होता है बल्कि यह दर्शाता है कि हमारी क्रियायें एक विशिष्ट 'जीवन के आकार' में होती हैं। भाषा के सन्दर्भ में भी दर्शनशास्त्र यही कार्य करता है। इसका उद्देश्य भाषा को सुधारना नहीं बल्कि सब कुछ 'जैसा है वैसा ही' प्रस्तुत कर देना है। ''दर्शनशास्त्र किसी भी स्थिति में भाषा के वास्तविक प्रयोग में बाधक नहीं हो सकता है; यह अन्ततः केवल उसका विवरण दे सकता है। क्योंकि यह उसको कोई आधार नहीं दे सकता। यह प्रत्येक विषय को जस-का-तस छोड देता है।'' (*पी. आई.* अनुच्छेद १२४)

विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि दर्शनशास्त्र में उनके उद्देश्य एवं दार्शनिक समस्याओं की प्रकृति की तुलना बोतल में बन्द मक्खी को बाहर रास्ता दिखाने से की जा सकती है। वह *पी. आई.* के अनुच्छेद ३०९ में कहते हैं, "दर्शनशास्त्र में आपका उद्देश्य क्या है ?- बोतल में फँसी मक्खी को उससे बाहर निकलने का रास्ता बताना।" यहाँ मक्खी से तात्पर्य दार्शनिक और बोतल से तात्पर्य दार्शनिक समस्याओं से है। बोतल में बन्द मक्खी को बाहर रास्ता दिखाने का यह अर्थ नहीं है कि वह अनेक दिशाओं में उडने के लिए स्वतन्त्र है, बल्कि इसका अर्थ उसे केवल ऐसा रास्ता दिखाने से है जो उसे बोतल के बाहर कर देगा। इसी प्रकार, दर्शनशास्त्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी शब्द के अनेकोनेक प्रयोगों की व्याख्या प्रस्तुत करे। इसका कार्य किसी अभिव्यक्ति विशेष के तार्किक व्याकरण की भ्रांतियों को स्पष्ट कर देना मात्र है।

किसी दार्शनिक समस्या की उपस्थिति का लक्षण यह है कि भाषा के तर्कशास्त्र को त्रुटिपूर्वक समझा गया है। भाषा को त्रुटिपूर्ण ढंग से समझने के कारण उत्पन्न हुयी समस्या का निदान, समस्या के स्वरूप के विवेचन के द्वारा हो जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी अभिव्यक्ति के सन्दर्भ-विहीन 'अर्थ-निर्धारण के कारण उत्पन्न हुयी दार्शनिक समस्या का अन्त, सन्दर्भ-विहीनता के विवेचन से ही हो जाता है क्योंकि भाषायी त्रुटियों की अनुभूति से दार्शनिक को उस अभिव्यक्ति के सन्दर्भगत अर्थ की उपयुक्तता ज्ञात हो जाती है।

काली चरण पाण्डेय

विभागाध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग,
गवर्नमेंट कालेज,
धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश-१७६२१५
email: kcpandeyp@yahoo.com

टिप्पणियाँ

१. Ludwig Wittgenstein, **Philosophical Investigations**, tr. G. E. M. Anscombe Basil Blackwell, Oxford, 1953.

२. अशोक वोहरा, अनु. **फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस**, भारतीय

दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, १९९६, पृ. VI, इस लेख में *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* के जिन अनुच्छेदों को मैंने उदधृत किया है उनमें से कुछ को छोडकर जो *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* के मेरे द्वारा किए गये अनुवाद हैं, बाकी सभी को इसी पुस्तक से लिया गया है।

३. Ray Monk, *Ludwig Wittgenstein* :**The Duty of Genius,** Vintage, London, 1991, p. 558.
४. K. T. Fann, **Ludwig Wittgenstein : The Man and His Philosophy** (ed.), Humanities Press, New Jersey and Harvester Press, Sussex, 1967, p. 11
५. इसके उपरान्त मैंने उद्धरणों को छोडकर *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* की जगह इसके संक्षिप्तीकरण पी. आई. का प्रयोग किया है।
६. Hans-Joann Glock, **A Wittgenstein Dictionary,** Blackwell, 1996, p. 286.
७. Stanley Cavell, 'Notes and afterthoughts on the opening of Wittgenstein's Investigations', **The Cambridge Campanion** *to Wittgenstein*, edited by Hans Sluga and David G. Stern, Cambridge University Press, 1996, p. 264.
८. K. T. Fann, **Op Cit.**, p. 11.
९. Ludwig Wittgenstein quoted in Anthony Kenny, **Wittgenstein**, Allen Lane, The Reference Press, London, 1973, p. 18.

मानवचेतना का स्वरूप

मानव इस विश्व की सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत होते हुए भी अपने विचारों द्वारा एक क्षण सृष्टि से अलग खडा होकर यह जानने की चेष्टा कर सकता है कि यह सृष्टि आखिर किसलिए है। किन्तु न अचेतन जगत् (भौतिक वस्तु, जड) और न ही मानवेतर अन्य प्राणी इस तरह सृष्टि का अतिक्रमण कर उसे जानने की चेष्टा कर सकते हैं। भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य दर्शन दोनों ही मानव को एक अतिक्रमण चेतना युक्त ज्ञानात्मक प्राणी मानते हैं।

वस्तुतः यह सम्पूर्ण जगत् मनुष्य के बाहर नहीं बल्कि उसके भीतर ही है। मानव अपने आन्तरिक तथा विषयीगत अस्तित्व में ही सर्वप्रथम चेतना के प्रति अपरोक्ष और अत्यंत तात्कालिक रूप से सजग होता है। मूल प्रश्न कि, 'चेतना क्या है ?' और 'मैं चेतन क्यों हूँ ?' इन प्रश्नों का उत्तर वह 'स्व' में खोजता है, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने कहा था, "मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ।" इसलिए मानवचेतना का अभिप्राय "स्व" की चेतना से है, किन्तु "स्व" चेतना एक सामान्य विषय-विषयी चेतना का रूप न होकर एक विलक्षण एवं गूढ चेतना है। इसलिए ऋग्वेद में कहा गया है - "मैं वस्तुतः क्या हूँ मैं नहीं जानता (ऋग्वेद १६.४.३७)। यह मानव द्वारा स्वयं अपने "स्व" पर अंतःप्रेक्षण का सम्भवतः प्रथम दृष्टान्त है। यही प्रश्न बार-बार उपनिषदों में उठा है - मैं कौन हूँ (कोऽहम्)? आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरूप कैसा है ? आदि-आदि। सम्भवतः मानव ने जब इस संसार में आँखे खोली होगी तो इस रहस्यमय संसार को देखकर उसके मन में उठने वाले प्रश्नों में से एक प्रश्न यही रहा होगा कि, 'मैं कहाँ से आया ? इस रहस्यमय संसार का रचियता कौन होगा?'

वस्तुतः मानवचेतना की अंतःप्रवृत्ति में जाने क्या एक प्रेरणा है, जिसके कारण जगत् के बाहरी परिचय से तृप्त न होकर उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। ज्ञानप्राप्ति के साधनों पंचज्ञानेन्द्रिय, (चक्षु, श्रवण, रसना, घ्राण, स्पर्श) मन तथा बुद्धि द्वारा चेतना अपने अनुभव से गोचर जगत् में सत्य तक पहुँचने का प्रयास करती है। धीरे-धीरे जब चेतना का क्रमविकास पूर्ण होता है, तब चेतना सम्यक् रूप से जागृत् और प्रबुद्ध हो

जाती है। मानव की यही चेतन अवस्था ज्ञान, कर्म और भोग को इन्द्रिय और मन की आधीनता से मुक्त करने के लिए प्रयास करती है। अपने स्वरूपभूत चित्तज्योति के प्रकाश से इस जगत् के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् परिचय प्राप्त करने में अपने को संलग्न कर देती है। यही मूलतः चेतना का स्वभाव है।

माण्डूक्योपनिषद् में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं यथा— जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति और आन्तरिक तुरीय– अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। (माण्डूक्य उप. ३, ४, ५) चेतना की ये चार अवस्थाएँ मानव जीवन के व्यक्तित्व विकास में अपना अलग-अलग महत्त्व रखती हैं।

चेतना की प्रथम अवस्था जागृति है जिसमें व्यक्ति की चेतना बाह्य पदार्थों से परिपूर्ण सामान्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करती है। इस अवस्था में मनुष्य स्थूल पदार्थों का सुखोपभोग करता है। यह देहाभिमानी चेतना है। इस अवस्था में जीवात्मा सात अंगों से युक्त होकर स्थूल विषयों का उपभोग उन्नीस मुखों (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) से करता है। उसका विज्ञान सम्पूर्ण विश्व में फैला रहता है। इसलिए उसे विश्वरूपा या वैश्वानर कहा गया है। (माण्डूक्य उप. ३)

चेतना की दूसरी अवस्था स्वप्न की है जिसमें जीवात्मा सूक्ष्म वस्तुओं का आनंद लेती है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४.३.९) में वह (पुरुष) इस (जागृत्) लोक की कुछ मात्रा लेकर अपने स्थूल शरीर से अलग होकर तथा स्वयं अपने वासनामय सूक्ष्म देह की रचना कर अपने प्रकाश से अर्थात् अपने ज्योतिस्वरूप से स्वयं को प्रकाशित करता है। यह पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप होता है। (माण्डूक्य उप. ४) तेजस् स्वरूप होकर अंतःप्राज्ञ होता है ।

वस्तुतः स्वप्न अवस्था जागृत् और सुषप्ति के बीच की अवस्था है। इसका हेतु बहिर्मुखी इन्द्रियों का पूरी तरह शान्त हो जाना है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों के मनस् से एक हो जाने की बात कही गई है। (प्रशन उप. ४.२.५) अतः जागृत और स्वप्न की अवस्थाओं के बीच आवश्यक अन्तर यह है कि पहली में मनस् बाहर से प्राप्त संस्कारों से नये विचारों का निर्माण करता है, जबकि दूसरी में वह स्वयं ही बिना किसी सहायता के रूपों की कल्पना एवं सर्जना करता है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.१०) यद्यपि स्वप्नों का निर्माण स्मरण किए हुए संस्कारों से होता है, तथापि उसका अनुभव स्मृति से बिलकुल भिन्न होता है। स्वप्न जब तक चलता है, तब तक उतना ही वास्तविक लगता है जितना कि प्रत्यक्ष अनुभव। इसलिए स्वप्न को संवेदन से रहित प्रत्यक्ष कहा गया है।

इस अवस्था में चेतना का एक विशिष्ट अतिक्रामी रूप प्रकट होता है। वह बाह्यप्रत्यक्ष में प्रकट इस पदार्थ जगत् को जो मृत्यु स्वरूप है, लाँघ जाता है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.७)

चेतना की तीसरी अवस्था सुषुप्ति— स्वप्न रहित प्रगाढ निद्रा की है। इसमें इन्द्रियाँ और मनस् शान्त रहते हैं। फलतः इसमें सामान्य लौकिक चेतना का अभाव हो जाता है। इस अवस्था में जीवात्मा का ज्ञाता और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है और तब जीवात्मा का ब्रह्म (आत्म) से कुछ समय के लिए एक हो जाना कहा जाता है। लेकिन चूँकि सुषुप्ति का मोक्ष से अभेद नहीं किया गया है, इसलिए इस कथन को केवल निषेधात्मक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए इस अर्थ में कि इस अवस्था में व्यक्तिगत अस्तित्व की चेतना नहीं रहती हालाँकि व्यक्तिगत अस्तित्व पहले की तरह बना रहता है। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार — सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभूक्चेतोमुखः प्राज्ञः। अर्थात् सुषुप्ति स्थान एकभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ आनन्दमय, आनंद का भोक्ता और चेतना रूप मुखवाला प्राज्ञ है। (माण्डूक्य उप. ५) इस अवस्था का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि इस अवस्था में यह पुरुष पूर्णतः प्रज्ञावान् होकर आत्मरूप होता हुआ न तो कुछ भी बाह्य को जानता है और न ही अभ्यंतर को। वह पूर्णतः आत्मसात् होकर अकाम होता हुआ सभी इच्छाओं और शोक से युक्त हो जाता है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.२) आगे इसी उपनिषद् के अनुसार ''जैसे पारदर्शी जल में (वैसे ही सुषुप्ति में) एक अद्वैत द्रष्टा है यही ब्रह्मलोक (ब्रह्म की परम स्थिति) है। यह पुरुष की परमगति है, यह इसकी परम संपदा है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परमानन्द है। (बृहदारण्यक उप. ४.३.३२)

प्रकटतः यहाँ साधारण अर्थ में चेतना की सुषुप्त अवस्था का वर्णन नहीं है, वरन् यहाँ सुषुप्तावस्था के प्रतीक से चेतना की उस चरम अतिक्राम्यता का संकेत है जहाँ जीवात्मा और ब्रह्म का अभेद होता है लेकिन साधारण रूप में भी चेतना के नितान्त अभाव की अवस्था यह नहीं है क्योंकि इसमें एक विशेष प्रकार का बोध बना रहता है। जैसा कि कहा गया है, यह शुद्ध आनन्द की अवस्था है। सुषुप्ति की पूर्ण शान्ति या आनन्दानुभूति को हम जागने के बाद स्मरण करते हैं, क्योंकि तब हमें न केवल यह लगता है कि हम सोते रहे वरन् यह भी कि हम उस अवस्था में शान्तचित्त और सुखी रहे।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार इस अवस्था में विशुद्ध आत्मस्वरूप

प्राप्त आनंद ही किन्हीं अंशों में जागृत् और स्वप्न अवस्थाओं में विषयोपेक्षी आनंद का आधार होता है। (बृह. ४.३.३२) इस तरह चेतना की इस विशिष्ट अवस्था में उसकी अतिक्राम्यता का (अन्य) विशिष्ट रूप प्रकट होता है कि वह समस्त जीवों का जगत् का योनि स्वरूप प्रभव स्थान है, ईश्वर और सर्वज्ञ है। (माण्डूक्य उप. मंत्र ६)

द्रष्टव्य है कि जागृत अवस्था में वस्तुएँ वस्तुतः प्रस्तुत विषयरूपेण केवल उपस्थित होती हैं और उनके 'आदि' 'अंत' प्रकट नहीं होते। (गीता २.२८) तथा जबकि स्वप्नावस्था में भी वे केवल जागृतावस्था के अनुसरण के आधार से कल्पित होने से जागृत् अवस्था में लौटने पर लुप्त हो जाने के कारण विषय रूप वस्तुओं के चेतनाघृतं 'आदि' और 'अंत' का संकेत मात्र देते हैं, वहाँ दूसरी ओर सुषुप्तावस्था में आत्मघृतं आनंद के प्रकाश में उनके विश्वरूपेण प्रस्तुति का 'आदि' प्रथम बार उभर कर सामने आता है, यद्यपि यहाँ उनके 'अन्त' (लय) का केवल संकेत ही मिलता है, क्योंकि सुषुप्तावस्था से मनुष्य पुनः जागृत् व स्वप्नावस्था में लौटकर वस्तुओं को यथावत् पाता है। उसके 'अन्त' या लय का पूर्ण प्रकाश चेतना ही चतुर्थ अवस्था में होता है।

चेतना की चौथी अवस्था तुरीयावस्था है। यह अवस्था साधारण मनुष्य के अनुभव की पहुँच के अन्दर नहीं है । इसलिए इसे आनुभविक गवेषणा की नियत सीमाओं से बाहर माना जा सकता है। यह तर्कमूलक विचार को रोक कर स्वेच्छा से उत्पन्न की जाती है और एक को छोडकर अन्य सभी बातों में सुषुप्ति से मिलती-जुलती है। सुषुप्ति की तरह इसमें भी सामान्य चेतना का लोप हो जाता है, कामनाओं का अभाव हो जाता है और आनंद की अनुभूति होती है। किन्तु सुषुप्ति के विपरीत तुरीयावस्था के स्थिर हुए पुरुष का जागृतावस्था या स्वप्नावस्था के विषय रूपों में लौट जाने की वृत्ति स्वाभाविक या सहज न होकर आत्मानुगत और अनुशासित होती है।

इस अवस्था में चेतना के स्वरूप का वर्णन करते हुए उपनिषद् का कथन है कि ''वह न तो बहिर्प्राज्ञ है, न अंतःप्राज्ञ और न ही उभयतः प्राज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न ही अप्रज्ञ। इसके विपरीत वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अकथ्य, एकात्म प्रत्ययसार (जागृत आदि अवस्थाओं में एकात्मरूपेण सार तत्त्व) प्रपंच उपराम वैकल्पिक अवस्थां भेदों से रहित, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। वही आत्म है, वही जानने योग्य है। (माण्डूक्य उप. ७)

छान्दोग्योपनिषद् में सुषुप्तावस्था से परे चेतना की इस अवस्था को उत्तम पुरुष की अवस्था कहा गया है। इसमें विषयाभाव के साथ-साथ आत्मभाव की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। (८.१२.३)

उपनिषदों में उल्लेखित चेतना की इन चार अवस्थाओं को प्रकटतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— लौकिक और लोकोत्तर। प्रथम तीन अवस्थाएँ—जागृत्, स्वप्न और सुषुप्ति लौकिक हैं क्योंकि वे सहजतः और अनायास प्राप्त हैं, जबकि तुरीयावस्था लोकोत्तर है, क्योंकि उसकी उपलब्धि संन्यास या ध्यानयोग साधन द्वारा ही संभव है, जिसका स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वेतर उपनिषद् में हुआ है। चेतना की लौकिक अवस्थाओं के बीच एक विशेष चक्रक संबंध है, जैसे वैश्व दृष्टि से ब्रह्मचक्र भी कहा गया है। (श्वेता. उप. १.६,६.१) यह बंधन स्वरूप है अर्थात् वस्तुतः जन्म-मरण चक्र है। ध्यानयोग द्वारा इस चक्र के रहस्य को समझकर उसके अधिष्ठाता स्वरूप ब्रह्म को जान लेना ही जीव को चेतना की तुरीय अवस्था में पहुँचाता है।

डा. मनोहर दाते

तकनीकी अधिकारी,
दर्शनशास्त्र-अध्ययनशाला,
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर (छत्तीगढ) ४९२०१०

शंकर और रामानुज का मायावाद : एक तुलनात्मक अनुशीलन

शंकर वेदान्त

विख्यात इतिहासकार मैथ्यू आर्नल्ड ने अद्वैत वेदान्त को भारत का प्रतिनिधि दर्शन घोषित किया है। उनके अनुसार अद्वैत वेदान्त के बाद का समस्त दर्शन उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पनपा है। यहाँ तक कि आधुनिक भारत में नव्य वेदान्त की जो परम्परा दिखाई देती है उस पर आचार्य शंकर का ही प्रभाव है। निश्चय ही विश्वदर्शन के मानचित्र पर अद्वैत वेदान्त का जो चित्र उभरा है उसके कारण अन्य भारतीय दर्शनों की छाव पर छाए धुंधलके को दूर करने के लिए आज भी कठोर अध्यवसाय की आवश्यकता है।

लगभग सातवीं शती के आचार्य शंकर की प्रतिद्वन्द्विता में १२ वीं शती के आचार्य रामानुज दिखाई देते हैं। ये दोनों दाक्षिणात्य आचार्य अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर एकमत हैं — वेद, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, स्मृति और पुराणों का प्रमाणतः स्वीकार करने में, सांख्य के प्रकृतिवाद, वैशेषिक के परमाणुवाद, बौद्धों के विज्ञानवाद, जैनों के स्याद्वाद तथा न्याय के असत्कार्यवाद का खण्डन करने में दोनों एकमत हैं। कर्म के सिद्धान्त के प्रति दोनों दृढ आस्था व्यक्त करते हैं और मोक्ष की अविचल स्थिति को स्वीकार करते हैं। प्रश्न यह है कि इतनी समानताओं के बाद भी उनमें मूलभूत अन्तर क्या है ?

आचार्य शंकर की मूलभूत विशेषता जो उन्हें आचार्य रामानुज से अलग करती है और विषयिनिष्ठवाद का विरोधी सिद्ध करती है वह है, जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त। शंकर ने जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का मूल कारण 'ब्रह्म' और उसकी शक्ति 'माया' को माना है।

शंकर ने जहाँ माया को एक ओर ब्रह्म की 'शक्ति' कहा तो तो दूसरी ओर ''अज्ञान'' रूप भी। वे उसे सत्-असत् दोनों से परे, अनिर्वचनीय भी कहते हैं। माया की अपेक्षा से ईश्वर जगत् का कर्ता और उससे संबंधित न होने के कारण ब्रह्म है।

दार्शनिक चिन्तन मूलतः जिज्ञासा से निःस्तृत होता है। वस्तुनिष्ठ रूप से इस

प्रसंग में अधिक कुछ कहना प्रायः कठिन होता है। किन्तु एक दार्शनिक के लिए जीवन और जगत् की व्यावहारिकता से निःसंग रहना उसके हित में कथमपि श्रेयस्कर नहीं हो सकता। अस्तु, दार्शनिक अपने सम-सामयिक परिवेश में जो कुछ अनुभव करता है, तथा जिस बोध को विकसित करता है, वह देश और काल के बंधनों से मुक्त होता है।

'माया' संस्कृत शब्द है। 'माया' का संस्कृत के अलावा दूसरी भाषा में उल्लेख नहीं मिलता । माया शब्द के कई अर्थ निकाले गये हैं -

माया शब्द "मा" धातु से बना है। मीयते या सा माया, जो नापा जाता है वह माया है अथवा मीयते अन्यासा माया अर्थात् जिसे नापा जाता है वह माया है। माया का अर्थ है मापने की शक्ति या इस शक्ति से मापने योग्य या निश्चित की जाने वाली वस्तु हो सकता है।

बेट्टी हीमान ने कहा है कि "मापने या विभाजित करने की इस शक्ति के द्वारा ही कृष्ण सभी इन्द्रियानुभविक या व्यावहारिक रूप धारण करते हैं और सभी माया अर्थात् मापने योग्य ससीम वस्तुएँ अव्यक्त से हीन प्रकार की हैं।" माया एक मानदण्ड है, एक माप है।

माया की व्युत्पत्ति 'मा' और 'या' इन दो शब्दों के योग से हुई है। "मा" का अर्थ 'नहीं' या 'न' है। 'या' का अर्थ 'जो कुछ' अर्थात् माया का अर्थ "जो कुछ न हो" होता है। जैसे हम कहें कि पानी है किन्तु पानी न हो और उसके स्थान पर रेत हो ऐसी दशा को हम माया कहते हैं।

माया शब्द का अर्थ प्रायः जादू, छल, कपट, इन्द्रजाल, मिथ्या धारणा, धोखा, जालसाजी, धूर्तता, दाँव, युक्ति, चाल आदि के लिए किया जाता है। लौकिक संस्कृत वेदान्त तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रचलित इसके विविध प्रयोग ही इन अर्थों के आधार हैं। सायण ने प्रसंगानुकूल माया के दो अर्थ किए हैं। देवों से संबद्ध होने के कारण इसका अर्थ अच्छा अर्थात् शक्ति या प्रज्ञा है और दुःसत्त्वों, असुरों आदि से संबद्ध होने पर इसका अर्थ बुरा अर्थात् कपट या दुष्प्रज्ञा है।

संहिताओं में माया का वर्णन इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र अनेक रूपों को धारण करके अनेक एवं अलग-अलग रूपों में प्रकट होते हैं। इन्द्र माया द्वारा अनेक रूप धारण करके यजमानों के पास उपस्थित होते हैं, क्योंकि इन्द्र के रथ में हजार घोडे जोते गये हैं।[1]

ऋग्वेद संहिता में 'माया' शब्द का प्रयोग इन्द्रादि देवताओं की शक्ति और प्रज्ञा के अर्थ में ही अधिक हुआ है।

अथर्ववेद में 'माया' का प्रयोग रहस्यमय शक्ति के रूप में हुआ है। जिसका देवताओं के साथ शुभ अर्थ में प्रयोग है और जो दानवों के साथ अशुभ शक्ति का द्योतक है। इसका उल्लेख रहस्यमयी, जादू, चालाकी दुर्बुद्धि आदि के अर्थ में हुआ है। असुरोंने एक मंत्र में विराट 'गौ' को माया कहा है और उससे माया रूपी दूध दूहा है।

शंकराचार्य के मायावाद के सिद्धांत की उत्पत्ति के संबंध में मतभेद हैं। शंकराचार्य के मायावाद का उदय स्वतंत्र रूप से शंकराचार्य की प्रतिभा का फल माना जाता है। उनका मायावाद उपनिषद्वर्ती सिद्धांत का ही विश्लेषण है।

प्राचीन उपनिषदों में ''माया'' शब्द का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। तथापि उसका अन्तर्निहित भाव उसमें सदैव विद्यमान रहा है। प्रश्नोपनिषद् में 'माया' पद का प्रयोग नैतिक प्रसंग में किया गया है।[२] वहाँ इसका अर्थ न ईश्वर की रहस्यमयी सृजनशक्ति है और न हमारी अविद्या किन्तु आचार की कुटिलता अथवा मिथ्याचार रूप छलना है।

रेगनाट के अभिमत में ''यह पूर्णतया विदित है कि प्रमुख उपनिषदों में श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी को छोडकर कहीं भी माया शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता है।''

बृहदारण्यकोषनिषद् में केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, यह अंश भी ऋग्वेद से लिया है, जहाँ माया का अर्थ सृष्टि कर्त्री शक्ति है।[३] मेक्स म्युलर और थीवो माया के सिद्धांत को उत्तर काल की देन मानते हैं।[४] गफ ने कहा है कि, ''मायावाद का सिद्धांत उपनिषदों का मूल सिद्धांत है।[५] आर. डी. रानडे का विचार है कि माया शब्द का प्रयोग उपनिषदों में बहुत बार नहीं हुआ है फिर भी माया शब्द का अन्तर्गत भाव उसमें वर्तमान है।[६]

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में माया का वर्णन प्रकृति के अर्थ में भी हुआ है। इस उपनिषद् में माया को प्रकृति और महेश्वर को मायावी कहा गया है।

भगवत् गीता में माया शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है, श्रीकृष्ण कहते हैं कि, ''मैं अविनाशी और अजन्मा होने पर भी तथा समस्त भूत प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ।[७] इसका तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान में जब उसके विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण हैं। अजन्मा का जन्म माया से होता है। दूसरे स्थान पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि, ''यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बडी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझे ही निरंतर भजते हैं वे इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं।''[८] माया शब्द ईश्वर की रहस्यमयी इस शक्ति के सांसारिक कार्य और जीवों की अविद्या के

लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु साथ ही संसार या संसार में विद्यमान् वस्तुओं के मिथ्या होने का भाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

'माया' का प्रयोग बौद्ध दर्शन में पाली लिपि के प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में प्रबंधना, छल, धोखा, कपट, धोखेबाजी, या कपटपूर्ण व्यवहार के अर्थ में हुआ है।[९] लंकावतार सूत्र में इसका प्रयोग अध्यास के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

ब्रह्मसूत्र में माया का प्रयोग शक्ति नहीं अपितु असद् वस्तु के अर्थ में किया गया है अर्थात् माया का प्रयोग एक ही बार किया गया है।[१०]

वेदान्त दर्शन में माया को परमेश्वर की अविद्यात्मिका बीज-शक्ति कहा है : यह शक्ति अव्यक्त शब्द के द्वारा निर्दिष्ट की गयी है। माया परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुषुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन क्रिया करते हैं।[११] त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान विरोधी भावरूप पदार्थ है। परमेश्वर की इसी अव्यक्त, अनादि, त्रिगुणात्मिका अविद्या स्वरूप माया शक्ति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है।[१२]

> अव्यक्तनाम्नी पमेश्वरशक्ति रनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
> कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।
>
> **- विवेक चूडामणि** ११०, पृ. ९१.

माया के स्वरूप के संबंध में शंकराचार्य का विचार है कि माया न सत् है, न असत् है। क्योंकि यदि माया को सत् माने तो चिदात्मा के समान इसका बाध कभी नहीं होना चाहिए। परन्तु तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश होता देखा गया है। अतः अज्ञान सत् नहीं है। अज्ञान बन्ध्यापुत्र और शशविषाण की भाँति असत् नहीं है, क्योंकि संसार के मोहपाश में बद्ध प्रत्येक व्यक्ति को "मैं अज्ञ हूँ" इस प्रकार का स्पष्ट भान होता है। अतः अज्ञान असत् भी नहीं है। अज्ञान सदसद्रूप भी नहीं है, क्योंकि सद्रूपता और असद्रूपता दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। अतः ज्ञान अनिर्वचनीय है।

शंकराचार्य का विचार है कि माया न सत् है, न असत् है और न उभय रूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न उभय रूप है, न अंग सहित है, न अंग रहित है, न उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूपा है।[१३] उक्त चिंतन एवं विचार अग्रलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जाता है -

> सन्नाप्य सन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्य भिन्नाप्युभयात्मिका नो
> संगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाअद्भुतानिर्वचनीय ॥
>
> **- विवेक चूडामणि** (श्लोक, पृ. - २६)

विद्यारण्यक स्वामी का विचार है कि स्पष्ट रूप से भासित होने पर भी जिसका

निरूपण न किया जा सके वही माया है।[१४] सत्-असत् से विलक्षण होने पर भी माया अभाव रूप नहीं है। वह ज्ञान का अज्ञान भी नहीं है। वह भावरूप है, क्योंकि उससे जगत् रूपी महाप्रपंच की उत्पत्ति होती है। माया ज्ञान विरोधी तमोरूप व भावरूप है। ज्ञान के द्वारा निर्वर्त्य होना ही माया का लक्षण है। यदि माया भावरूप न होती तो इसकी निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । माया को भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि उसे अभाव से विलक्षण बताना। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता तभी तक अज्ञान तमोरूप व भावरूप है। साक्षात्कार होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। माया लौकिक दृष्टि से सत् प्रतीत होती है। युक्तिपूर्वक विवेचन करने से अनिर्वचनीय जान पडती है। और आत्मज्ञान होने पर तुच्छ हो जाती है। वस्तुतः इसका निरूपण असम्भव होता है।

मायावाद के लिए गौडपाद ने जो तर्क किया है वह 'अजातवाद' कहा जाता है। उनका कहना है कि सत् से तत्त्वतः कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सत् से यदि कुछ उत्पन्न होगा तो वह सत् भी किसी कारण से उत्पन्न होगा और फिर वह कारण भी किसी अन्य से उत्पन्न होगा और इसी प्रकार अन्य-अन्य की अपेक्षा अनन्त तक जायेगी। अतः सत् से किसी तत्त्व की उत्पत्ति मानने में अनवस्था-दोष आएगा। अतः सत् से तात्त्विक उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि सत् से जो उत्पत्ति होती है वह केवल माया से है, अर्थात् वह केवल देखने में है।[१५] इस देखने का युक्तिसंगत अर्थ कुछ नहीं किया जा सकता है।

गौडपादाचार्य के मायावाद का शंकराचार्य पर अधिक प्रभाव पडा है। शंकराचार्य को मायावाद के सिद्धान्त के समर्थन के लिए गौडपादाचार्य की माण्डूक्य करिकाओं से एक सबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी। शंकराचार्य ने उपनिषदों एवं गौडपाद के सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने मायावाद के सिद्धांत का विकास किया था। माण्डूक्य कारिका पर शंकराचार्य ने एक भाष्य की रचना की थी। इस भाष्य के अन्तर्गत गौडपादाचार्य के मायावाद से शंकराचार्य प्रभावित हुए थे। गौडपादाचार्य के कतिपय स्थलों को शंकराचार्य ने ज्यों का त्यों अपना लिया था।

रामानुज वेदान्त

रामानुज दर्शन शंकर के मायावाद की प्रतिक्रिया से उपजा है। रामानुज प्रकृति को ही माया कहते हैं। वह जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न अद्भुत रचना मानते हैं तथा माया को उसकी अद्भुत कार्य सम्पादिका अनन्य एवं यथार्थ शक्ति, न कि आवरण शक्ति। रामानुज ने शंकर के माया संबंधी विचार को न स्वीकार करके चिदचिद् सगुण ब्रह्म की कल्पना की है और मायिक जगत् को शंकर की भाँति मिथ्या न मानकर

सत्य स्वीकार किया है। रामानुज दर्शन में मायावी ईश्वर और निर्गुण ब्रह्म दो अलग तत्त्व न होकर सगुण ब्रह्म ही एक मुख्य तत्त्व है।

शंकर के अनुसार माया शब्द का अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति है। माया शक्ति सत् एवं असत् के विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुज ने माया को परमात्मा की विचित्र शक्ति का रूप दिया है। रामानुज माया को आश्चर्यवाची मानते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में रथादि का पूर्णतया अभाव होने पर भी रथादि की आश्चर्यजनक सृष्टि देखने में आती है, उसी प्रकार परमात्मा की यह सृष्टि भी आश्चर्य रूपा है। परमात्मा की यह सृष्टिकर्त्री शक्ति अचिन्त्या है। इसके अतिरिक्त रामानुज ने कहीं-कहीं माया का अर्थ कूट्युक्ति किया है।[१६]

रामानुज ने शंकर का विरोध किया। उनकी आत्मा को शंकर के विचारों से शान्ति नहीं मिली। उनकी समझ में नहीं आया कि माया मानने से शंकर का अद्वैतवाद कैसे सिद्ध हो जाता है। शंकर कहते हैं कि केवल ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म को छोडकर और बहुत सी चीजें जो प्रतीत होती हैं, वे माया के कारण हैं। रामानुज विचार करना चाहते हैं कि यह माया क्या वस्तु है जिसके कारण बिना अस्तित्व रखते हुए भी यह जगत् प्रतीत होता है। शंकर माया को न ब्रह्म के समान सत् मानते हैं न खरगोश के सींग के समान असत्। जब सत् भी नहीं और असत् भी नहीं है तो क्या ? यदि माया कुछ वस्तु है तो शंकर का अद्वैतवाद नहीं रहा। क्योंकि दो वस्तुएँ हो गईं — एक ब्रह्म और दूसरी माया। यदि कहो कि असत् है अर्थात् कुछ वस्तु नहीं हो तो वह बहुत्व का भ्रम कैसे उत्पन्न कर देती है ? यदि कहो कि न सत् है और न असत् तो ऐसा कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। या तो कोई चीज है या नहीं है। यह कैसे हो सकता है कि 'हो भी नहीं' और 'न हो भी नहीं।' खरगोश के सींग नहीं होते इसीलिए खरगोश के सींग को असत् की कोटी में रखतें हैं। बैल के सींग होते हैं इसीलिए इसको असत् की कोटि में न रखकर सत् की कोटि में रखेंगे, जिसका 'अस्तित्व' नहीं उसका नास्तित्व होगा जिसका नास्तित्व नहीं उसका अस्तित्व अवश्य होगा। रामानुज ने 'माया' के विरुद्ध बहुत युक्ति-युक्त दोषों का उल्लेख किया है, और यदि 'माया' की कल्पना नहीं की जाती तो शंकर का मत ठहरता ही नहीं है। वहाँ हम उन सात दोषों को संक्षेप में दिखलाते हैं, यथा -

आश्रयानुपपत्ति दोष

माया किस के आश्रय ठहरेगी ? माया का कोई स्वयंसिद्ध और स्वयमाश्रित वस्तु नहीं जो अपने पैरों खडी हो सके। स्वप्न सदा स्वप्न देखने वाले के आश्रित होता है। यदि स्वप्न देखने वाला कोई नहीं तो स्वप्न भी कोई नहीं। मैं स्वप्न में देखता

हूँ कि हाथी पर चढा हूँ। यह हाथी पर चढने का स्वप्न किसके आश्रित हुआ ? मेरे, क्योंकि मैंने स्वप्न देखा और मैंने स्वप्न क्यों देखा ? इसीलिए कि मेरे मस्तिष्क में विकार है, मुझे नीद नहीं आई और जागृत् अवस्था के पडे हुए संस्कार घोर निद्रा के अभाव में मेरे मन के आगे नृत्य करने लगे। यदि मैं न होता तो स्वप्न भी न होता और यदि मैं होता परन्तु मेरे मस्तिष्क में विकार न होता तो भी मुझको स्वप्न न होता, इसीलिए स्वप्न के आश्रय के लिए एक ऐसी सत्ता चाहिए जो अल्प, अपूर्ण और विकार प्रभावित हो। शंकर कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है, अनन्त है, ज्ञान है। इसीलिए ब्रह्म तो 'माया' का आश्रय हो ही नहीं सकता। रहा 'जीव', शंकर जीव की अलग सत्ता नहीं मानते। उनके मत में तो माया से प्रभावित ब्रह्म ही जीव हो जाता है और पूर्ण ज्ञानी होते ही जीव अपने को ब्रह्म समझने लगता है। इसीलिए जब 'माया' से पहले जीव कोई चीज ही न था तो वह माया को आश्रय कैसे दे सकता है। इसीलिए रामानुज कहते हैं कि शंकर के मत में पहला दोष "आश्रयनुपपत्ति दोष" अर्थात् मायावाद की कल्पना करने से पूर्व शंकर ने यह नहीं सोचा कि 'माया' को मानने से उसके आश्रय को कहाँ से मानेंगे और जब तक आश्रय न माने उस समय तक माया की कल्पना ही कैसे कर सकेगें।

विरोधानानुपत्ति दोष

'माया' ब्रह्म को छिपा कैसे सकती है ? यदि ब्रह्म ही ब्रह्म है और ब्रह्म 'ज्ञान' है तो इस ज्ञान का तिरोधान कैसे हुआ ? जब तक प्रकाश न छिपे अंधेरा कैसे हो ? दीपक जल रहा है। समस्त स्थान में प्रकाश हो रहा है। या तो दीपक के ऊपर टोकरी रख दो या दीपक के सामने कोई दीवार खडी कर दो, तो प्रकाश रुक जायेगा और अंधेरा हो जायेगा। अंधेरे में साँप को रस्सी समझ सकते हैं और रस्सी को साँप । परन्तु यदि प्रकाश ही प्रकाश है, प्रकाश से इतर कोई वस्तु ही नहीं, न दीवार न टोकरी, तो अंधेरा कैसे होगा ? दीपक के तले अंधेरा तभी होता है जब दीपक का प्रकाश शून्य जला दीपक की 'लौ' को रोक लेता है और दीपक के ऊपर अंधेरा तभी होता है जब बिजली के बल्ब के ऊपर एक प्रकाश-शून्य खोल चढाते हैं। जब तक ब्रह्म के ज्ञान का तिरोधान नहीं होता, स्वप्न, अज्ञान, अविद्या, भ्रम या माया का प्रश्न ही नहीं उठता और ब्रह्म का तिरोधान हो कैसे ? या तो ब्रह्म को कोई ऐसी वस्तु मानो जो ढंक सकती है और माया को ऐसी वस्तु मानो जो ढांक सकती है। यदि ऐसा मानोगे तो ढांकनेवाली और ढंकवाली दो वस्तुएँ हो जायेगी और अद्वैतवाद का किला थम से आ गिरेगा। यदि मैं कोई वस्तु नहीं, किन्तु प्रतीत ही होती है तो वह ब्रह्म के ज्ञान को ढाँकने के लिए कभी पर्याप्त नहीं हो सकती। कल्पित दीवार

का कल्पित टोकरी से दीपक के प्रकाश को ढंक नहीं सकते और जब तक प्रकाश ढंकता नहीं, अंधेरा हो ही नहीं सकता। इसीलिए रामानुज कहते हैं कि मायावाद का दूसरा दोष- 'तिरोधानानुपपत्ति' है।

स्वरूपानुपत्ति दोष

शंकर ने 'माया' को मान तो लिया परन्तु वह उसके स्वरूप का निश्चय नहीं कर सके। कोई पूछता है कि शंकराचार्य क्या माया सत् है ? कहते है 'नहीं'। क्या असत् है ? कहते हैं, 'नहीं'। केवल 'नहीं' से तो काम नहीं चलता। यदि कहो कि 'नानात्व अर्थात् संसार में बहुत सी वस्तुएँ हैं। इस भ्रम को उत्पन्न करने वाली चीज माया है तो वह कोई चीज हुई ? फिर अद्वैत कैसा ? इतनी बात मानने से भी तो प्रश्न ही उठेगा कि यह माया ब्रह्म में भ्रम कैसे उत्पन्न कर देती है ? 'ज्ञान स्वरूप' ब्रह्म कैसे समझने लगता है कि मैं जीव हूँ, अल्प हूँ, मेरी नाक है, कान है इत्यादि।

अनिर्वचनीयत्वानुपत्ति दोष

शंकर 'माया' को अनिर्वचनीय मानते हैं अर्थात् न वह सत् है न असत्। अर्थात् है भी नहीं और नहीं भी नहीं। यह कैसे हो सकता है ? ज्ञान या तो सत् का होगा या असत् का। यदि ऐसी चीजों का भी ज्ञान मानोगे जो है भी नहीं और नहीं भी तो ज्ञान की कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। अनिर्वचनीयत्व एक निरर्थक शब्द है जिसका यहाँ पर कोई अर्थ नहीं ठहरता।

प्रमाणानुपपत्ति दोष

माया के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। जो न सत् है न असत् उसके लिए प्रमाण ही क्या। उसकी तो कल्पना ही अकारण है और ऐसी कल्पना के ऊपर किसी दर्शनशास्त्र की स्थापना करना उडते हुए रेत के ऊपर महल बनाना है।

निवर्त्तकानुपत्ति दोष

यदि यह मान भी लिया कि 'माया' ही बंधन है, माया ही रोग है जिसकी निवृत्ति करनी है, तो यह रोग निवृत्त कैसे होगा ? इसका निवर्त्तक क्या चीज है ? ब्रह्म को तो शंकर निर्गुण और निष्क्रिय मानते हैं। वह तो निर्विशेष है। इस प्रकार का ब्रह्म माया को कैसे दूर करेगा ? और जब तक माया दूर न हो मोक्ष कैसा ? विचित्र बात यह है कि बंध और मोक्ष को तो शंकर भी मानते हैं। इससे तो इनको इन्कार ही नहीं।

निवृत्यनुपपत्ति दोष

निवृत्ति (बन्ध नाश) की भी तो उपपत्ति नहीं है। बन्ध कल्पित तो है नहीं। बन्ध वास्तविक है। हम सबको उसकी अनुभूति होती है। बन्ध से बचने के लिए ही तो मोक्ष की इच्छा करते हैं। माया के मानने से यह भी युक्ति-संगत नहीं ठहरती है।

यदि बन्ध वास्तविक नहीं तो मोक्ष ही वास्तविक न होगा।

रामानुज कहते हैं कि 'माया' शब्द तो वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है परन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें शंकर लेते हैं। 'मायावाद' तो शंकर की अपनी ही कल्पना है।

जीव और ब्रह्म के विषय में शंकर और रामानुज के मत में यह अन्तर है कि रामानुज के लिए जीव और ब्रह्म दो पृथक् आध्यात्मिक सत्ताएँ हैं, शंकर के लिए एक ही आध्यात्मिक तत्त्व है क्योंकि दो आध्यात्मिक तत्त्व अकल्पनीय हैं।

रामानुज के लिए जीव अणु और परिच्छिन्न है, वह ईश्वर का अंश है और उसका व्यक्तित्व रूप और परिच्छेद सदा अक्षुण्ण रहेगा। मोक्ष भक्ति और उपासना द्वारा ईश्वर के लोक की प्राप्ति है।

शंकर के लिए जीव वास्तव में विभु है। ब्रह्म ईश्वर से भिन्न है, उसके साथ भक्ति और उपासना का संबंध संभव नहीं। वह एक अनन्त आध्यात्मिक तत्त्व है जो हमारी आत्मा है। परिच्छिन्नता हमारी भौतिक सत्ता का एक प्रकार है, हमारी वास्तविक सत्ता का तत्त्व नहीं। मोक्ष इस अनन्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार है, जिसमें हमारे व्यक्तित्व का विनाश नहीं वरन् एक अनन्त आत्मा के रूप में उसका विकास होता है।[१७] शंकर वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है जबकि रामानुज वेदान्त में जीव को ज्ञः कहा गया है।

शंकर और रामानुज का कार्यकारण सिद्धांत भी एक दूसरे के विरुद्ध है। शंकर के अनुसार मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निर्मित कारण दोनों है। माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है एवं चैतन्य रूप होने के कारण निमित्त कारण है।

रामानुज के अनुसार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियों के नाम हैं। लयावस्था में जो ब्रह्म कारणरूप से स्थित रहता है वही सृष्टि काल में कार्य अवस्था में देखा जाता है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियाँ हैं। रामानुज सत्कार्यवाद और शंकर विवर्तवाद के समर्थक हैं।

शंकर के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण ब्रह्म का कार्य है और न परिणाम, ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का कार्य न होकर मायिक एवं प्रतीतिमात्र का फल है। कार्य-कारण-संबंधी उक्त विचार के कारण ही शंकर और रामानुज के ख्याति संबंधी विचार में भी अंतर है।

रामानुज सत् ख्यातिवादी है और शंकर अनिर्वचनीय ख्यातिवादी है। सत् ख्यातिवादी रामानुज के अनुसार युक्ति आदि में रजतादि की ख्याति असत्ख्यातिवादी

बौद्धों की तरह असत् अथवा शंकर वेदान्त की तरह अनिर्वचनीय न होकर सत् है। इसके विपरीत शंकर वेदान्त के अन्तर्गत युक्ति आदि में रजतादि की ख्याति को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है।

उपरोक्त कथनों से शंकर व रामानुज का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट हो जाता है।

दर्शन-विभाग, **अशोक कुमार शिल्पकार**
डा. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति वक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पूरूरूप ईयते युक्ता हास्य हस्यः शतादश । **ऋग्वेद** , ६.४७.१८.
२. न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति, **प्रश्नोपनिषद** १.१६.
३. रेगनंद, ला माया, रिव्यू डे आइ हिस्टोरी हेज रिलीजियस टू मी, XII, नं. ३,१८८५, **सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट** २९०५ ३४
४. एफ. मेक्सम्युलर **थ्री लैक्चर्स ऑन वेदान्त फिलासफी**, पृ. १२८.
५. ए. इ. गफ, **फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स**, नई दिल्ली, १९७५, पृ.२५६.
६. आर. डी. रानडे, **ए कन्सट्रीक्टव सर्वे ऑफ इंडियन फिलासफी**, बम्बई, १९६८, पृ. १६२.
७. **भगवद् गीता**, ४.६.
८. वही, ७.१४.
९. एस. एन. दासगुप्ता, **भारतीय दर्शन**, भाग-१ पृ. ४७०.
१०. **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य**, ३.२.३.
११. **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य**, १.४.३.
१२. अनुवादक मुनिलाल, **विवेक चूडामणि**, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. २६. श्लोक ११०.
१३. वही, पृ. २६, श्लोक १११
१४. **पंचदशी**, ५.१४१.
१५. सतोहि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः । उत्तवते जायते यस्य जातं हि तस्य जायते।- **माण्डूक्य कारिका**, ३.२.७.
१६. **रामानुजभाष्य** और **गीता**, ७.१५.
१७. रामानंद तिवारी शास्त्री, **श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन**, १९६४, पृ. ६५.

मीमांसा दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास

हमारे पूर्वज प्राचीन ऋषि महर्षियों ने बौद्धिक एवं आध्यात्मिक बल की वृद्धि के लिए विभिन्न दर्शनशास्त्रों का आविर्भाव किया है। विद्वानों ने दर्शन की अनेक परिभाषायें दी हैं, किन्तु संक्षिप्त रूप में दर्शन तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अमृत्व प्राप्ति की आकांक्षा से किये गये प्रयोगों द्वारा अनुभूत तथ्यों का एक संकलन है। वास्तव में यह समस्त विद्याओं का भण्डार है एवं आत्मदर्शन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। यह शाश्वत और अविच्छिन्न अनुभवों का आगार है। आत्मदर्शन से मनुष्य मृत्यु से पार होकर अमरता को प्राप्त कर लेता है -

तमेव विदित्त्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय -

यजुर्वेद - रुद्राष्टाध्यायी

आत्मतत्त्व तक मनुष्य को पहुँचाने के कारण दर्शन आत्मविद्या या अध्यात्मशास्त्र भी कहा गया है। यह दर्शन-अर्थक दृश् धातु से 'दृश्यते अनेन' इस शाब्दिक व्युत्पत्ति से ल्युट् प्रत्यय होने पर सम्पन्न होता है।

वास्तव में दर्शन महर्षियों के बुद्धिबल की उत्कृष्ट देन है। मनुष्य की बुद्धि के उत्कर्ष को शब्दों में आंका नहीं जा सकता है, क्योंकि मानवीय बुद्धि के उदय एवं विकास का कोई निश्चित प्रामाणिक काल नहीं है। इसीलिए दर्शन के उदय का कोई समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। मानवबुद्धि की एक धारा वेद-प्रामाण्य को शिरोधार्य करती है और दूसरी उसका निराकरण करती हुई आगे बढती है। वेद का प्रामाण्य स्वीकार कर चलने वाली धारा के समक्ष अनेक परम्परायें हैं। दूसरी सर्वथा अमर्यादित है। इन्हीं में से एक को आस्तिक दर्शन एवं दूसरे को नास्तिक दर्शन के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव में नास्तिक दर्शन न होते तो आस्तिक दर्शनों का इतना विकास सम्भव नहीं था।

आस्तिक दर्शनों की छः प्रसिद्ध धारायें हैं - सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त। प्रत्येक धारा साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न है। इन आस्तिक दर्शनों में मीमांसा एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। वेद के विषय में महती आस्था रखते हुए मीमांसक जिस प्रकार वेद तत्त्व का विमर्श करते हुए

उसका स्वरूप बतलाते हैं, वैसा अन्य दार्शनिक नहीं बतलाते। सम्पूर्ण क्रिया-कलापों के मूलभूत वेद का निकृष्ट वाक्यार्थ वर्णन करने के लिए यह द्वादश लक्षणी मीमांसा प्रायः सभी विद्याओं को समय-विद्या, न्याय अथवा तर्क-विद्या, मीमांसा, तंत्र-विद्या, पूर्व मीमांसा, पूर्वतन्त्र, विचारशास्त्र, अध्वर मीमांसा, वाक्यशास्त्र, एवं धर्मशास्त्र इत्यादि विभिन्न रूपों में प्रमाणित करती है। इसके ये अनेक रूप की इसकी प्रमुखता एवं उपयोगिता को अनुमानित करने के लिए पर्याप्त हैं। इसीलिये वार्त्तिककार भट्टपाद कुमारिल ने

मीमांसाख्या तु विधेयं बहुविद्यान्तराश्रिता ।
न शुश्रूषयितुं शक्या प्रागनुवत्वा प्रयोजनम् ॥ **श्लोकवर्त्तिक**, १३

ऐसा बतलाकर इसकी उपादेयता को प्रमाणित किया है।

मीमांसा शब्द पूजित विचारार्थ में प्रसिद्ध है- 'पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्द' (**भामती**, पृ. ४६, मुम्बई सं.)। 'मान पूजायाम्' एवं 'मान् विचारे' धातु पाठ के द्वारा 'मान्' धातु पूजा एवं विचार दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। मानबन्धदानशाम्यो दीर्घचाम्यास्य' (**पाणिनिसूत्र**, ४.१.४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अनिच्छार्थ में 'मान्' धातु से 'सन्' प्रत्यय एवं अभ्यास का दीर्घ होने पर 'मीमांसा' शब्द निष्पन्न होता है। 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् वा' इस बाद के सूत्र द्वारा इच्छार्थ में 'सन्' का विधान करने के कारण पूर्व 'मान्धव...' इस सूत्र के द्वारा अनिच्छार्थ में 'सन्' प्रत्यय का विधान कर 'मीमांसा' शब्द को निष्पन्न कराते हैं। इस प्रकार पूजार्थ में एक धातु एवं विचारार्थ में दूसरे धातु का प्रयोग होता है। किन्तु पूजित विचारार्थ में कोई धातु नहीं है। अतः पूजित-विचारार्थ में 'मीमांसा' शब्द कैसे निष्पन्न हुआ, ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कल्पतस्कार ने 'प्रसिद्धिबलात् पूजित विचारार्थत्वम्' ऐसा कहकर समाधान किया है।

वास्तव में 'मीमांसा' के उदय का कोई समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। मीमांसा से हमारा अभिप्राय विचार है। विचार की यह वृत्ति हमारे वाङ्मय-वेद तक में उपलब्ध है। वस्तुतः वेद ही इस धारा का उद्गम स्थल है। याग, होम आदि प्राचीनतम प्रयोगों से इस शास्त्र का सम्बन्ध है। इसलिए भी इसकी पुरातनता में कोई सन्देह नहीं है। इसकी भिन्न-भिन्न आख्यायें भी इस तथ्य में साक्षी हैं।

मीमांसा का उदय श्रौत कर्मों को नियंत्रित करने के लिए ही हुआ है। एक निर्विवाद तथ्य है। वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं के आधार अनुष्ठीयमान

भिन्न-भिन्न कर्मों की प्रक्रियायें समय की गति के साथ-साथ अलग-अलग सरणियों में बहने लगी थीं। भिन्न-भिन्न विद्वान् वेद के विभिन्न वाक्यों के अभिप्रायों को लेकर प्रक्रियाओं में विभिन्नता लाने लगे थे। इससे कर्मकाण्ड की वास्तविकता लुप्त होने लगी। इस आवश्यकता ने 'मीमांसा' के उदय की प्रेरणा दी। अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों ने इस प्रक्रिया पर नियंत्रण स्थापित किया एवं वेदवाक्यों का जो अर्थ विभिन्न विचारकों ने किया था, उन्हें अपने विचार की कसौटी पर कस कर औचित्य और अनौचित्य को सिद्ध किया है। इससे कर्मकाण्ड में काल की गति के साथ-साथ जो अनेक रूपतायें दृष्टिगोचर हो रही थी, वह एकरूप हो गई। इस तरह मीमांसा दर्शन ने न सिर्फ कर्मकाण्ड अपितु वेद के ऊपर आने वाली अप्रामाणिकतारूपिणी महती विपत्ति की रक्षा की है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

इस 'मीमांसा' शास्त्र का मूल स्रोत संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता में 'इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः (**तैत्तिरीयसंहिता**, ५.७.१) ऐसा प्रयोग एवं काठक संहिता में 'उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते' (**काठक संहिता**, ३.३.७) इस प्रकार का प्रयोग प्राप्त होता है। ब्राह्मण भागों में इस प्रकार के प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। वेद के अन्तिम अथवा ब्राह्मण भाग के अनुवर्ती परिच्छेद (**उपनिषद**) में 'मैषा आनन्दस्या मीमांसा भवति' (**तैत्तिरीयोपनिषद्** ८ अनुवाक्) ऐसे अनेक वाक्य उपलब्ध हैं। अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि संहिता एवं ब्राह्मणभाग में यह शब्द जितनी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुआ है, उतनी मात्रा उपनिषद् भाग में नहीं। इस प्रकार ब्राह्मण भागों में ब्रह्मवादियों द्वारा की गई मीमांसा संशय, पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के रूप में देखी जाती है। उदाहरणार्थ - 'अभिधार्या नाऽभिधार्या इति मीमांसन्ते' - ऐसा वाक्य '—धातुर्मास्यान्तर्गत त्र्यम्बकहविर्विधिप्रकरण' में श्रुत है। यहाँ संशय है कि होम के पूर्व हवि का अभिधार किया जाना चाहिए अथवा नहीं। इस पर पूर्वपक्ष किया गया कि अभिधार नहीं करना चाहिए। 'तन्न सूक्ष्र्यम्' ऐसा कहकर पूर्वपक्ष का खण्डन किया गया है। सिद्धान्त पक्ष में अभिधार करना चाहिए, यह वस्तुस्थिति है। इसी प्रकार अनेक स्थलों में जैसे 'संस्थाप्यां इन्न संस्थाप्या इ मिति मीमांसन्तेऽग्निहोत्रम्', 'होतव्यं दीक्षितस्याग्निहोत्रान्नहोतव्या इमिति मीमांसन्ते, वासिष्ठो रोहिणो मीमांसा चक्रे' इत्यादि अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। यह मीमांसा पूर्वकाण्डगत तत्तद् वैदिक ब्राह्मण मार्गों में ही उपलब्ध नहीं है, बल्कि उत्तरकाण्ड

उपनिषदों में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इससे यह स्पष्ट अवगत होता है कि वैदेक्देश ब्राह्मण भाग के साथ ही यह विचारसरणि जो 'मीमांसा' नाम से अभिहित होती है - आविर्भूत हुई है। इसी विचार प्रमुखता के आधार पर अन्वेषण करने पर मीमांसा के उदय का इतिवृत्त महर्षि जैमिनि से अनेक परम्पराओं पूर्व तक पहुँच जाता है। वेदों के पौर्वापर्य के आधार पर भी इस विचारशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था का परिज्ञान हो नहीं सकता है। वेदत्रयी में ऋग्वेद का आविर्भाव सर्वप्रथम एवं यजुर्वेद का उसके अनन्तर हुआ। ऋग्वेद के अन्तिम एवं यजुर्वेद के प्रारम्भ का संक्रमण काल वस्तुतः विचार का प्रारम्भ है। यजुर्वेद के प्रारम्भ (१.५.९) विचार प्रवर्तित हैं जिन्हें देखने से यह ज्ञात होता है कि उस काल का मानव विवेकशील एवं प्रभावशाली था। विवेक का यह विकास बढता गया एवं ब्राह्मण भाग तक उसे एक नियत स्वरूप भी प्राप्त हो गया। ब्राह्मण भाग के अनेक प्रकरणों में विचार की यह प्रणाली 'मीमांसा' नाम से व्यपदिष्ट हुई। शैली के परिशीलन से ब्राह्मणें में भी मैत्रायणीय एवं तैत्तिरीय शाखाओं की प्राचीनता एवं ऐतरेयादि की अर्वाचीनता स्पष्ट होती है। मैत्रायणीय एवं तैत्तिरीय दोनों शाखाओं के विचार की प्रमुखता तैत्तिरीय की अर्वाचीनता का प्रतिपादन करती है एवं विचार की आत्मा मैत्रायणीय की प्राचीनता का बोध कराती है। विचार की इस धारावाहिक परम्परा का विकसित स्वरूप 'मीमांसा' है, जिसका ऐतिहासिक उदय ब्राह्मण भाग से है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वस्तुतः ब्राह्मण-काल ही 'मीमांसा' के उदय का काल है - जहाँ से इसकी धारा अविच्छिन्न प्रवाह के साथ बहती चली आ रही है।

अति प्राचीनकाल में महर्षियों की गोष्ठियों में जो विचार होते थे उनका अभिधान श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही होता था। उस काल में विषयों के अधिगम के लिए पुस्तकादि लिखित साधन नहीं थे। परन्तु सभी विषय के परिज्ञाता व्यक्ति थे। उनका एकमात्र साधन श्रोत्रेन्द्रिय ही मानना होगा। इसका परिणाम यह निकला कि जिस प्रकार श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का 'श्रुति' नाम पडा उसी प्रकार दर्शन और शास्त्र का भी 'श्रुत' नाम पडा। श्रवण का फल है — बोध। बोध का फल—आचरण एवं आचरण का फल—प्रचारण माना जाता है। इस क्रम से सभी शास्त्रों का प्रचार होता है। इसी सातत्य में 'मीमांसाशास्त्र' भी आविर्भूत हुआ। अर्थात् महर्षि जैमिनि ने उन गोष्ठियों में सुने हुए एवं निर्धारित विषयों की अभिव्यक्ति सूत्र रूप में की है। श्रौत, स्मार्त, कर्मकाण्डियों के अनुष्ठान सन्देह हो जाने पर वेदवाक्यों का मंथन कर सन्देह को दूर करते हुए अनुष्ठान किया

जाता है। उसी का रूपान्तर है —'मीमांसाशास्त्र', जिसके सूत्र-प्रवर्तक जैमिनि हैं। जैमिनि ने अपने सूत्रों के द्वारा कोई बात को सूचित नहीं किया है, बल्कि तत्तद गोष्ठियों में निर्धारित न्यायों का संकलन मात्र किया है जैसा कि चातुर्मास्य के साकमेध पर्व में 'आज्यभागो यजति' यह वाक्य श्रुत है। इसका विचार जैमिनि ने मीमांसा दर्शन के दशमाध्याय के सप्तम पाद के नवमाधिकरण में किया है। वहाँ का सिद्धान्त पक्ष यह है कि यह वाक्य प्रकृति से अतिदेश के द्वारा प्राप्त अंगों का प्रतिषेध करता है। लेकिन यह बात कही नहीं जा सकती कि इस सिद्धान्त से पूर्व के अनुष्ठाता साकमेधपर्व गृहमेधीयेष्टि में प्रकृति दर्शपूर्णमास के अंगों का भी अनुष्ठान करते थे। यह निश्चय है कि कर्मों का अनुष्ठान अविच्छिन्न परम्परा से होता था और यह भी निश्चित है कि जैमिनि के पूर्व कर्मों के अनुष्ठाता होते ही थे। इसी को हम सम्प्रदाय शब्द से कहते हैं। सम्प्रदाय का अर्थ - अविच्छिन्न गुरुशिष्य पारम्पर्य है। उस पारम्पर्य में 'मीमांसाशास्त्र' का प्रचार हुआ। अतएव वेद की परम्परा जिस प्रकार मानी जाती है, उसी प्रकार 'मीमांसा' की भी माननी चाहिए। त्रिकालदर्शी महर्षियों ने भविष्य के लोगों में स्मृतिशक्ति के दौर्बल्य का अनुभव करते हुए सूत्रभाष्य आदि की रचना की है।

इस सूत्र कथन की पुष्टि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह सूत्र ही करता है। इस जिज्ञासाधिकरण में मीमांसा को वेद विधि मूलकत्व सिद्ध किया गया है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वेदवाक्य ही कहता है कि मीमांसाशास्त्र का आरम्भ करना है तो वेद के काल के पूर्व विचार नहीं था ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होता है। जगत् अनादि है। अतः वेद भी अनादि है। यदि सृष्टि मानी जाती है तो प्रश्न उठता है कि किसकी सृष्टि ? यदि प्रलय होता है तो किसका ? इसका समाधान जगत् को लेकर ही दिया जाना चाहिए। इससे भी जगत् की अनादिता बीजांकुरन्याय से, ऋतुलिंगन्याय से सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार मीमांसा सम्प्रदाय अनादि है, ऐसी हमारे पूर्वज प्राचीन ऋषि-महर्षियों की धारणा है।

उदय होनेके साथ-साथ इसके विकास में अधिक समय नहीं लगा। मीमांसाशास्त्र की जो सुन्दर-सी लता जैमिनि ने लगाई, वह दिन-प्रतिदिन पुष्पित एवं पल्लवित होती गई। यहाँ तक कि एक बार ऐसी बसन्त की बहार आई, जो १९वीं सदी के आरम्भ काल तक रही।

लोक एवं वेद दोनों में उपकार प्रस्तुत शास्त्र का सर्वत्र प्रचार के लिए जैमिनि, शबरस्वामी प्रभृति अनेक महाभागों ने सूत्र-भाष्य आदि ग्रन्थों की रचना

की है। ये अतिगहन हैं। परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि शाबरभाष्य के पूर्व मीमांसासूत्रों के ऊपर कुछ भाष्य अवश्य थे। लेकिन वे भाष्य कहीं भी नामतः या रूपतः उपलब्ध नहीं है। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र दोनों ने शाबरभाष्य की व्याख्या की है। दोनों ही महानुभावों ने परस्पर विभिन्न रीति को अपनाया है। दोनों में स्वतंत्र गति, विचारचातुरी एवं विवेचनाशक्ति थी। अतः दोनों ही मत भाट्ट एवं प्राभाकर मत के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनमें शाबरभाष्य की मत में भट्टवार्तिक, न्यायसुधा, शास्त्रदीपिका, मयूखमालिका, मयूखावली, प्रकाश, भाट्टदीपिका, प्रभावली, चन्द्रोदय इत्यादि अनेक ग्रंथ, उनकी व्याख्या एवं व्याख्याओं की व्याख्यायें लिखी गईं। इस रूप में इनका प्रचार हुआ। प्रभाकर मत में बृहती, ऋजुविमला, न्यायविवेक, नयविवेकदीपिका इत्यादि व्याख्यायें एवं उनकी भी व्याख्यायें की गईं। भट्ट मत का जो प्रसार क्रम देखा गया वह प्रभाकर मत का देखा नहीं गया है। प्रभाकर मिश्र निर्मित भाष्यटीका भी आज समग्र रूप में मुद्रित नहीं है। प्रभाकर मिश्र द्वारा शाबरभाष्य की बृहती एवं लघ्वी नाम की व्याख्या की गई। उनमें प्रथम बृहती नामक व्याख्या अत्यन्त अल्प मात्रा में मुद्रित हुई है। लघ्वी का नाम मात्र अवशिष्ट रह गया, इसकी उपलब्धि स्वरूपतः नहीं हुई है।

इस प्रकार साधारण रूप से प्रसार होते हुए भी भाट्ट मतानुसारी ग्रन्थ एवं वार्तिकों का यथावत् ज्ञान अल्पबुद्धि के लिए अत्यन्त कठिन है ऐसा जानकर पार्थसारथि मिश्र ने भाट्टमत का अवलम्बन कर विषय, संशय आदि को एकत्रित कर स्वरूप में समग्र शास्त्र को संग्रहीत किया है, जो शास्त्रदीपिका नाम से व्यपदिष्ट हुई है। यही इस शास्त्र का प्राथमिक ग्रन्थ है। इसके अनन्तर जैमिनीय न्यायमाला, न्यायबिन्दु, भाट्टदीपिका, आदि अधिकरण संग्रहात्मक ग्रन्थ प्रादुर्भूत हुए एवं उनकी व्याख्यायें भी की गईं। तदनन्तर मीमांसा पदार्थ के संग्रहात्मक न्यायरत्नमाला, वेदप्रकाश, न्यायप्रकाश, भाट्टभास्कर, अर्थसंग्रह, मीमांसापरिभाषा आदि प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये। एवञ्च इसी परम्परा में मीमांसा का विकसित रूप भी अविच्छिन्न प्रवाह के समान दृष्टिगोचर हो रहा है। उल्लिखित प्रसंग से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में मीमांसा के विकास का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था, यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

डॉ. नागेन्द्र तिवारी
रिसर्च एसोसिएट (एस. ए.पी.)
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी - २२१००५

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में तर्क की अवधारणा

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में तर्क शब्द का उल्लेख नहीं है, परन्तु ऋग्वेद में एक स्थल पर "ऊह" शब्द का प्रयोग विशेष महत्त्व का है।[१] निरुक्तकार यास्क की दृष्टिं में "ओह ब्रह्मन्" अथवा "ऊह ब्रह्मन्" का आशय तर्क से है। यही कारण है कि उन्होंने अभ्यूह, ऊह और तर्क को एकार्थक माना है।[२] प्रायः ऐसे ही विचार अमरकोश में भी व्यक्त करते हुए अध्याहार, तर्क और ऊह को पर्याय शब्द कहा गया है।[३] भानुजी दीक्षित के अनुसार "तर्क" के पर्यायवाची "ऊह" की निष्पत्ति "ऊह वितर्के" धातु से हुई है। "तर्क" एक प्रकार का वाक्यं है जो सन्देह का छेदन करता है।

सूत्र साहित्य में तर्क शब्द का बहुल प्रयोग मिलता है।[४] तथापि वहाँ निरुक्त की भाँति पारिभाषिक अर्थ की वैसी स्पष्टता नहीं है। किन्तु उपनिषद्काल तक तर्क की प्रतिष्ठा में न्यूनाधिक्य वृद्धि देखी जाती है। "नैषा तर्केण मतिरापनेया" का उद्घोष करने वाले उपनिषद् यह भी स्वीकार करते हैं कि "तालु और रसना के निपीडन तथा वाणी, मन और प्राण के निरोध से ब्रह्म को तर्क से देखा जाता हैं।[५] संक्षेप में परिनिष्ठित दार्शनिक चिन्तन से पूर्व "तर्क" या "ऊह" को लेकर यही धारणा प्रचलित रही है।

न्याय :

परिनिष्ठत दर्शनों में सर्वप्रथम न्यायसूत्रकार गौतम ने सोलह पदार्थों में "तर्क" नामक पदार्थ की गणना करते हुए उसका लक्षण "अविज्ञाततत्वेर्थे कारणोपपत्ति तस्तत्त्वज्ञानमूहस्तर्कः"[६] इस प्रकार निर्धारित किया। वात्स्यायन ने सूत्र को स्पष्ट करते हुए कहा है - तर्क निर्णयात्मक तत्त्वज्ञान न होकर अनुज्ञामात्र है। यह सभी प्रमाणों का अनुज्ञाता या अनुग्राहक होता है। तर्क द्वारा विमर्श करके जो अर्थ विनिश्चय होता है, वह निर्णय है।[७]

जयन्तभट्ट अपने गम्भीर चिन्तन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संशय में दोनों पक्ष समान होते हैं, निर्णय में अन्य पक्ष का स्पर्श ही नहीं होता, जबकि तर्क दो पक्षों में से एक पक्ष को उत्थापित करता हुआ प्रतीत होता है।[८]

साम्येन हि समुल्लेखः संशये पक्षयोर्द्वयोः।
निर्णयेत्वितरः पक्षः स्पृश्यते न मनागपि॥
तर्कस्त्वेकतरं पक्षं विभात्युत्थापयान्निव ।

तदनन्तर उन्होंने मीमांसकों के ऊह का खण्डन करते हुए कहा है कि मीमांसकों द्वारा कल्पित उह शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं है। प्रमाण दशा और सन्देह दशा के मध्य में आने वाले तर्क का न्यायशास्त्र में ग्रहण है।

तदेव मीमांसक कल्प्यमानो नोहः प्रमाण व्यतिरेकमेति।
प्रमाण सन्देह दशान्तररालवर्त्ती तु तर्कः कथितोत्र शास्त्रे॥[१]

तर्क के विषय में कतिपय अन्य तथ्य ध्यातव्य हैं :-

(क) जिस ऊह को तर्क कहा जाता है उसका लक्षण करते हुए विश्वनाथ पञ्चानन का कथन है : ऊह तर्कणा क्रिया के अनुभव से प्रमाणित है। ऊहत्त्व मानसत्व का व्याप्य जाति विशेष है।
ऊहत्त्वं च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषः तर्कयामि इत्यनुभवसिद्धः।

(ख) तर्क न्याय प्रमाणों का अनुग्रह करता है। तार्किक रक्षा के अनुसार पक्ष में विपक्ष की जिज्ञासा का विच्छेद ही तर्क का अनुग्रह है।
पक्षे विपक्ष जिज्ञासा विच्छेदस्तदनुग्रहः।

(ग) उसी ग्रन्थ में कहा गया है कि व्याप्ति, तर्क का अनुच्छेद, विपर्यय में अन्त, अनिष्ट प्रसङ्ग और प्रतिकूलत्व ये पाँच तर्क के अङ्ग होते हैं।

इन पाँच अङ्गों का अन्य ग्रंथों के आधार पर विचार अपेक्षित है -

१. व्याप्ति ज्ञान में तर्क को उपयोगिता का निदर्शन करते हुए विश्वनाथ कहते हैं : व्याप्ति ज्ञान में कहीं-कहीं तर्क द्वारा शंका का निवारण होता है।
२. तर्क का अप्रतिहत रहना आवश्यक है। जब तक शंका का उच्छेद नहीं हो जाता तब तक तर्क का क्रम विछिन्न नहीं होता।
३. विपर्यय अथवा अप्रमा में ही तर्क का अन्त होता है, क्योंकि संशय के अनन्तर और निर्णय के पूर्व तर्क की गति रहती है।
४. नव्य न्याय के आचार्य केशव मिश्र अनिष्ट प्रसङ्ग को तर्क कहते हैं (तर्कोनिष्ट प्रसङ्गः) क्योंकि व्याप्त को अङ्गीकार करके अनिष्ट व्यापक का प्रसङ्ग लाया जाता है।

५. तर्क निर्णय के विपरीत प्रसंग लाने का कार्य करता है। अतःउसे परिभाषित करते हुए अन्नंभट्ट कहते हैं : व्याप्त के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। जैसे यदि अग्नि न हो तो धूम भी न हो। यहाँ अग्नि का अभाव व्याप्य है उसके आरोप के अनन्तर व्यापक धूमाभाव का आरोप किया जाता है।[१०]
व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्नि न स्यात् तर्हि धूमोपि न स्यादिति। - तर्कसंग्रह, पृ. ५६.

(घ) महान् नैयायिक उदयन ने अपनी कृति "आत्मतत्त्वविवेक" में और विश्वनाथ ने लक्षणसूत्र की वृत्ति में तर्क के पाँच भेद स्वीकार किये हैं, यथा : १. आत्माश्रय, २. इतरेतराश्रय, ३. चकक, ४. अनवस्था और ५. अनिष्ट प्रसङ्ग।

आत्माश्रय : तार्किकरक्षा में वरदराज ने लिखा है : "आत्माश्रयादि भेदेन तर्क पंचविध स्मृतः।" इस अनिष्ट प्रसङ्ग की अन्य संज्ञा है बाधित प्रसङ्ग। प्रमाण से बाधित अनिष्ट, अस्वीकृत पदार्थ की आपत्ति ही बाधितार्थ प्रसङ्ग है। तथापि प्रत्येक तर्क वैशिष्ट्य सम्मत होने के कारण स्वतन्त्र रूप से उल्लिखित होता है। अपनी अपेक्षा से आपत्ति उत्पन्न करने वाले अनिष्ट प्रसंग को आत्माश्रय तर्क कहते हैं (स्वापेक्षापादकोनिष्ट प्रसङ्ग आत्माश्रय)। ज्ञान उत्पत्ति और स्थिति को लेकर अपेक्षा तीन प्रकार से बनती है। अतः आत्माश्रय तर्क तीन प्रकार का हो जाता है। जैसे, यह घटज्ञान यदि इसी घट के ज्ञान से उत्पन्न होता तो इस घटज्ञान से भिन्न होता। यहाँ ज्ञान की अपेक्षा से अनिष्ट प्रसङ्ग हुआ है। यह घट यदि इसी घट से उत्पन्न होता तो इस घट से भिन्न होता। यहाँ उत्पत्ति को लेकर अनिष्ट प्रसङ्ग है। यह घटं यदि इस घटं में ही होता तो इस रूप में न होता। यहाँ स्थिति की अपेक्षा में अनिष्ट प्रसङ्ग है। अर्थात् अपनी उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञान में अव्यवहित पूर्व क्षण में अपनी अपेक्षा करनेवाले पदार्थ (घट) से जिस अनिष्ट की आपत्ति होती है उसे ही आत्माश्रय भेद कहते हैं। अन्य यद्ययं घट एतद् घटजन्य स्यात् एतद् घटानधि कारणोत्तरक्षवर्त्ती। शब्दों में किसी वस्तु को उसी के आधार पर प्रतिपादित किया जाना आत्माश्रय दोष कहलाता है (स्वनैवे स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रय दूषणम्)।

इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय : अपनी अपेक्षा से अपेक्षित अन्य पदार्थ के कारण जो अनिष्ट प्रसंग उपस्थित होता है उसे इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय

तर्क की संज्ञा दी जाती है। इसमें भी ज्ञान उत्पत्ति और स्थिति की अपेक्षा होती है। जैसे यदि यह घट अपने ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का विषय होता है तो इस पट से भिन्न होता। यहाँ ज्ञान की अपेक्षा से इतरेतराश्रय है। यदि वह घट अपने से उत्पन्न घट से उत्पन्न होता है तो इस घट से भिन्न होता। यहाँ उत्पत्ति-सापेक्ष अनिष्ट प्रसंग है। इसी प्रकार स्थिति सापेक्षता होती है - यह घट यदि इस घट से उत्पन्न घट में होता तो इस घट से भिन्न होता। अन्य शब्दों में जहाँ दो लक्षण अपनी सिद्धि हेतु परस्पराश्रित होंगे वहाँ इतरेतराश्रय भेद या दोष होता है और उस दोष की उपेक्षा करते हुए उसी पर आश्रित जो तर्क प्रस्तुत किया जाता है वह इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय तर्क है।

चक्रक : जहाँ अपने अपेक्षणीय से अपेक्षित सापेक्षता के कारण अनिष्ट प्रसंग हो वहाँ चक्रक नामक तर्क होता है। दो या दो से अधिक पदार्थों की अपेक्षा कर अंत में पुनः अपनी ही अपेक्षा हो जाने पर जिस अनिष्ट की आपत्ति होती है वही चक्रक है। अन्य शब्दों में जहाँ अनेक पदार्थ परस्पर सापेक्ष भाव से चक्राकार रूप में अवलम्बित हों वहाँ चक्रक भेद उपस्थित होता है।

अनवस्था : वृत्तिकार के शब्दों में अनवस्था तर्क की परिभाषा इस प्रकार है : ''अनवस्था च अव्यवस्थित परम्परारोपाधीनानिष्टप्रसङ्गः'' अर्थात् अव्यवस्थित परम्परा के आरोप से अनिष्ट प्रसंग को अनवस्था तर्क कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि घटत्व घटजन्यत्व का व्याप्य होता तो कपाल समवेतत्व का व्याप्य न होता। अथवा घटत्व यदि सभी घटों के कारण में स्थित होता तो घटजन्य कपालादि में स्थित न होता।

प्रमाणबाधितार्थक प्रसङ्ग : उक्त चार से भिन्न यह तर्क कहीं व्याप्तिग्राहक होता है और कहीं विषय का परिशोधक। जैसे, यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि का कार्य न होता। यह व्याप्तिग्रहण में सहायक तर्क है। यह विषय शोधक तर्क है क्योंकि इसके द्वारा वह्नि आदि विषय का निश्चय किया जाता है।

(ड) सर्वदर्शनसंग्रह में ग्यारह प्रकार के तर्क परिगणित हैं।[११] इनमें से पाँच तर्कों का विवेचन हो चुका है शेष हैं - व्याघात, कल्पना लाघव, कल्पना गौरव, उत्सर्ग, अपवाद और वैजात्य। कल्पना लाघव और कल्पना गौरव में युक्ति का संक्षेप या विस्तार होता है और उत्सर्ग सामान्य नियम है, जबकि अपवाद विशेष नियम है। वैजात्य विलक्षणता की संज्ञा है। व्याघात असम्बद्ध अर्थवाला वचन है।

नव्य-नैयायिकों के अनुसार व्याघात आदि कोई युक्ति नहीं प्रस्तुत करते, अतः पाँच ही तर्क हो सकते हैं। ऊपर जो परिभाषाएँ दी गई हैं वे यदि किसी अंश में न्यून हों तो तर्काभास होता है। तर्काभास को तर्कपराहति भी कहते हैं।

वैशेषिक :

वैशेषिक सूत्र में अप्रमा के लिए अविद्या शब्द का उल्लेख हुआ है।[१२] प्रशस्तपाद ने अविद्या के जो चार भेद बताए हैं उनमें तर्क का ग्रहण नहीं है,[१३] जबकि परवर्ती नैयायिकों ने उसे अप्रमा में संशय और विपर्यय के साथ परिगणित किया है। न्यायकन्दली में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए संशय और निर्णय के मध्य तर्क की प्रतीति प्रमाणित है।[१४]

सिद्धान्त पक्ष की अवतारणा करते हुए कन्दलीकार यह प्रश्न उठाते हैं कि परपक्ष के अभाव की प्रतीति तर्क है या स्वपक्ष की सम्भावना ? प्रथम पक्ष में तर्क प्रमाण ही है। द्वितीय पक्ष में पुनः प्रश्न उठता है कि इसकी उत्पत्ति में कारण क्या है ? स्वपक्ष साधक प्रमाण से पूर्व तर्क को माना जाता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष आता है कि तर्क से विवेचित विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति है और प्रमाण से तर्क की उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाए कि विपक्ष के अभाव की प्रतीति के अनन्तर स्वपक्ष की सम्भावना का जन्म होता है, अतः विपक्षाभाव की प्रतीति ही तर्क का कारण है, तो तर्क का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जायेगा। प्रतिपक्षी पुनः कह सकता है कि तर्क दो पक्षों में से एक पक्ष को अनुज्ञामात्र देता है, अवधारणा नहीं करता। यह संशय भी नहीं है, क्योंकि इसमें उभय कोटि का स्पर्श नहीं होता, अतः संशय से प्रच्युत और निर्णय को अप्राप्य सम्भावना (तर्क) अप्रमा है। इस पर आक्षेप करते हुए कन्दलीकार का दृढ मत है कि अन्वय तथा व्यतिरेक से विपक्षाभाव की प्रतीति प्रमाणयोग्य निश्चय रूप अनुमान है। यह अनुमान सभी प्रमाणों का अनुग्राहक हो सकता है। अनुग्राहकता के बिना सम्भावना अनर्थक होगी।

मीमांसा :

मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद तर्कपाद अवश्य कहलाता है, किन्तु सूत्र और भाष्य में तर्क पर विशेष विचार नहीं किया गया है। हाँ, परवर्ती मीमांसकों ने तर्क को प्रमाणों का अनुग्राहक माना है। सम्भवतः इसी अनुग्राहकता को ध्यान में रखते हुए कुमारिल को कहना पडा कि जो पदार्थ किसी का साधकतम कारण कहा जाता है उसे अनुग्राहक की अपेक्षा होती है। लोक में ऐसा कोई कारण नहीं होता जिसे साध्य की सिद्धि में अनुग्राहक की

अपेक्षा न हो। जैसे, प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय को प्रकाश के अनुग्रह की अपेक्षा होती है।[१५] गागाभट्ट ने कहा है कि व्याप्तिज्ञान में तर्क द्वारा व्यभिचार की शंका को निवृत्त किया जाता है (व्याप्यारोपेण व्यापकारोपद्वाराअनिष्ट प्रसञ्जनं तर्क - न्या.को.)। वस्तुत तर्क व्याघातरूप होता है! जहाँ शंका नहीं होती, वहाँ तर्क की अपेक्षा नहीं रहती।

सायण माधव का कथन है कि कहीं-कहीं तर्क शब्द प्रमाण का अनुग्राहक होता है। नारायण तर्क को परिभाषित करते हुए कहते हैं : प्रमाण द्वारा जिस अर्थ को सिद्ध किया जा रहा हो, उसके अन्यथाभाव की शंका के निवारणार्थ अन्यथाभाव में दोषकथन तर्क है।[१६] इसी कारणवश तर्क को अनिष्ट प्रसंग कहते हैं। इसके पाँच अंग हैं। अंगों में से किसी अंग की विकलता होने से तर्काभास होता है, अतः पाँच प्रकार के तर्काभास बनते हैं :

१. व्याप्ति का अभाव
२. तर्क प्रतिहति तर्क
३. विपर्यय में अवसान न होना
४. विपक्षी द्वारा तर्क की इष्ट-रूप में स्वीकारोक्ति
५. प्रतिपक्षी के अनुकूल तर्क।

तर्क के आत्माश्रय आदि विविध भेद नारायण ने वे ही परिगणित किए हैं जो न्याय में आ चुके हैं। इसके अनन्तर उन्होंने स्पष्ट किया है कि तर्क व्याप्ति का शोधक होता है। जब तक व्याप्ति शुद्ध न हो जाय तब तक तर्क और प्रतितर्क कर सकते हैं। तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक होता है (तस्मात्सर्वप्रमाणानां तर्कोनुग्राहकः स्थितः - मा. मे., पृ. ४५)।

वेदान्त :

शांकरभाष्य में तर्क का ग्रहण अनुमानार्थक रूप में ही हुआ है। आचार्य शंकर की दृष्टि में तर्क आगम की अपेक्षा दुर्बल है। आगमशून्य तर्क पुरुष की कल्पना मात्र पर स्थित होते हैं और कल्पना निरंकुश होती है। अर्थात् तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, क्योंकि एक तर्क के विपरीत दूसरा तर्क अनुमेय को सिद्ध कर देता है।

तर्काप्रतिष्ठान'दप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्याविमोक्ष प्रसङ्गः।[१७]

इस जगत् में कोई यत्न से उत्प्रेक्षा करके तर्क खडा करता है, दूसरा उससे भी आगे बढ कर प्रथम को तर्काभास सिद्ध कर के अन्य तर्क प्रतिष्ठित कर देता है। अन्य किसी के द्वारा दूसरे को भी तर्काभास सिद्ध करके अन्य ही

तर्क खडा कर लिया जाता है। अतः तर्क व्यवस्थाविहीन है, क्योंकि वह पुरुष की बौद्धिक विविधता से रूपाकार ग्रहण करता है। इस सूत्र पर शंकर ने जो अनेक सांक्ष्य प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्रमुखतः तीन दृष्टव्य हैं :

१. महाभाग कपिल का सम्मत तर्क लिया जाए तो कभी महर्षि कणाद द्वारा विप्रतिपत्ति देखी जाती है।

२. तर्क न केवल अप्रतिष्ठित है अपितु तर्क से ही तर्कों की अप्रतिष्ठा परस्पर आचार्यों द्वारा सिद्ध की जाती है। इस प्रकार जब कुछ तर्क अप्रतिष्ठित हो जाते हैं तब सभी तर्कों पर संशय खडा हो जाता है।

३. यद्यपि यह व्यावहारिक सत्य है कि तर्क के आधार पर सुख प्राप्ति और दुःख परिहार की लोकयात्रा बनती है। और मनु सदृश धर्माचार्यों ने भी तर्क की महिमा स्वीकार की है,[१८] अतः अप्रतिष्ठित होना उस तर्क का अलंकार है। विवेकी पुरुष को चाहिए कि सदोष तर्क का परित्याग करके निर्दोष तर्क स्वीकार करे। आचार्य शंकर यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इसे मान्य करके भी मोक्ष को तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्मविद्या के सन्दर्भ में वेदान्तसूत्र का तर्कपाद अन्य मतों के खण्डन में क्यों प्रवृत्त होता है ? प्रत्युत्तर में आचार्य शंकर कहते हैं - दार्शनिकों ने वेदों के मंत्रों के उद्धरण दे-देकर अपने-अपने मतों को सम्यक् ज्ञान का शास्त्र सिद्ध किया है। इस भ्रम के निराकरण हेतु तर्क द्वारा ही विपक्षियों के तर्कों का खण्डन ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं के लिए अत्यावश्यक हो जाता है।[१९]

वेदान्त के दूसरे प्रमुख आचार्य रामानुज, आचार्य शंकर की भाँति तर्क को पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न मानते हुए यह स्वीकार करते हैं कि देश और काल के भेद से लोग अन्य तर्क की उद्भावना कर लेते हैं, अतः अतीन्द्रिय वस्तु में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के संवर्द्धन हेतु ही तर्क उपादेय हुआ करता है, अतएव मनु ने भी वेदरूप शास्त्र के अविरोधी तर्क के अनुसन्धान का महत्त्व स्वीकार किया है।

वेदान्त के तीसरे प्रमुख आचार्य मध्व तर्क को अनुमान का ही एक प्रकार मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में : ''व्याप्ताङ्गीकारेनिष्ट प्रसज्जनं तर्क'' व्याप्त के अङ्गीकार में अनिष्ट प्रसंग तर्क है।[२०]

प्रामाणिक हान और अप्रामाणिक कल्पन के रूप में अनिष्ट के क्रमशः

चार भेद यहाँ दृष्टव्य हैं :

१. श्रुतहान - यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो जगत्कर्ता भी नहीं हो सकता।
२. दृष्टहान - यदि पर्वत अनग्नि होता तो निर्धूम होता।
३. अश्रुत कल्पन - यदि ईश्वर जीव से अभिन्न होता तो दुःखी होता।
४. अदृष्ट कल्पन - यदि पिया हुआ जल भीतर जलाता तो मुझे भी जला देता।

व्याकरण :

वेदान्तिकों की भाँति वैयाकरणों ने तर्क को अनुमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागम पूर्वकम्॥

आगम रहित तर्कद्वारा धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती। ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक ही होता है।[२१] स्वोपज्ञ टीका में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि धर्म तर्कातीत है। धर्म-संस्कार-सम्पन्न ऋषियों को ही तत्त्वज्ञान होता है। आगे भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि धर्म के अविच्छिन्न मार्ग व्यवस्थित होते हैं। उन्हें लोकप्रसिद्ध मानकर तर्क द्वारा बाधित नहीं किया जाता।[२२]

सतो विवक्षा परार्थ व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते।

तर्क द्वारा ही विविध विभाग करके न्याय स्थापित किया जाता है। कहीं-कहीं सत् की उपेक्षा कर दी जाती है और कहीं उनका समावेश कर लिया जाता है। तर्क से ही लाक्षणिक अर्थ निकाला जाता है, परन्तु यह शब्द से भिन्न शक्ति नहीं है।[२३]

शब्दानामेव सा सशक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः ।
शब्दाननुगतो न्यायो नागभेष्य निबन्धनः ॥

पुरुष में रहने वाला तर्क शब्दों की ही शक्ति है क्योंकि कोई न्याय ऐसा नहीं होता जो शब्द से अनुगत न हो। आगमहीन तर्क निराधार है। अतएव स्वोपज्ञ टीका में कहा गया है कि जिस तर्क में शब्द शक्ति का अनुग्रह नहीं होता और जो साधर्म्य-वैधर्म्य मात्र का अनुसरण करता है वह शुष्क तर्क है, जो सभी आगमों के उपघात का कारण होता है।[२४]

सांख्य :

सांख्य के प्रत्यय सर्ग के अन्तर्गत आठ सिद्धियों में ऊह का प्रथम स्थान है। यद्यपि सांख्यसूत्र और भाष्य में उसका तर्क अर्थ नहीं किया गया

है,[२५] फिर भी तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र का यह मन्तव्य दृष्टव्य है :

ऊहस्तर्क आगमाविरोधि न्यायेनागमार्थपरीक्षणं परीक्षणं च।
संशयपूर्वक निराकरणेनोत्तर पक्ष व्यवस्थापनम् तदिदं
मननाचक्षते आगमिनः॥

आगमानुकूल न्याय से आगम के अर्थ का परीक्षण ऊह या तर्क है। इसी को मनन कहते हैं। संशय और पूर्वपक्ष का निराकरण कर के उत्तरपक्ष को प्रतिष्ठित करना परीक्षण है। वाचस्पति मिश्र ने मनन और उत्तरपक्ष की व्यवस्था कह कर तर्क को निर्णय के समीप मान्य किया है। परन्तु सिद्धि का भेद होने के कारण यह निर्णय को भी अन्तर्भूत कर लेता है।

जैन :

माणिक्यनंदी ने तीन सूत्रों में ऊह पर विचार किया है। प्रभाचन्द्र ने टीका में उसे तर्क बतलाया है। परिभाषा सूत्र इस प्रकार है :

उपालम्भानुपलम्भानिमित्तं व्याप्ति ज्ञानमूहः ।

व्याप्तिज्ञान को ऊह या तर्क कहते हैं जिसके उपलब्धि और अनुपलब्धि दो कारण हैं। आगे सूत्र में तर्क के स्वरूप को इन शब्दों के द्वारा स्पष्ट किया गया है :

इदमस्मिन सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति।

यह इसके होने पर ही होता है, न होने पर नहीं ही होता। जैसे, आग होने पर ही धूम होता है, उसके न होने पर नहीं ही होता। प्रभाचन्द्र कहते हैं : प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तर्क भी प्रमाण ही है।[२६]

काव्यशास्त्र :

काव्यशास्त्र में एक व्यभिचार भाव ''वितर्क'' कहलाता है। भरत उसकी परिभाषा इन शब्दों में देते हैं :

वितर्को नाम सन्देह-विमर्श-विप्रतिपत्त्यादिभिर्विभावैदुत्पद्यते।
विचारणादि सम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः।
वितर्कः सोभिने यस्तु शिरोभ्रक्षेण कम्पनैः।

वितर्क भाव सन्देह विमर्श और विप्रतिपत्ति आदि कारणों से उत्पन्न होता है। उसमें सन्देह का अतिशय रहता है।[२७] भ्रूविक्षेप, कम्प और शिरश्चालन द्वारा उसका अभिनय किया जाता है। इस लक्षण को हम न्याय दर्शन के प्रसंग में देख चुके हैं। पंडितराज जगन्नाथ नाट्यशास्त्र की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न निश्चयानुकूल ऊह वितर्क है।[२८]

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्क स च निश्चयानुकूलः

विशेष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रों में तर्क शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। ऊह, विशेष, अनुमान, तत्त्वमीमांसा और आगमार्थ परीक्षण जैसे अर्थ ऊपर उल्लिखित हुए हैं। न्याय और वैशेषिक शास्त्र को भी तर्क ही कहा जाता है। अन्नंभट्ट ने मङ्गल श्लोक की दीपिका में कहा है : तर्कित या प्रतिपादित किये जाने वाले पदार्थों को तर्क कहते हैं।[२९] इससे स्पष्ट है कि तर्क विद्या पदार्थों के प्रतिपादन का शास्त्र है।

डॉ. सुरेन्द्र सिंह नेगी

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग,
डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. **ऋग्वेद**, १०/७/८.
२. **निरुक्त** १३/१२.
३. **अमरकोश** १/५/३.
४. **पाराशर** गृ.स. २/६/५; **गौतम धर्म** सूत्र ११/२५.
५. **छान्दोग्य** २/९.
६. **न्यायसूत्र** १/१/४०.
७. वही. १/१/४१.
८. **न्यायमंजरी**, भाग २, पृ. १४४-४८ तथा पृ. १४५.
९. वही, पृ. १४८.
१०. **तर्कसंग्रह**, पृ. ५६.
११. **सर्वदर्शनसंग्रह**, पृ. २३९.
१२. **वैशे. स.** ४/१/५; ७/१/२१.
१३. **प्रशस्तपादभाष्य**, पृ. ४११.
१४. देखिये वही, पृ. ४१५-४१९.
१५. **श्लोक. वा.** सम्बन्ध ३६-३७.
१६. **जैमिनीय न्यायमाला** विस्तर २/१/३; प्रमाणेन साध्यमानस्यार्थस्य अन्यथात्वशङ्कायां तन्निरासार्थम् अन्यथात्वे दोष कथनं तर्क - मा.

मे., पृ. ३५.
१७. **ब्रह्मसूत्र**, २/१/११.
१८. **मनु**., १२/१०६.
१९. **ब्रह्मसूत्र**, २/२/१.
२०. द. प्र., भाग १, पृ. ५४.
२१. **वाक्यपदीय**, १/३०.
२२. वही, १/३१.
२३. वही, १/३६.
२४. वही, १/३७.
२५. देखिये, सांख्यकारिका ३१; ३/४४.
२६. देखिये, प्रकमा. ३/११, ३/१२ एवं ३/१३.
२७. **का. शा.**, ७/९२.
२८. रगं, पृ. १११.
२९. तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति तर्का द्रव्यादिसप्तपदार्थाः।

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति - ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

भारतीय चिन्तन में देह की अवधारणा - एक दृष्टि

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है इसलिए उसके मन में निरन्तर जीवन, देह आत्मा के सन्दर्भ में नाना प्रश्न एवं जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती रहती हैं - मैं क्या हूँ ? शरीर तत्त्व क्या है ? उत्पत्ति/जन्म के बाद शरीर का स्वरूप, मृत्यूपरान्त शरीर का स्वरूप क्या है ? आदि-आदि प्रश्नों और जिज्ञासाओं के समाधान ''दर्शनशास्त्र'' में उपलब्ध होते हैं। दर्शन मानव संस्कृति का मूल स्तम्भ है। जीवन को यथार्थ रूप में देखने व समझने की वास्तविक दृष्टि प्रदान करता है।

समस्त प्राणियों में सर्वाधिक बौद्धिक क्षमता रखनेवाला मानव ही है। मानव में विभिन्न वस्तुओं को जानने की जिज्ञासा एवं कौतुहल है। मानव की यही कौतुहल एवं संशयात्मक प्रवृत्ति ही सार्वभौमिक सिद्धान्त खोजने की प्रवृत्ति रही है। इसी जिज्ञासा प्रवृत्ति के कारण हमने भारतीयदर्शन पर दृष्टिपात करते समय यह जाना कि भारतीयदर्शन में आत्मा के प्रत्यय पर तो विशद् चर्चा हुई है परन्तु देह की अवधारणा पर स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक विवेचन बहुत कम हुआ है। देह के प्रत्यय पर जो भी विवेचना हुई वह गौण रूप से हुई है तथा वह भी नकारात्मक सन्दर्भ में। क्योंकि प्रमुख रूप से यहाँ आत्मा और मोक्ष के प्रत्यय हीं विचार के विषय रहे हैं। दूसरे शब्दों में, चार्वाक को छोडकर सभी दार्शनिक तन्त्र आत्मा के बारे में विभिन्न प्रश्न उठाते रहें हैं जैसे कि - आत्मा का स्वरूप क्या है ? आत्मा तथा अनात्मा में क्या सम्बन्ध है ? आत्मा के स्वरूप को कैसे जाना जा सकता है ? आदि-आदि। परन्तु देह क्या है, यह प्रश्न उनके लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

यद्यपि देह/शरीर पर विचार उपनिषदों - ईशावास्योपनिषद् (मन्त्र-१७), मुण्डकोपनिषद् (३.१.१,२), ऐतरेयोपनिषद् (१.२.१,२,३), कठोपनिषद् (२.२.७) में मिलता है परन्तु यह चर्चा मात्र विवरणात्मक है। यहाँ पर भी देह से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्नों को उभारा नहीं गया है। इसी प्रकार अन्य भारतीय दार्शनिक तन्त्रों में जो भी चर्चा है वह भी विमर्शात्मक नहीं कही जा सकती।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३ अंक १, दिसम्बर २००१

स्पष्टता के लिए हम यहाँ विभिन्न दार्शनिक तन्त्रों में इस बिन्दु पर उपलब्ध विचारों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

न्याय-दर्शन के अनुसार शरीर चेष्टा, इन्द्रियों और अर्थों का आश्रय और भोग का स्थान है। इनके अनुसार शरीर दो प्रकार के हैं - योनिज एवं अयोनिज। देवताओं की देह को अयोनिज कहते हैं। वीर्य एवं रक्त का नाम योनि है तथा उससे उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है। योनिज देह चार प्रकार की होती है - १. जरायुज, २. अण्डज, ३. स्वेदज एवं ४. उद्भिज । न्यायदर्शन भी देह को दुःखों का कारण मानता है।

योग-दर्शन में शरीर को स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण के रूप में विभाजित किया गया है। इनके अनुसार संसार दुःखमय है। संसार में आते ही जीव को दुःख के अथांग सागर से जूझना पडता है। योग देह को मुक्तिप्राप्ति में साधन के रूप में प्रयोग करता है। इसी प्रकार तन्त्र में भी देह को साधन के रूप में प्रयोग किया गया है। योग के अनुसार योगाभ्यास ही विवेक ज्ञान का साधन है। इससे शरीर एवं मन की शुद्धि हो जाती है। योग के तीन प्रमुख मार्ग हैं - ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग। योगदर्शन योगाभ्यास के लिए एक पूर्ण मार्ग की चर्चा करता है जिसमें शरीर की महती भूमिका होती है।

अद्वैत-वेदान्त में शरीर को स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर के रूप में विभाजित किया गया है और इन शरीरों को क्रमशः पंचकोष-सिद्धान्त और चित्त की अवस्थाओं से जोडा गया है। जो इस प्रकार है -

शरीर	कोष	अवस्था
कारण शरीर →	आनन्दमय कोष →	सुषुप्ति अवस्था
सूक्ष्म शरीर →	विज्ञानमय कोष मनोमय कोष → प्राणमय कोष	स्वप्न अवस्था
स्थूल शरीर →	अन्नमय कोष →	जाग्रत अवस्था

इन तीनों अवस्थाओं के ऊपर तुरीय अवस्था है जो पूर्ण आनन्द की अवस्था है। अद्वैत-वेदान्त की प्रमुख रुचि ब्रह्मन् के स्वरूप पर चर्चा करना है। ब्रह्मन्/आत्मन् से इतर कोई भी सत् नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्मन्

ही सत्य है। व्यावहारिक जगत् के प्रति ब्रह्मज्ञानी का तटस्थता का भाव होता है। चूँकि देह की चर्चा का सम्बन्ध व्यवहारिक जगत् से है अतः उसके प्रति तटस्थता का भाव होना स्वभाविक है।

विशिष्टाद्वैत (रामानुज) दर्शन में देह के प्रति एक सकारात्मक दृष्टि बन सकती है क्योंकि संसार का उपादान कारण ईश्वर है जो ईश्वर के अचित् तत्त्व से निर्मित है। लेकिन रामानुज भी दो प्रकार के अचित् तत्त्वों की बात करते हैं - वह अचित् जिससे बैकुण्ड आदि निर्मित होते हैं और दूसरे प्रकार के अचित् तत्त्व से संसार आदि। इस प्रकार यहाँ भी देह के प्रति नकारात्मक दृष्टि ही है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन के अनुसार यह शरीर दूषित तत्त्वों माँस, रक्त, अस्थियों से बना है और अशुद्ध है। यह शरीर उतना ही घृणित एवं अपवित्र है जितना मृत शरीर। विभिन्न प्रकार के दुःख, कष्ट, रोग, तृष्णा, वेदना का कारण यह शरीर है। यह शरीर मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। यहाँ भी देह के प्रति नकारात्मक दृष्टि पायी जाती है।

देह से सम्बन्धित चार्वाक दर्शन ही एकमात्र दर्शन है जो देह को महत्ता देता है। चार्वाक के अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र तन्त्र नहीं है। चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों के संयोग से होती है। चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है।

देह पर चर्चा आयुर्वेद में भी मिलती है लेकिन देह के विभिन्न अवयवों और उनके प्रकार्यों में एक वैज्ञानिक की जैसी रुचि होती है वैसी दार्शनिक की नहीं होती।

शरीर से सम्बन्धित इन विभिन्न वर्गीकरण और विवेचनाओं, जो काफी व्यापक हैं, के आधार पर निष्कर्ष के रूप में निम्न बातें कही जा सकती हैं - शरीर तत्त्व क्या है ? उत्पत्ति/जन्म के बाद शरीर का स्वरूप, मृत्योपरान्त शरीर का स्वरूप क्या है ? इन वर्गीकरणों में न केवल मानव शरीर की बात गई है वरन् मानवेतर शरीरों (जीवों एवं देवों के शरीर) के वर्गीकरण की बात भी कही गई है। वेदान्तीय वर्गीकरण को मनोदैहिक समग्रता के रूप में लिया जा सकता है अर्थात् जीवन्त शरीर (living-body) के रूप में। पंचकोष सिद्धान्त से शरीर के वर्गीकरण को जोडना शरीर की व्याख्या में अनुभव की प्रधानता को इंगित करता है। शरीर का कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के रूप में वर्गीकरण भेद सम्बन्ध की ओर इंगित करता है।

अन्त में देह पर उपरोक्त संक्षिप्त चर्चा के आधार पर निम्न दृष्टियाँ सामने आती हैं -

१. नकारात्मक दृष्टि अर्थात् आत्मा की तुलना में देह हेय है। (जैन एवं बौद्ध)
२. साधन दृष्टि अर्थात् देह साध्य की प्राप्ति में एक साधन मात्र है। (योग एवं तन्त्र)
३. तटस्थ दृष्टि अर्थात् देह के प्रति तटस्थता का भाव। (अद्वैत वेदान्त)
४. साध्य दृष्टि अर्थात् देह ही साध्य है इसके अतिरिक्त अन्य कोई साध्य नहीं। (चार्वाक)

शिक्षा संकाय
दयालबाग एज्युकेशनल इन्स्टिट्यूट
दयालबाग, आगरा - २८२००५

प्रो. मणि शर्मा
एवं
रूपाली श्रीवास्तव

टिप्पणियाँ

१. अशोक कुमार लॉड, **भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन** पृ. १७३-१७४
२. **ईशावास्योपनिषद्** - (मन्त्र-१७) पृ. ४१
३. एस.एन. दासगुप्ता, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, भाग-१ पृ. १०३
४. वही, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, भाग-१, पृ. १९३
५. वही, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, भाग-१, पृ. २७९-२८०
६. **ऐतरेयोपनिषद्**,१.२.१,२,३, पृ. ३४-३७
७. **कठोपनिषद्**, २.२.७, पृ. १२३
८. धनश्यामदास मलकानी, **वेदान्त ज्ञान मीमांसा**, पृ. ३१-३३
९. वही, पृ. ३६-३७
१०. जयन्त भट्ट, **न्यायमंजरी**, पृ. ५३-५७
११. दत्ता, चटर्जी **भारतीय-दर्शन**, पृ. १२३
१२. नन्द किशोर देवराज, **भारतीय दर्शन**, पृ. १६०-१६१
१३. वही, पृ. ३९८
१४. **मुण्डकोपनिषद्** (३.१.१,२), पृ. ८३, ८४
१५. सदानन्द, **वेदान्तसार** पृ. ३७
१६. वही, पृ. ३७
१७. स्वामी पिताम्बरनन्द, ***द कान्सेप्ट ऑफ बॉडी इन वेदान्त*** (लेख)

जैनदर्शन में नैगमनय और उसका विकास

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है। इसके पुरस्कर्ता जैन आचार्यों ने साहित्य की प्रत्येक विधा की तरह प्रत्येक दार्शनिक एवं तात्त्विक विषय पर गहन एवं स्वतंत्र विवेचन भी प्रस्तुत किया है। प्रमाण की तरह अनेक ग्रन्थों में स्वतंत्र एवं विविध विषयों के साथ 'नय' का विवेचन किया गया है। 'नय' को समझे बिना जैन आगम का हार्द हृदयंगम होना मुश्किल है और नय का सम्यक् स्वरूप जाननेवालों का उसमें प्रवेश सहज हो जाता है। वीरसेनाचार्य कहते हैं - (धवला-१/१/१, गा. ६८)

णत्थि णएहिं विदूणं सुत्तं अत्थो व जिनवरमदम्हि ।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए।

जैन दर्शन के अनुसार जिनतत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान करके मुमुक्षु मोक्षमार्ग में लगता है, उन तत्त्वों का अधिगम ज्ञान से होता है। यही ज्ञान अधिगम के उपायों को प्रमाण और नय इन दो रूपों में विभाजित कर देता है। अतः अधिगम के उपायों में प्रमाण के साथ नयों का भी निर्देश है। उमास्वामि ने तत्त्वार्थसूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगमः' (सूत्र १..६) कहकर प्रमाण और 'नय' को ही तत्त्वाधिगम के मूल दो भेद बताये हैं।

'स्यात्' पद से मुद्रित परमागतरूप श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान एक प्रमाण है, तथापि उसके भेद नय हैं। इसी कारण श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहा गया है। ज्ञांता के अभिप्राय को भी नय कहा जाता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है, और नय अंशग्राही। प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ के एक अंश को 'नय' अपना विषय बनाता है। इस तरह कहा जा सकता है कि जिससे वस्तु तत्त्व का निर्णय किया जाता है, उसे सम्यक् रूप से जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं तथा ज्ञाता का वह अभिप्राय विशेष 'नय' कहलाता है जो प्रमाण के द्वारा जानी गयी वस्तु के एक देश का स्पर्श करता है।

शास्त्रों में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयों को मूल नय कहा है। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथों में निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो नय मुख्य रूप से प्रतिपादित हैं, जो प्रकारान्तर से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का ही दूसरा रूप हैं। शास्त्रीय ग्रंथों में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ एवं एवंभूत (तत्त्वार्थसूत्र १/३३) इस प्रकार नय के सात भेद माने हैं। इनमें इन सातों नय का विषय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। इस प्रकार प्रथम नैगम नय विषय को ग्रहण करने को दृष्टि से सबसे बडा व विस्तृत है।

नैगमनय के लक्षण को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। इसका विषय अत्यन्त विशाल होने से यह ज्ञाननय भी है और अर्थनय भी है। ज्ञाननय होने के कारण यह वस्तु की त्रिकाली पर्यायों को ग्रहण या संकल्प करने में समर्थ है। वस्तु में वे पर्याये भले ही विनष्ट हो चुके हों या अभी उत्पन्न नहीं हुए हों परन्तु यह नय सर्वगुणों की त्रिकाल गोचर पर्यायों को एक माला के रूप में गूँथकर उसे प्रस्तुत कर सकता है।

जैसे - हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है कि ''आप किस काम के लिए जा रहे हैं ?'' वह कहता है कि ''प्रस्थ (अनाज नापने वाला लकडी का पात्र) लेने के लिए जा रहा हूँ।'' यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है। केवल बनाने का संकल्प होने से उसमें (जिस काठ को लेने जा रह है उसमें) प्रस्थ व्यवहार किया गया है। इस प्रकार अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करना नैगमनय का कार्य है।

अर्थनय के अन्तर्गत इसे द्रव्यार्थिक के रूप में ग्रहण किया जाता है। इसके अनुसार द्रव्य को सामान्य विशेषात्मक रूप से नैगमनय स्वीकार करता है। तथा, दो धर्म अथवा दो धर्मों अथवा एक धर्म और एक धर्मी में प्रधान और गौणता की विवक्षा करने को नैगम कहते हैं।

आगम काल से ही प्रसिद्ध इस नैगम नय की महत्ता पर विचार करते हुये जैन दार्शनिकों ने इस पर बहुत चिन्तन किया हैं और इसका एक निश्चित दिशा में विकास भी किया। अतः जैन दार्शनिकों के इस महत्त्वपूर्ण योगदान का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है।

नैगम नय का विकास

नयों का विकास आगम-काल से ही प्रारंभ हो गया था। यद्यपि भगवती

जैसे प्राचीन आगमों में सात नयों का उल्लेख नहीं है तथापि वहाँ द्रव्यार्थिक और भावार्थिक (पर्यायार्थिक) नयों की चर्चा उपलब्ध है।[१] अनुयोगद्वार सूत्र में सात नयों का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन सातों को मूलनय कहा है।[२]

इन सात नयों में प्रधान नैगम नय है। यहाँ हम उसी की चर्चा करेंगे। नैगम नय को विकास की दृष्टि से हम दो काल विभागों के माध्यम से समझ सकते हैं-(१) आगम युग तथा (२) दर्शन युग

(अ) आगम युग :

अनुयोगद्वारसूत्र में नैगमनय

अनुयोगद्वारसूत्र में नैगमनय के विषय में अनेक दृष्टियों से स्वतंत्र और मौलिक विवेचन किया गया है। इसके अनुसार जो अनेक मानों अर्थात् प्रकारों से वस्तु के स्वरूप को अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है, वह नैगमनय है।[३] नैगमनय को तीन दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया गया है।[४] (१) प्रस्थक दृष्टान्त, (२) वसति दृष्टान्त एवं (३) प्रदेश दृष्टान्त।

नैगमनय को समझाने के लिए प्रस्थक दृष्टान्त का प्रयोग तो परवर्ती दार्शनिकों ने खूब किया किन्तु वसति और प्रदेश दृष्टान्त इन दो दृष्टान्तों का कहीं अन्यत्र उल्लेख है, मुझे ऐसा अब तक ज्ञात नहीं हो सका।

(१) प्रस्थक दृष्टान्त

नैगमनय की दृष्टि से प्रस्थक तथा वसति पर विचार करते हुए अनुयोगद्वारसूत्र में नैगमनय के भी तीन प्रकारों का उल्लेख किया - (१) अविशुद्ध नैगमनय, (२) विशुद्ध नैगमनय (३) विशुद्धतर नैगमनय

इनमें कोई व्यक्ति प्रस्थक निर्माण हेतु काष्ठ लाने के लिए जंगल में जाता है। काष्ठ कारण है और प्रस्थक कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करने से वह कहता है, ''मैं प्रस्थक के लिए जाता हूँ'', यह 'अविशुद्ध नैगमनय' है।[५] (२) काष्ठ काटते समय ''मैं काष्ठ काट रहा हूँ''- यह निरूपण 'विशुद्ध नैगमनय' है।[६] यहाँ भी कारण में कार्य का उपचार है।[७] अविशुद्ध नैगमनय में गमन क्रिया और प्रस्थक में अतिव्यवधान है, इसलिए उसे अविशुद्ध माना गया है। काष्ठ कर्तन और प्रस्थक में कुछ निकटता है, इसलिए उसे 'विशुद्ध नय' माना गया है। (३) काष्ठ को तरासना, उकेरना और प्रमार्जित करना प्रस्थक निर्माण क्रिया के ही अंग हैं। इन क्रियाओं से प्रस्थक का अति नैकट्य होने के कारण इसे 'विशुद्धतरनैगमनय' की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है।[८]

सूत्रकार ने इसी संदर्भ में व्यवहार नय को भी स्वीकार कर लिया। चूँकि व्यवहार नय लोक व्यवहार को मान्य करता है इसलिए व्यवहार नय का दृष्टिकोण नैगम नय के समान ही है।[९] इससे यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ सूत्रकार नैगमनय और व्यवहारनय में कोई विशेष अन्तर महसूस नहीं कर रहे।

(२) वसति दृष्टान्त

प्रस्थक दृष्टान्त जैसी शैली दूसरे वसति दृष्टान्त में भी अपनायी गयी है, तथा वहाँ भी नैगम व्यवहार को एक माना है।

(३) प्रदेशदृष्टान्त

निरंश देश, निर्विभावी भाग, अविभागी परिच्छेद ये प्रदेश के पर्यायवाची शब्द हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव ये अखण्ड द्रव्य हैं। देश उनका कल्पित भाग है तथा प्रदेश उनका परमाणु जितना भाग है। सूत्रकार ने प्रस्थक और वसति दृष्टान्त से समझाते समय अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर का दृष्टिकोण सामने रखा था, किन्तु वे प्रदेश दृष्टान्त में स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर का दृष्टिकोण रखते हैं। नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को मान्य करता है, इसलिए धर्म आदि छह द्रव्यों के प्रदेश स्वीकृत करता है।[१०] यहाँ सूत्रकार ने नैगम नय से व्यवहार नय को पृथक् रखा है।

कसायपाहुड में नैगमनय

गुणधराचार्य द्वारा शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित कसायपाहुड में भी नय का विवेचन है।[११] यतिवृषभाचार्य ने कसायपाहुड के अभिप्राय को समझ कर कसायपाहुड चूर्णि की रचना की है, उसमें नैगमादि नयों को समझाया गया है। चूर्णिकार के अनुसार नैगमनय और संग्रहनय की अपेक्षा क्रोध कषाय द्वेष है, मान कषाय द्वेष है। माया कषाय प्रेय है और लोभ कषाय प्रेय है।[१२] यहाँ चूर्णिकार ने नैगमनय और संग्रहनय को एक अभिप्राय में लिया है। कषाय निक्षेपों का वर्गीकरण करते समय नैगमनय के संदर्भ में कहा कि नैगमनय आठों[१३] प्रकार के कषाय निक्षेपों को स्वीकार करता है। चूँकि नैगमनय भेद और अभेद अथवा संग्रह के द्वारा सर्व लोकवर्ती पदार्थों को विषय करता है अर्थात् समस्त लोकव्यवहार नैगमनय के आश्रित ही चलता है इसलिए उसमें सभी कषाय निक्षेपों का विषय होना स्वाभाविक है।[१४]

षट्खण्डागम में नैगमनय

धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त व भूतबली द्वारा शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित षट्खण्डाम नामक सिद्धान्त ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त है। इसमें चतुर्थ

वेदना खण्ड तथा पंचम वर्गणाखण्ड में नैगमादि नयों का उल्लेख है। विभिन्न विषयों के प्रतिपादन में इनका सहारा लिया गया है।

षट्खण्डागम के चतुर्थ वेदनाखण्ड में वेदना निक्षेप अनुयोगद्वार के अन्तर्गत 'वेदना' शब्द के अनेक अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यह नय भेदों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इसलिए वेदना खण्ड में वेदना नय विभाषणता नामक द्वितीय अधिकार ही बना दिया है।[१५] वेदना नय विभाषणता अधिकार में इस बात का वर्णन किया गया है कि कौनसा नय किन वेदनाओं को स्वीकार करता है।[१६] नैगमनय, व्यवहारनय और संग्रहनय ये तीनों नय नाम वेदना, स्थापना वेदना, द्रव्य वेदना, भाव वेदना इन सभी वेदनाओं को स्वीकार करते हैं।[१७]

यहाँ नैगम, व्यवहार तथा संग्रह इन तीनों नयों को एक श्रेणी में तथा एक अभिप्राय से लिया है। एक बात और उल्लेखनीय है कि सूत्रकार ने नैगम के बाद संग्रह को न लेकर व्यवहार को लेने का क्रम रखा है, तथा व्यवहार के बाद संग्रह का क्रम रखा है। वेदनानामविधान अधिकार में कहा कि नैगम व व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना, दर्शनावरणीय वेदना, वेदनीय वेदना, मोहनीय वेदना, आयु वेदना, नाम वेदना, गोत्र वेदना और अन्तराय वेदना, इस प्रकार वेदना आठ भेद रूप है।[१८] यहाँ नैगम और व्यवहार को एक अभिप्राय में तो लिया ही है साथ ही क्रम भी पूर्ववत् ही रखा। इसी प्रकार सूत्रकार अनेकों स्थानों पर अपेक्षानुसार, आवश्यकतानुसार कहीं नैगम व्यवहार इन दोनों को ही समान अभिप्राय में लेते हैं तो कहीं नैगम, व्यवहार, संग्रह इन तीनों को ही समान अभिप्राय में ले लेते हैं लेकिन यहाँ एक बात और गौर करने लायक लगी कि कहीं भी वर्गीकरण करते समय अकेले नैगम नय के अन्तर्गत कोई भी विषय नहीं रखा। प्रत्येक स्थान पर व्यवहार अथवा संग्रह अथवा दोनों अवश्य ही नैगमनय के साथ रहते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में नैगमनय

आवश्यक निर्युक्ति में सात नयों के लक्षण देते समय वही गाथा उद्धृत की गयी है जो अनुयोगद्वार सूत्र में की गयी थी। इसके साथ एक विचित्र सिद्धान्त यह दिया गया है कि पहले सात नयों की आवश्यकता थी, किन्तु अब उनकी आवश्यकता नहीं है अथवा अधिक से अधिक प्रथम तीन नयों की ही आवश्यकता है क्योंकि पहले आगमों का विषयानुक्रम से विभाजन नहीं हुआ था जबकि अब आर्यरक्षित ने ऐसा विभाजन कर दिया है। इस

वक्तव्य का आशय स्पष्ट नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति में द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा व्यवहार और निश्चय के अतिरिक्त ज्ञाननय और क्रियानय का भी वर्णन है।[१९]

(आ) दर्शनयुग :

(१) तत्त्वार्थसूत्र :

दर्शनयुग में सर्वप्रथम उमास्वामि अथवा उमास्वाति (वि. १-३री शती) ने नयों की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में ही की। दिगम्बर परंपरा में स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामि ने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन सात नयों की चर्चा की है;[२०] किन्तु श्वेतांबर परंपरा में स्वीकृत तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच ही नयों को स्वीकार किया।[२१] समन्तभद्र (वि. २-३ शती) ने नयों की चर्चा तो की है[२२] किन्तु नैगमादि सात नयों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

(२) सन्मतितर्क :

सिद्धसेन दिवाकर (वि. ४-५वीं) ने मूल तो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ये दो नय ही स्वीकृत किये हैं। शेष को भेद माना है।[२३] उन्होंने सन्मतितर्क-प्रकरण में नैगम नय को स्वीकार ही नहीं किया है। सिद्धसेन दिवाकर ने जैन आगमों में प्रसिद्ध सात नयों को स्वीकार न करते हुए उन्होंने संग्रहादि छह नय ही स्वीकृत किये हैं।[२४] दृष्टि का पृथक्करण और उसमें नयों का बँटवारा करने में सिद्धसेन की दो विशेषतायें सामने आयी। एक तो यह कि आगम प्रसिद्ध सात नयों को छह नयों में संकलित करना और दूसरी विशेषता यह है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार द्रव्यास्तिक दृष्टि की जो सीमा ऋजुसूत्रनय तक थी, उसके स्थान पर व्यवहारनय तक ही बाँधना।[२५] इन दो विशेषताओं के कारण सिद्धसेन का मन्तव्य ऐसा फलित होता है कि ''नैगम कोई अलग और स्वतंत्र नय नहीं है, परन्तु संग्रह से एवंभूत तक के छः नय ही स्वतंत्र हैं और द्रव्यास्तिकवाद की मर्यादा व्यवहारनय तक ही है। ऋजुसूत्र से लेकर सभी नय पर्यायास्तिक नय की मर्यादा में आते हैं।

सिद्धसेन के पहले किसीने षट्नयवाद स्वीकृत नहीं किये। इसलिए सिद्धसेन को षड्नयवादी कहते हैं। इतना होते हुये भी इन्हीं सिद्धसेन ने नयों की संख्या सीमा को बाँधने की अनुमति नहीं दी, बल्कि यह कहा कि जितने भी वचन प्रकार हो सकते हैं उतने ही नय प्रकार भी हो सकते हैं।[२६]

(३) द्वादशारनयचक्र :

मल्लवादी (वि. ५-६वीं) ने सात नयों के स्थान पर निम्न बारह नयों की कल्पना की - १. विधिः, २. विधि-विधिः, ३. विथ्युभयम्, ४. विधिः नियमः, ५. विधिनियमौ, ६. विधिनियमविधिः, ७. उभयोभयम्, ८. उभयनियमः, ९. नियमः, १०. नियमविधि, ११ नियमोभयम् और १२. नियमनियमः।[२७]

नयों में दो भेद द्रयार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। नैगमादि सातों नयों का समावेश भी उन्हीं दो नयों में होता है। मल्लवादी ने स्पष्ट किया है कि विधि आदि प्रथम के छह नय द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष पर्यायार्थिक नय हैं। नैगमादि सातों नयों का भी संबंध उन्होंने बतलाया तथा व्यवहार, संग्रह के बाद नैगम नय को तीसरे स्थान में रखते हुए विधि नियमौ तथा विधिनियमविधिः के अन्तर्गत रखा है।[२८]

(४) लघीयस्त्रय :

सामान्य रूप से आगमिक परम्परा में नयों के क्रम में सर्वप्रथम नैगमनय का उल्लेख किया गया है। हमने देखा कि सिद्धसेन ने इस नय को ही स्वीकार नहीं किया। मल्लवादी ने नैगम नय को अपने बारह नयों में स्थापित करते समय चतुर्थ स्थान पर रखा, पर आचार्य अकलंकदेव (वि ७वीं) ने नैगम नय को स्वीकृत तो किया किन्तु नैगमनय को द्वितीय स्थान पर रखा और संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया।[२९]

इसका कारण यह हो सकता है कि आगमिक परम्परा में जो नयों का क्रम निर्धारित किया गया है, वह विषय की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं पूर्व-पूर्व का नय उत्तर-उत्तर नय में हेतु रूप दो दृष्टियों से व्यवस्थित है, किन्तु न्यायशास्त्र में समस्त विरोधियों के वादों का निराकरण करने के लिये समस्त पदार्थों के अस्तित्व के सूचक संग्रह नय को प्रथम स्थान दिया।[३०] अकलंक ने नैगम की परिभाषा दी कि जो भेद और अभेद में से परस्पर एक को गौण और एक को प्रधान करके कहता है वह नैगमनय है और जो सर्वथा भेद को कहता है वह नैगमाभास है।[३१]

(५) तत्त्वार्थवार्तिक

आचार्य अकलंक के विषय में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि अकलंक ने लघीयस्त्रय नामक अपने स्वतंत्र ग्रंथ में तो यह क्रम बताया किन्तु जब वे तत्त्वार्थसूत्र पर ''तत्त्वार्थराजवार्तिक नाम से वार्तिक ग्रन्थ लिखते हैं, तब

वहाँ वही क्रम रखते हैं, जो तत्त्वार्थसूत्रकार ने रखा। वहाँ नैगम की परिभाषा लिखते हैं कि' अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय है।[३२] न्याययुग में आचार्य अकलंक तक नैगमनय के भेद प्रभेदों की चर्चा प्रारंभ नहीं हुयी थी।

(६) जयधवला टीका

वीरसेनाचार्य (वि. ८वीं) ने जयधवला में नैगमनय के (१) द्रव्य नैगम (२) पर्याय नैगम (३) द्रव्यपर्याय नैगम ये तीन भेद माने।[३३]

(७) तत्त्वार्थलोकवार्तिक

इसी चिन्तन को विकसित करते हुए आचार्य विद्यानंद (वि.९वीं) इन तीन भेदों के बाद इनका क्रमशः प्रभेद भी करते हैं। उसमें पर्याय नैगम के अर्थपर्याय नैगम, व्यंजन पर्याय और अर्थव्यंजनपर्याय नैगम ये तीन प्रभेद। द्रव्य नैगम के शुद्ध द्रव्य नैगम, अशुद्ध द्रव्य नैगम ये दो भेद, तथा तीसरे द्रव्यपर्याय नैगम के शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्यव्यंजन पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्य-व्यंजन-पर्याय नैगम ये चार भेद स्वीकार करके नैगमनय को नौ प्रकारों में विभक्त कर दिया।[३४]

(८) आलापपद्धति

देवसेनाचार्य (वि. ९९०) ने नैगम नय का कालकृत भेद कर दिया। वे भूत नैगम, भाविनैगम और वर्तमान नैगम इस प्रकार तीन भेद स्वीकार करते हैं।[३५] इनके पूर्व किसी ने भी इस दृष्टि से नैगम के भेद नहीं किये। सिद्धर्षि (वि. १०वीं) ने नैगम नय के अन्तर्गत सामान्य एवं विशेष दोनों को ग्रहण करने की बात कहीं।[३६]

(९) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र

माइल्लधवल (वि. ११वीं) ने देवसेनाचार्य का ही अनुसरण करते हुए भूत, भावि और वर्तमान ये नैगमनय के तीन ही भेद स्वीकारे।[३७]

इसके बाद वादिराज (वि. ११वीं)[३८], आचार्य प्रभाचन्द्र (वि. ११-१२वीं)[३९] वादिदेव (वि. १२वीं)[४०]; लघु अनन्तवीर्य (वि. १२वीं)[४१], मल्लिषेण (वि. १४वीं)[४२], तथा उपाध्याय यशोविजय (वि. १८वीं)[४३] आदि विद्वनों ने नैगमनय के कोई भेद प्रभेदों का उल्लेख नहीं किया, अपितु पूर्व स्थापित परिभाषाओं को ही पुनर्स्थापित किया है।

इस प्रकार नैगमनय के इस अध्ययन से हमें यह तथ्य ज्ञात होता है कि आगम युग से लेकर दर्शन युग तक नयवाद के विकासक्रम में नैगमनय का

क्रमशः विकास स्पष्ट दिखायी पडता है, जिसका तुलनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टियों से अति महत्त्वपूर्ण है।

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म **कुमार अनेकान्त जैन**
तथा दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनूं ३४१३०६ (राजस्तान)

टिप्पणियाँ

१. से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ "जीवा सिय सासता, सिय असासता? गोयमा। दव्वट्ठयाए सासता, भावट्ठयाए असासता। से तेणट्ठेणं गोयमा। एवं वुच्चइ जाव सिय असासता। **भगवती** (खण्ड-२), सम्पा. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति व्यावर, १९९१, सप्तमशतक, उद्देशक-२, पृ. १३५
२. से किं तं णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा-नेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूते। **अणुओगदाराइं**, सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, प्रका. जैनविश्वभारती संस्थान, लाडनं, प्र. सं. १९९६, तेरहवां प्रकरण, सूत्र-७१५ पृ. ३७६
३. णेगेहिं माणेहिं मिठाइत्ति पेणमस्स य निरूत्ती। **अनुयोगद्वार**, गाथा-१३६पृ. ४६७
४. से किं तं नयप्पमाण ? नयप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा पत्थगदिट्ठंतेणं वसहिदिट्ठंतेणं - पएसदिट्ठंतेणं **अणुओगदाराइ**, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-५५४ पृ. २९९-३००
५. से किं तं पत्थगदिट्ठंतेणं ? पत्थ्गदिट्ठंतेणं-से जहानामए केइ पुरिसे परसुंगहाय अडविहुत्तो गच्छेज्जा, तं च केइ पासित्ता वएज्जा-कहिं भवं गच्छसि ? अविसद्धो नेगमो भणति-पत्थणस्स गच्छामि। **अणुओगदाराइं**, ग्यारहवां प्रकरण, सूत्र-५५५, पृ. ३००
६. तं च केइ छिदमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं छिंदसि ? विसुद्धो नेगमोभणतिपत्थगं छिंदामि। वही, सूत्र-५५५ पृ. ३००.
७. अविशुद्ध नैगमनय और विशुद्ध नैगमनय इन दोनों की तुलना सांख्य के सत्कार्यवाद से की जा सकती है।
८. तं च केइ तच्छेमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं तच्छेसि ?विसुद्धतराओ

नेगमोभणति पत्थणं तच्छेमि। तं च केइ उक्किरमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं उक्किरसि ? विसुद्धतराओ नेगमो भणति-पत्थगं उक्किरामि। तं च केइ लिहमाणं पासित्ता वएज्जा-किं भवं लिहसि ? विसुद्धतराओ नेगमो भणति पत्थगं लिहामि। एवं विसुद्धतरागस्त नेगमस्स नामाउडिओ पत्थगो। वही, सूत्र-५५५ पृ. ३००.

९. एवमेव ववहारस्स वि। वही, सूत्र-५५५, पृ. ३००.

१०. पएसदिट्ठंतेणं-नेगमो भणति-छण्हं पएसो, तं जहा-धम्मपएसो अधम्मपएसो आगासपएसो जीव पएसो खंध पएसो देसपएसो। **अणुओगदाराइ**, सूत्र-५५७, पृ. ३०२.

११. पेज्जं वा दोसो वा कम्मि कसायम्सि कस्स व णयस्स। दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायदे को कहिं वा वि।। कसायपाहुड सूत्र, गुणधराचार्य, पेजदोसविहत्ती, सम्पा. पं. हरिलाल जैन, वीर शासन संघ, कलकत्ता, १९९५, गाथा-२१, पृ. ३४.

१२. तं जहा-पेणम संगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो। मायापेज्जं, लोहो पेज्जं। कसायपाहुडसूत्र पर यतिवृषभाचार्य चूर्णि, सूत्र -८९, पृ. ३४.

१३. नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रत्यय, समुत्पत्ति, आदेश, रस तथा भाव ये आठ प्रकार के कसाय निक्षेप कषाय पाहुड में गिनाये गये हैं। देखें, वही, **चूर्णिसूत्र**-३९, पृ. २०.

१४. णेणमो सव्वे कसाए इच्छदि। वही, **चूर्णिसूत्र**-६३, पृ. २४.

१५. वेदणात्ति। तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति वेदणणिक्खेवे वेदण्णयविभासणाए...। **षट्खण्डागम**, द्वितीय वेदना अनुयोगद्वार, सं. ब्र. सुमति बाई शहा, श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण (सातारा), चतुर्थ वेदना खण्ड-१९६५ पृ. ५३४.

१६. वेयण-णयविभासणदाए को णओ काओ वेयणाओ इच्छदि। **षट्खण्डागम**, वेदना खंड, वेदनानयविभाषणता, सूत्र- १, पृ. ५३६.

१७. णेगम-ववहार-संगहा सव्वाओ। वही, सूत्र-२, पृ. ५३७.

१८. णेगम-ववहाराणं णाणावरणीयवेयणा दंसणावरणीयवेयण वेयणीय-वेयणा मोहणीयवेयणा आउववेयणा णामवेयणा गोदवेयणा अंतराइवेयणा। **षट्खण्डगम**, वेदनाखंड, वेदना नाम विधान अधिकार, सूत्र-१, पृ. ५३७.

१९. 'Here a curious sounding theory is also propounded, viz, that the seven nayas needed to be employed in former times but they need not be employed now (at the most the first three nayas need to be employed now), the reason being that in former times the Agamic texts had not been divided subjectwise as is the case now after Aryaraksita has executed such a division. The exact import of the theory is not clear but what is really important is the incidental two-fold division of nayas into Dravyarthika and Paryayarthika. For this is an obviously logical division and as such as found so prominent a support at the hands of the authors of the Age of logic; (certainly all this cannot be said about thesevenfold division of nayas. Another twofold division of nayas-also somewhat important - is that into vyavaharanaya and niscayanaya; but a third division, viz-that into jnananaya and Kriyanaya has played no important role in the development of the naya-doctrine— **Jain Ontology**, Dr. K. K. Dixit, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1971, p. 78.

२०. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः। **तत्त्वार्थसूत्र**, उमास्वामि, सं. पं. फूलचन्द्रसिद्धान्तशास्त्री, गणेशवर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी, १९९१, अध्याय।, सूत्र-३३.

२१. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। **तत्त्वार्थसूत्र**, उमास्वाति, सं. पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९८५, प्रथम अध्याय सूत्र-३४ पृ. ११२.

२२. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः। सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः। **आप्तमीमांसा**, समन्तभद्र-ग्रंथवाली, वीरसेवा मं. ट्रस्ट, दिल्ली, का. १०४, पृ. १०१

२३. तित्थयरवयणसंगह-विसेस पत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं। **सन्मति प्रकरण**, प्र. काण्ड, गा. ३.

२४. दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवंणाविसओ। पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो । वही, गाथा-४.

२५. मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो।
तस्स उ सद्दाईया साहणसाहा सुद्दुमभेया। वही, गाथा-५

२६ जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइंया चेव परसमया । वही, तृतीयकाण्ड, गाथा-४७.

२७. तयोर्भगांः १. विधिः, २. विधिविधिः, ३. विधेर्विधि-नियमम्, ४. विधेर्नियमः, ५. विधि-नियमम्, ६. विधिनियमस्यविधिः, ७. विधि-नियमस्य विधि-नियमम्, ८. विधिनियमस्य नियमः, ९. नियमः, १०.नियमस्थ विधि, ११. नियमस्य विधिनियमम्, १२. नियमस्य नियमः। द्वादशारनयचक्रम्, प्रथमोविभागः पृ. १०.

२८. **आगम युग का जैनदर्शन**, पं. दलसुख मालवणिया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९९०, पृ. ३११-३१२.

२९. शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः। भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः। लघीयस्त्रय, द्वितीयनप्रवेश, पंचमनयपरिच्छेद, कारिका-३२.

३०. संग्रहः सर्वभदैक्यमभिप्रैति सदात्मना।
ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृते। वही, कारिका-३८.

३१. अन्योन्यगुणभूतैकभेदप्ररूणात्।
नैगमोर्थान्तरत्वोक्ता नैगमाभास इष्यते। वही, कारिका-३९.

३२. अर्थ संकल्पमात्र ग्राही नैगमः। अकलंदेव कृत **तत्त्वार्थराजवातिर्क**, महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, १९९३, प्रथमभाग, प्रथम अध्याय, सूत्र-३३, पृ. ९५.

३३. द्रव्यार्थिक नैगमः पर्यायार्थिक नैगमः द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमश्चेत्येवं त्रयो नैगमः। जयधवला, वीरसेनाचार्य, भाग-१, प्रकरण-२०२, पृ. २२१-२२.

३४. विविधस्तावन्नैगमः। पर्यायनैगमः, द्रव्यनैगमः, द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति।

तत्र प्रथमस्त्रेधा।अर्थपर्यायनैगमो व्यंजनपर्यायनैगमोऽर्थव्यंजनपर्याय-नैगमश्च इति। द्वितीय द्विधा। शुद्ध द्रव्यनैगमः, अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। तृतीयश्चुतर्धा। शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगमः अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्यायनैगमः, अशुद्ध द्रव्य व्यंजनपर्यायनैगमश्चेति, नवधानैगमः साभास उदाहृतः परीक्षणीयः। आचार्य विद्यानंदकृत **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**, प्र.पं. वर्धमानशास्त्री, कल्याण भवन, सोलापुर, १९५६, श्लोक-२७ पृ. २३४.

३५. नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकाल भेदात्। **आलापपद्धति**, संपादक, ब्रधर्मचन्द शास्त्री, भारतवर्षीय अनेकान्तविद्वत परिषद्, १९९०, सूत्र-६४, पृ. १३

३६. ये परस्परविशकलितौ सामान्य विशेषाविच्छन्ति तत्समुदायरूपो नैगमः। **न्यायावतार**, सिद्धर्षिविवृत्ति, संपादक ए. एन. उपाध्ये, जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९७१, का. २९ पर टीका, पृ. ८५.

३७. णिप्पण्णमिव पयंपदि भाविपदत्ते खु जो अणिप्पण्णं।
अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भाविणसगमुत्ति णओ॥
णिव्वत्त अत्थकिरिया, वट्टणकाले तु जं समायरणं।
तं भूदणइगमणरां जहदिणं णिव्वुओ वीरो॥
पारद्धा जा किरिया पचणविहाणादि कहइ जो सिद्धा।
लोएसु पुच्चमाणो भण्णइ तं वट्टमाणणयं॥
द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, संपादक पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९९९, गाथा २०५, २०६, २०७ पृ. १११-११२.

३८. तत्र यस्मिन दर्योर्भेदगमनं स नैगमः नैकं गमो नैगमः इति व्युत्पत्तेः यथा गुणगुणिनौ क्रियातद्धन्तौ सामान्यविशेषौ च भिन्नाविति।
न्यायविनिश्चयविवरण (भाग-२), संपादक महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्र. सं. १९५४ तृतीय प्रवचन प्रस्तावः, पृ. ३३६.

३९. तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, तृ. भाग, नयविवेचन, पृ. ६५८.

४०. धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो

नैगमः। **प्रमाणनयतत्त्वालोक,** सातवा परिच्छेद, सूत्र-७, पृ. १३६.

४१. अन्योन्यगुण-प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणौ नैगमः। नैकं गमो नैगम इति निरुक्तः। **प्रमेयरत्नमाला षष्ठः** समुद्देशः पृ. ३४५.

४२. धर्मयोर्धर्मिणोधर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपर्जनभोवेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। **स्याद्वादमंजरी,** सम्पादक - डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, पृ. २४८. श्री. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, चतुर्त सं. १९७९.

४३. तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयपरोऽध्यसायो नैगमः। **जैनतर्कभाषा,** अनुवाद-शोभाचन्द्रभारिल्ल, प्रका. त्रिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अहमदनगर, १९६४, परिच्छेद, पृ. ६०.

वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी जैन दृष्टि
(जैन-पुराणों के सन्दर्भ में)

छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व जैनदर्शन को पल्लवित होने का काल उदयकाल था। यह वही काल है जब बौद्धदर्शन की भी नींव पड चुकी थी। दोनों ही दर्शन पुरोहितों व ब्राह्मणवादी वैदिक कर्मकाण्डों के विरोध में प्रतिक्रिया.स्वरूप स्थापित हो रहे थे। उस काल में समाज संरचना का वैदिक आधार वर्णव्यवस्था का रूप विकृत हो चुका था। व्यक्तियों के मध्य विषमता भयावह रूप में थी। इसका एक कारण धार्मिक कर्मकाण्डों में पशुबलि व अर्थ की प्रधानता थी। इस जटिलता के कारण ये कर्मकाण्ड जनसामान्य से परे उच्च वर्ग तक सीमित हो गये। इस काल में वर्ण दंभ से परिपूर्ण उच्चवर्णी निम्नवर्णों के प्रति हेय दृष्टि रखना अपना अधिकार समझते थे।

वर्ण व्यवस्था वैदिक आर्यों की उपज थी। यहाँ प्रारम्भ में दो वर्ण थे - आर्य वे जो गुणी थे और म्लेच्छ जो इसके विपरीत थे। आगे चलकर ब्राह्मणों ने इसे अपने अनुकूल चार वर्णों के रूप में स्थापित कर लिया। इसकी आधारभित्ति को जैन और बौद्ध जैसे वेद-विरोधी आन्दोलन भी नहीं हिला सके। इसका प्रमाण है कि काल प्रवाह के अनेक समाज सुधारवादी आन्दोलनों को अपने आप में समेटे वर्ण व्यवस्था आज भी विद्यमान है। इस व्यवस्था के अन्दर पनपे वर्ण भेदों ने जातियों का विकृत रूप ले लिया। किन्तु वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में पुराणों में जैनाचार्यों ने मानव-मानव को समान मानकर कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था स्थापित करने का जो नवीन प्रगतिशील विचार प्रस्तुत किया है वह अविस्मरणीय है।

प्रारम्भ में जैन और बौद्धधर्म को वर्णव्यवस्था तथा जातिवाद स्वीकार नहीं था। वे इसके विरोधी थे। कालान्तर में जैनों ने इस देश की मुख्यधारा में शामिल रहते हुए परिस्थितियों से समझौता कर समन्वित सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम क्षत्रिय और द्वितीयतः ब्राह्मण को स्थान दिया। यह जानने के पूर्व की वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी जैन विचार क्या है ? वर्ण व्यवस्था को परम्परागत वैदिक अवधारणा व इनके

विरुद्ध जैन आपत्तियाँ ज्ञात करना आवश्यक है।

वैदिक वाङ्मय और ब्राह्मण ग्रन्थों में चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। ये हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से एवं अन्तिम वर्ण शूद्र की उत्पत्ति पैर से बताई गई है।[१] इसी आधार पर ब्राह्मण को श्रेष्ठता प्रदान की है। इसी अनुसार समाज में कर्म विभाजन किया गया। इस व्यवस्था की आलोचना का प्रथम बिन्दु तो वही परम्परागत है कि चूँकि ब्राह्मण ही वेदों के ज्ञान के अधिकारी थे, इसलिये उन्होंने स्वयं को वर्ण व्यवस्था में प्राथमिकता दी।

जैन आचार्य ब्राह्मण प्रदत्त इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने ब्राह्मण की ब्रह्मा के मुख से उत्पत्ति और इसलिये श्रेष्ठ होने को चुनौती दी है। इस सम्बन्ध में कुछ आधारभूत प्रश्न इस प्रकार हैं- क्या ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है अथवा नहीं ? यदि नहीं, तो इनसे ब्राह्मण की उत्पत्ति कैसे होती है। यदि ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व है, तो क्या वह केवल मुख में है अथवा सम्पूर्ण शरीर में है ? यदि सम्पूर्ण शरीर में है तो उनके शरीर के अलग-अलग हिस्सों से जन्मे अन्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के मध्य श्रेष्ठता को लेकर भेद क्यों है ? यदि केवल मुख में ही ब्राह्मणत्व है तो शरीर के अन्य प्रदेशों में शूद्रत्व का प्रसंग आता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा के पैर आदि शूद्र की ही भाँति अबन्ध (अछूत) ठहरती है।[२]

इस प्रकार जैन आचार्य व्यक्ति को जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानने का विरोध करते हैं। उनकी यह दृढ मान्यता है कि ''व्यक्ति जन्मना नहीं, कर्मणा महान्'' होता है। तात्पर्य है कि व्यक्ति अपने गुणों और कर्मों के आधार पर विभिन्न वर्णधर्मी होता है। 'भगवज्जिनसेनाचार्य' लिखते हैं कि, जाति नामक, नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न मनुष्यजाति एक ही है, किन्तु जीविका के भेद से वह चार भागों (वर्णों) में विभक्त है।[३] वही जाति बडी है जो संयम, नियम, शील, तप, दान, दम, दया आदि अस्तित्व रखती है । यहाँ 'जाति' शब्द ब्राह्मण आदि जाति के अर्थ में नहीं है, एक विशिष्ट कर्म के अर्थ में है।[४]

यद्यपि कतिपय जैन विचारकों का यह मानना है कि जैन आगम साहित्य में वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी उल्लेख नहीं है।[५] किन्तु जैन आगमों में वॅमण, खत्तिय, वइस्स तथा सुद्रद नाम के चार वर्णों का उल्लेख है।[६] कर्म एवं आजीविका से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई है। 'महापुराण' में उल्लेख है कि प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था नहीं थी। इसे स्पष्ट करने के लिए सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का जैन चित्र देखना आवश्यक है। प्रारम्भिक अवस्था में इस भोग भूमि के निवासी (आर्य)

अपनी दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों के माध्यम से पूर्ण किया करते थे। संग्रह की प्रवृत्ति का यहाँ पूर्ण अभाव है। श्रम, व्यापार आदि की भी इसलिये आवश्यकता नहीं थी। इस स्वर्णयुग में भेदभावरहित, सानन्द जीवन व्यतीत करने के उपरान्त अन्त में वे स्वर्गगामी होते थे।

संग्रह (परिग्रह) न होने के कारण पापकर्म व अपराध नहीं थे। सम्भवतः इसलिये मनुष्यों के मध्य वर्ण व्यवस्था, जातिगत भेदभाव व आर्थिक भेदभाव न होने के कारण वह युग सामाजिक समता का युग था। इस कृतयुग को हम 'आदिम साम्यवाद' कह सकते हैं। दीर्घकाल तक यह व्यवस्था सुचारू रही। काल परिवर्तन के साथ ही यह व्यवस्था संग्रहवृत्ति (परिग्रह) के कारण भंग हो गई। अब जीविकोपार्जन हेतु व्यवक्तियों के श्रम व व्यापार जैसे कर्म करना प्रारम्भ हुए। फलस्वरूप विभिन्न आजीविका सम्बन्धी कर्म करने वाले विभिन्न वर्ण के हुए एवं चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रारम्भ हुई।[७]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जैन आचार्यों ने प्रचलित सामाजिक भावनाओं के अनुरूप वर्णव्यवस्था की महत्ता को स्वीकार तो किया, किन्तु वर्णव्यवस्था की प्रचलित वैदिक अवधारणा में संशोधन करते हुए क्षत्रियों को प्रधानता प्रदान करते हुए उन्हें प्रथम व ब्राह्मणों को दूसरे स्थान पर स्थापित किया। वैश्य और शूद्र का क्रम यथावत् रखा। जैन दर्शन के समकालीन बौद्ध भी इस व्यवस्था से विचार साम्य रखते हैं।[८]

वर्णव्यवस्था को संशोधित करने का प्रथम कारण यह परिलक्षित होता है कि प्राकृतिक अवस्था की समाप्ति के पश्चात् समाज में संग्रहवृत्ति (परिग्रह) बढ गई। इसका दुष्परिणाम असुरक्षा और अराजकता थी। इस भयावह स्थिति से उबारने व व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व निर्वहन खत्तिय (क्षत्रिय) ने किया। इसलिए प्रथम क्षत्रिय व द्वितीय ब्राह्मण है। एक अन्य कारण महावीर का स्वयं क्षत्रिय होना क्षत्रियवर्ण को प्राथमिकता प्रदान करने हेतु पूर्वाग्रह भी हो सकता है।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि जैनाचार्यों ने ब्राह्मणों, पुरोहितों के विशेषाधिकार को प्रथमतः चुनौती दी। उन्होंने ब्राह्मण द्वारा अपराध किये जाने पर दण्डित करने का प्रावधान भी किया।[९] आजीविका के अनुसार वर्णव्यवस्था स्थापित करने के परिप्रेक्ष्य में उनकी स्पष्ट मंशा समाज में आजीविका की समुचित व्यवस्था करना है। यदि कोई व्यक्ति अपना कर्म उचित रूप से नहीं करता है तो उसे दण्डित किया जा सकता है,[१०] ताकि वर्णसंकरता रोकी जा सके।

इस व्यवस्था की स्थापना के पीछे जैनाचार्यों का समतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। उनका यह कदम सामाजिक न्याय स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण है। जैनाचार्यों की यह स्पष्ट सोच है कि वर्ग-संघर्ष को रोकने का उपाय श्रम विभाजन है।[११] कुशलतापूर्वक कार्यसम्पादन, अहस्तक्षेप प्रेरित कर्म आधारित वर्णव्यवस्था का जैन दृष्टिकोण सामाजिक एकता स्थापित करने की दिशा में भारतीय मनीषा को एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

डा. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे

रीडर, दर्शन-विभाग,
डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. **ऋग्वेद**, २४.
२. प्रभाचन्द्र, **प्रमेयकमलमार्तण्ड**, ४८३-४८७ एवं **न्यायकुमुचन्द**, पृ. ७७८-७७९. उद्धृत अमृतलाल जैन : परिसंवाद, पृ. ३०३.
३. **पद्मपुराणम** (११.२०३).
४. **तत्त्वार्थसूत्र** : १० वीं सूत्र.
५. फूलचन्द्र, **वर्ण, जाति और धर्म**, पृ. ११७.
६. जगदीश चन्द्र जैन, : **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज**, पृ. २२३.
७. **महापुराण**, ३८-४५, उद्धृत देवीप्रसाद का लेख : परिसंवाद, पृ. ३०३.
८. **दीघनिकाय**, : अगसुत्त, पृ. २४४.
९. **महापुराण**, पृ. ७०, १५५.
१०. **हरिवंशपुराण**, १४-७; **महापुराण**, १६-२४८.
११. **महापुराण**, पृ. २९.

गीता में मनोविश्लेषण के तत्त्व

आजतक मानवजाति ने सत्य के रहस्योद्‌घाटन के क्रम में जितनी खोजें की हैं उसमें गीता की खोज सर्वाधिक अनुपम और विलक्षण है। जिस ऐतिहासिक घटना के बीच श्रीकृष्ण के मुख से यह रहस्य और विज्ञान निःसृत हो रहा है वह भी अपने आप में अनूठा ही है। युद्ध का मैदान, दोनों पक्षों की सेनाएँ एक दूसरे का प्राण लेने को आतुर और उसी परिस्थिति में कृष्ण-अर्जुन के बीच का यह संवाद, निश्चित रूप से युद्ध के मैदान से ऐसा आध्यात्मिक संवाद का उदाहरण मिलना मानवता के इतिहास में दुर्लभ तो है ही, अचिंतनीय भी है।

लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व गीता कृष्ण के श्रीमुख से कही गयी और तब से अनवरत इसपर अनेकानेक समीक्षाएँ-व्याख्याएँ लिखी गयीं। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य के अतिरिक्त लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द, गांधी, राधाकृष्णन्, विनोबा भावे प्रभृत अनेक तत्त्वचिंतकों ने इसमें अपने-अपने अन्तर्दर्शन के तत्त्व को पाया। मानव विज्ञान के उच्चतम बिन्दुओं के कतिपय सूत्रों की खोज इसके अन्तर्गत की गयी। समकालीन युग में मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान हुए हैं। सिगमंड फ्रायड, कार्ल गुस्ताफ युंग, एडलर, विलियम जेम्स, सलीवान, फ्रोम इत्यादि मनोविश्लेषकों ने मनुष्य पर अनेक परीक्षण कर कुछ अद्‌भूत मान्यताएँ स्थापित कीं। गीता का संवाद कृष्ण-अर्जुन के बीच का है। अर्जुन साधारण मानवचित्त में उठने वाले द्वन्द्व से ग्रासित अन्वेषक है तो कृष्ण परमसत्य के साक्षात्कार से अभिभूत परमपद को प्राप्त परमात्मा! कृष्ण की अमृतमयी वाणी अर्जुन जैसे साधारण मनस्तापी की चित्तभूमि में क्रमशः उठनेवाली सारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है। इसलिए आवश्यक है कि समकालीन मनोविश्लेषण में स्थापित मान्यताओं का सूत्र गीता में खोजा जाय।

यदि यह कहा जाय कि एक सुन्दर स्त्री की हँसी पूरे महाभारत पर छाई है तो अनुचित नहीं होगा। सारा महाभारत का युद्ध और गीता, द्रौपदी के केन्द्र से आरंभ होता है। द्रौपदी का चीरहरण एक हारे हुए, व्यंग्य के शिकार, पुरुष

मन के कारण है। सुन्दरतम नारी द्रौपदी का यह व्यंग्य कि ''अंधे का पुत्र अंधा ही होता है'' इसकी प्रतिध्वनि और पुनः सार्वजनिक रूप से दरबार में वस्त्रहरण करने के आयोजन की घटना की अनुगूँज को महाभारत जैसे महाकाव्य के प्रतीकात्मक अर्थों की व्याख्या, गहरे मनोविज्ञान की ओर संकेत करता है।

गीता की यह अद्भुत कथा एक अंधे आदमी की जिज्ञासा से शुरू होती है। यह स्मरणीय है कि धृतराष्ट्र अंधा है लेकिन उसका मन उत्सुक, पीडित और आतुर है यह जानने को कि युद्ध के मैदान पर क्या हो रहा है। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हैं लेकिन वे इन्द्रिय से अंधे न होते हुए भी मानसिक रूप से रुग्ण हैं। इसलिए जिस भूमि पर लाखों हत्याओं का आयोजन हुआ उसे वे धर्मक्षेत्र कहते हैं। (धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे..... ॥) आज भी रुग्ण मनसूचित्त के कारण मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर युद्ध के अड्डे बन गये हैं। वास्तविकता है कि मनुष्य के अवचेतन में युद्ध की जो पिपासा, विनाश की जो आकांक्षा है और जो पशुत्व छिपा है, वह धर्मस्थल में भी युद्ध की तैयारी कर लेता है। इसलिए गीता जैसे धर्मग्रन्थ की शुरुवात अंधे आदमी के प्रतीक से हुई है।

प्रसंग है कि अर्जुन युद्ध भूमि पर गया। उसने स्वजन, गुरुजन और मित्रों को देखा तो शोक और विषाद से भर गया। चित्त उसका हिंसक था। युद्धभूमि पर दुर्योधन के साथ-साथ युधिष्ठिर, द्रोणाचार्य, भीष्म, अन्य स्वजन, मित्र और कुटुम्ब थे। उनका भी चित्त ममत्व और हिंसा से भरा हुआ था, लेकिन विषाद सिर्फ अर्जुन को ही हुआ। यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सब समानताओं के बावजूद अर्जुन विचारवान् है। मनोवैज्ञानिक मान्यता है कि विचार द्विविधा में डालता है। यह अवस्था 'स्किजोफ्रेनिक' की अवस्था है, जिसमें व्यक्तित्व विखंडित हो जाता है। अर्जुन यदि इस अवस्था में युद्ध करेगा तो या तो वह मैदान से भाग जायेगा या बेमन से लडेगा। नीत्शे ने कहा है कि मनुष्य एक तनाव है वह या तो पशु हो जाय या आनन्द को पाये। गीता में तीन प्रतीक बहुत ही मनोवैज्ञानिक हैं - अर्जुन मनुष्य का, दुर्योधन पशु का और कृष्ण परमात्मा का।

विषाद, शोक और विचार के द्वन्द्व से युक्त अर्जुन की भावदशा को देखकर कृष्ण उसे सांख्य-योग सम्बधी बातें विस्तार से बतलाते हैं। अर्जुन अपने व्यक्तिमत्व-भेद (Type of Personality) के अनुसार सहज प्रश्न पूछते हैं, ''यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है और जो पाने योग्य है वह मिला ही हुआ है, जीवन की मुक्ति यदि ज्ञान पर निर्भर है तो मुझ गरीब को इस महाकर्म में क्यों धक्का दे रहे हैं'' (अ. ३ श्लो १) यदि इस तर्क को मनोविश्लेषक की

दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि युद्ध की विभीषिका और स्वजन मृत्यु के भय की अर्जुन न्यायोचित और बुद्धिसंगत व्याख्या करता है। वस्तुतः अर्जुन युद्ध रूपी कर्म से भागना चाहता है, इसलिए उसे सांख्य सही प्रतीत होता है। सिगमंड फ्रायड ने इस सत्य को बहुत ही प्रगाढ रूप से स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि मनुष्य में इच्छा, वासना पहले आती है, तर्क और सिद्धान्त बाद में। वह जो करना चाहता है उसके लिए तर्क खोज लेता है। इस प्रकार अपने कार्यों को वह सदैव युक्ति संगत बनाने का प्रयास करता रहता है।

यह महत्त्वपूर्ण है कि कृष्ण अर्जुन के इस प्रश्न के बाद भी अपना संवाद जारी रखते हैं। जबकि अर्जुन के इस कथन के बाद आगे और कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भारतीय मनीषियों के वर्णव्यवस्था के मनोवैज्ञानिक महत्त्व का उल्लेख प्रासंगिक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विभाजन का महत्त्व श्रम-विभाजन की दृष्टि से जितना नहीं है उससे अधिक व्यक्तित्व-भेद से है। अर्जुन का व्यक्तित्व-भेद क्षत्रिय का है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषक कार्ल गुस्ताफ युंग ने व्यक्तियों के दो मोटे विभाजन किए हैं - एक को वह बहिर्मुखी (Extrovert) और दूसरे को वह अन्तर्मुखी (Introvert) कहते हैं। लेकिन सामान्य मनुष्य न तो आत्यन्तिक रूप से अन्तर्मुखी होता है और न बहिर्मुखी, बल्कि दोनों का मिश्रण है। इस रूप में योग प्रस्तावित है बहिर्मुखी के लिए और सांख्य अन्तर्मुखी के लिए।

अपने संवाद को आगे बढाते हुए कृष्ण प्रेमपूर्ण शब्दों में कहते हैं, "हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी..." (अ.३, श्लो.३) यहाँ "हे निष्पाप अर्जुना !" सम्बोधन बहुत मनोवैज्ञानिक अर्थ रखता है। मनोविज्ञान की मान्यता है कि चित्त में जितना ज्यादा पाप या अपराध (guilt) हो उतना ही अनिश्चय (indecision) पैदा होता है। निष्पाप अर्जुन कहकर कृष्ण मनोवैज्ञानिक रूप से अर्जुन को भीतरी आन्दोलन से मुक्त करना चाहते हैं।

कृष्ण कहते हैं; जो मूढ (नासमझ) इन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन में काम के चिंतन को चलाये जाता है वह पाखंड और अहंकार में पतित हो जाता है (अ.३, श्लो. ६) फ्रायड से हजारों वर्ष पूर्व कृष्ण मूढ की परिभाषा करते हैं कि... जो व्यक्ति अपने इन्द्रियों को दबाता है... क्योंकि इन्द्रियों के दमन से मन नहीं दबता बल्कि वह और प्रबल हो जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में मूढ के लिए 'स्किजोफ्रेनिक' और 'सिजायड' का प्रयोग किया गया है।

कृष्ण कहते हैं- जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है (अ.३, श्लो.७) साधारणतया जो इन्द्रियों का गुलाम होता है, ऐसे व्यक्ति को कृष्ण निकृष्ट कहते हैं। इसके विपरीत श्रेष्ठ वह है जो मन को रूपान्तरित करके इन्द्रियों को वश में कर लेता है। यह अवस्था मनोवैज्ञानिक चिंतन से परे की अवस्था है। फ्रायड के बाद यह समझाया गया कि वासनाएँ कभी मन के पीछे चल ही नहीं सकती। वासनाओं से मुक्ति संकल्प के द्वारा सम्भव ही नहीं है। लेकिन भारतीय चिंतन इसे अपूर्ण मनोविज्ञान मानता है। वह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी अनुभववादी विचारों में इन्द्रिय और मन से परे जाने की बात को असम्भव माना गया है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक डेविड ह्यूम ने अपने संस्मरण में लिखा है- "मैंने डेल्फी के मंदिर में लिखा हुआ वचन पढा-'अपने को जानो (Know Thy Self)' तब से अपने भीतर जाकर कोशिश करता हूँ अपने को जानने की, लेकिन मुझे स्वयं के रूप में कुछ पता नहीं चल पाता । जब भी मिलता है तब कोई इच्छा, विचार, वासना, स्मृति या संकल्प ही।"

स्वधर्म और परधर्म पर अनेक प्रकार की व्याख्याएँ की गयी हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि मनोविज्ञान की स्पष्ट धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजता है। इसी निजता को समझकर कर्मों का चुनाव करना चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि प्रत्येक बालस्कूल में मनोवैज्ञानिक होना चाहिए जो बच्चों के झुकाव (aptitude) का पता लगाए और यदि इसे कृष्ण की भाषा में कहें तो स्वधर्म का पता लगाये।

अध्याय चार में कृष्ण 'स्वाध्याय यज्ञ' की चर्चा करते हुए कहते हैं- द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तत्तापरे। स्वाद्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८ स्वाध्याय का अर्थ है 'स्व' अर्थात् स्वयं का अध्ययन। स्वयं का अध्ययन सारे मनोविश्लेषण की आधारभूमि है। हमारे स्वयं के अन्दर क्या-क्या है, यह दूसरा नहीं जान सकता। हम दूसरे व्यक्ति के केवल बाह्य आचरण ही जान सकते हैं। मानव जैसे-जैसे आधुनिक होता जा रहा है उतना ही उसके व्यवहार को देखकर अन्तस् की गहराई का पता लगाना कठिन हो गया है। स्वाध्याय का तात्पर्य है हम अपनी आंतरिकता से स्वयं परिचित हो सकते हैं, स्वयं के साथ साक्षात्कार कर सकते हैं। इस स्वाध्याय यज्ञ के महत्त्व को फ्रायड के अतिरिक्त एडलर, युंग इत्यादि सभी मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक चिकित्सा के लिए भी महत्त्वपूर्ण माना है। इसका पहला चरण है कि जो इस यज्ञ में उतरता है उसे,

दूसरा उसके सम्बन्ध में क्या सोचता है उसको पहले अपने से अलग कर लिया जाय। दूसरे चरण में जो-जो हमने अवचेतन में दबाया है उसे उभाड ले। सामान्य तौर पर हम अपने चित्त के जो बहुत से हिस्से सामाजिक या अन्य भय से भयभीत होकर गहरे में दबा दिये हैं उनको प्रकट करने में भय लगेगा। उदाहरण के लिए यदि कोई ब्रह्मचर्य की धारणा से भर गया हो तो वह अपनी कामवासना को इतना दबा देगा कि वह उसका साक्षात्कार न कर पायेगा। तीसरे चरण में हम अपने सम्बन्ध में जो जो प्रतिमायें (images) निर्माण किये हैं उनको भी स्वयं से अलग कर लेते हैं। इस स्वाध्याय यज्ञ में अपने द्वारा निर्मित प्रतिमा को जला देना पडता है। अपने सम्बन्ध में निर्मित प्रतिमा से मुक्त होना कठिन ही नहीं दुरूह भी है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जिसके भीतरी मन ने वे सब पाप न किये हो, जो किसी भी आदमी ने पृथ्वी पर किया है। स्वाध्याय यज्ञ का सार है कि जो व्यक्ति अपनी समस्त कुरूपता को जानने में समर्थ हो जाता है, वह उससे मुक्त हो जाने में भी समर्थ हो जाता है।

सुखी अवस्था को कैसे प्राप्त किया जा सकता है उसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोन से समझाते हुए कृष्ण कहते हैं-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं सः युक्तः सः सुखी नरः॥ (अ.५, श्लो.२३)

अर्थात् शरीर के नाश होने से पूर्व जिसने काम-क्रोध के वेग को सहज कर लिया अर्थात् जीत लिया, वही इस लोक में योगी और सुखी है।

काम इस जगत् में एक विराट घटना है। काम का अर्थ सिर्फ यौन ही नहीं, इसका बृहत् अर्थ है 'अपने से इतर में सुख लेने की आकांक्षा।' काम के साथ-साथ क्रोध शब्द का प्रयोग मनोवैज्ञानिक अर्थ रखता है। जब कभी कोई मेरे काम में अर्थात् दूसरे में सुख लेने में बाधक बनता है तो स्वाभाविक रूप से क्रोध उत्पन्न होता है। इसके साथ-साथ यदि काम में कोई रूकावट नहीं हो तो अंततः विषाद उत्पन्न होता है। मनवैज्ञानिकों का मानना है कि मनुष्य काम के लिए ही जीवित है। फ्रायड ने इस सम्बन्ध में अनेक अनुसंधान किये। उनका निष्कर्ष है कि हमारी चौबीस घंटों की जो दौड है उसके केन्द्र में कहीं न कहीं काम ही प्रेरक है। फ्रायड के अतिरिक्त मनोचिकित्सक फ्रेंकू का प्रयोग उल्लेखनीय है- क्रोध से भरे हुए एक व्यक्ति को फ्रेंकू कुर्सी पर बिठाता है, उसे सम्मोहित करता है और रूमाल दिखाता है। उससे पूछता है कि आँखें मूँद कर बताओ

कि तुम्हें सबसे पहले क्या ख्याल आता है ? और वह बताता है- "I remainded of sex" (मुझे सैक्स का ख्याल आया) फिर उसे कभी किताब, घंटी इत्यादि को दिखाता है और उसके ख्याल के विषय में प्रश्न करता है- जबाब वही मिलता है।

मनोविद् का मानना है कि यदि हम भी अपना अन्तर्विश्लेषण करें तो पायेंगे कि काम की अन्तर्धारा हमारे मनःपटल पर पूरे समय चलती रहती है। कृष्ण का सुझाव फ्रेंकू के शोध से आगे का है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति काम और क्रोध के वेग के साथ अलिप्त होकर खडा हो जाता है, जिसे काम आन्दोलित नहीं करता और जिसे क्रोध अग्नि की लपटों में नहीं डालता, ऐसा व्यक्ति यहाँ भी और परलोक में भी सुख को उपलब्ध होता है।

अद्भुत मनोवैज्ञानिक क्रम में कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं-

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ (अ.६, श्लो. २)

संकल्प को त्यागनेवाला ही योगी और संन्यासी है। इससे पूर्व के श्लोक में कृष्ण कहते हैं, इच्छायें छोड दो चूँकि इच्छाओं के बाद ही वासनायें निर्मित होती हैं इसलिए उन्होंने संन्यासी अथवा योगी के लिए संकल्प त्याग की बात कही। संकल्प त्याग का तात्पर्य 'मैं' (ego) धारणा का अभाव। 'मैं' की मनोवैज्ञानिक खोज बतलाती है कि 'मैं' वस्तु नहीं बल्कि सम्बन्ध है। एक सर्वेक्षण 'मैं' का देखें -

मैं, सडक पर चलने वाला,
मैं, बाथरूम में,
मैं, कार्यालय में,
मैं, बच्चे के साथ.....

इस 'मैं' का अनुपेक्षण से पता चलता है कि 'मैं' की सूक्ष्म अन्तर्धारा है और इसके प्रति यदि सजग हुआ जाय तो पता चलेगा कि यही अन्तर्धारा संकल्प पैदा करती है। बिना संकल्प के वह अन्तर्धारा वास्तविक (actualise) नहीं हो सकती। इसी अन्तर्धारा का दूसरा नाम अहंकार (ego) है। यह जो संकल्पों और इच्छाओं की अन्तर्धारा है उसे यदि विसर्जित कर दिया जाय तो स्वभावतः संन्यास उपलब्ध होता है। इसलिए संन्यस्त अवस्था की व्याख्या एक विशुद्ध मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान की उपलब्धि है चित्त का रूपान्तरण।

इसके बाद के श्लोक में कृष्ण कहते हैं- जो समत्व बुद्धि को उपलब्ध

होगा वही योगी है ।(अ.६, श्लो.३) थियोडोर रेक अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक हुए । उसने लिखा है कि मन के दो सूत्र हैं- इनफेचुऐशन और फ्रस्ट्रेशन (Infatuation & frustration), गीता की भाषा में कहें तो आसक्ति और विरक्ति। उनके अनुसार इन दो अतियों के बीच ही मन डोलता रहता है। इन दो के बीच डोलने वाले मन को ही संकल्पात्मक कहा गया है। जहाँ संकल्प होता है वहाँ विकल्प भी मौजूद रहता है। यही फ्रायड के सुख-दुःख सम्बन्धी विचार का आधार भी है। जब आप संकल्प और विकल्प में किसी एक को चुनते हैं तो चित्त में उत्तेजना शुरू हो जाती है। उत्तेजना जब चुनाव का आधार बनती है तो विषाद को हम निमंत्रण दे डालते हैं। यही विषाद और दुःख पुनः विपरीत को चुनने के लिए उत्तेजित करते हैं। इस प्रकार जिसका हम अनुभव कर लेते हैं उससे मन ऊब जाता है, इसके विपरीत जिसका अनुभव नहीं है उसके लिए लालायित रहते हैं।

फ्रायड ने अपने अन्वेषण के क्रम में कहा कि जितना मैंने समझा है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि इच्छाएँ दुःख में ले जाती हैं। उनके अनुसार सुख है ही नहीं। अन्ततः दुःख ही दुःख है। आप अधिक से अधिक सहने योग्य दुःख को चुने। इसके लिए इन्होंने 'unhappiness' शब्द का प्रयोग किया।

फ्रायड की इस धारणा को कृष्ण आंशिक मानते हैं। कृष्ण के अनुसार यह सत्य है कि इच्छाओं में सुख सम्भव नहीं है, लेकिन इच्छाओं के बिना मनुष्य सम्भव है। इच्छाओं के बिना सुख की कल्पनातीत वर्षा शुरू हो जाती है। यह उपलब्धि समत्व योग से सम्बद्ध है जिसमें आदमी सुख और दुःख जैसे अतियों के बीच समत्व स्थापित कर लेता है। समत्व बुद्धियोग सार है।

रूस के एक मनोवैज्ञानिक पावलव ने मनुष्य के ग्रन्थियों पर अनेक प्रयोग किए। उनका कहना है कि आदमी के किसी विशेष ग्रन्थि को अलग कर दिया जाय तो उस इन्द्रियों से सम्बन्धित क्रियाऐं समाप्त हो जाती हैं। इन्द्रियों के पास हारमोन्स का संग्रह है यही हमसे धक्के देकर काम करवा लेती है। जब ये सक्रिय नहीं रहती तो हम विशेष प्रकार के काम नहीं कर सकते। कृष्ण पावलव के अध्ययन की व्याख्या कुछ विशिष्ट शैली में करते हैं। उनका कहना हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ अपने अनुसार काम करवाती हैं वह अपना शत्रु तथा जो इन्द्रियों को अपने आदेश से चलाते हैं वह अपना मित्र है।

योग का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। योग को 'चित्तवृत्ति का निरोध'

कहा गया है। कृष्ण कहते हैं- यत्रो परमतं चित्तं निरुद्धं योग सेवया.. (अ.६, श्लो.२०) साधारणतः चित्तवृत्ति के निरोध का अर्थ दमन समझा जाता है। निरोध का गहरा अर्थ है वृत्तियों के साथ साक्षात्कार। वृत्तिनिरोध का अर्थ है कि वृत्ति की इतनी गहरी समझ हो जाय कि पुनः वृत्ति का होना असम्भव हो जाय। वह मनोवैज्ञानिक परिस्थिति है कि हम जब किसी वृत्ति के साथ गहरा साक्षात्कार कर लेते हैं तो वह छूट जाता है।

योग और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जिन सामग्रियों और स्थितियों की चर्चा कृष्ण ने की है वह बहुत गंभीर मनोवैज्ञानिक खोज का परिणाम है। भारतीय चिंतकों ने अपने लम्बे अनुभव के माध्यम से यह जाना कि कुश, मृगछाला, समतल भूमि इत्यादि योग के लिए उपयोगी हैं। समतल भूमि में सिद्धासन मुद्रा में बैठने से गुरुत्वाकर्षण बल का प्रभाव शरीर पर बिल्कुल कम हो जाता है। इस पर कई मनोवैज्ञानिक प्रयोग हो चुके हैं। इस अवस्था में चित्त बिल्कुल शांत हो जाता है तथा शारीरिक विद्युत शक्ति का संचार उर्ध्व गति में होना संभव हो जाता है। आज वैज्ञानिक शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि मृगचर्म विद्युत् का कुचालक है। योग के समय शरीर में उत्पन्न होने वाले विद्युत तरंगों के लिए कुचालक वस्तु उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है। योग ने अनेक आसन खोजें हैं जो इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने में अद्भुत रूप से सहयोगी हैं। फ्रायड के अनुयायियों ने शरीर में अनेक ऐसे केन्द्रों की खोज की जिनको मात्र दबा देने से अनेक बुनियादी प्रवृत्तियों में अन्तर पड जाता है। योगासन में बैठने से शरीर की विशेष इन्द्रियाँ खास कर कर्मेन्द्रियें शिथिल पड जाती हैं।

योग की आधारभूत शिक्षाओं के सम्बन्ध में विस्तार से बात किये जाने पर अर्जुन वही पूछ रहा है जो हम सब भी पूछना चाहेंगे। अर्जुन पूछते हैं- हे मधुसूदन ! आप कहते हैं तो ठीक होगा कि योग की अवस्था में परम आनन्द होता है। मुझे भी आकर्षित कर रहा है कि उस आयाम में यात्रा करें, लेकिन मन बडा चंचल है, इसलिए समझ नहीं आता कि इस चंचल मन के साथ कैसे स्थिर स्थिति पायी जा सके। इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दर्शाता है कि यह अर्जुन का ही नहीं पूरे मनुष्य जाति के मन का प्रश्न है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य उल्लेखनीय है कि मन के सम्बन्ध में जो भी हम जानते हैं, स्वभावतः हम उसी जानने के भीतर सोचते हैं। हमने मन को कभी स्थिर नहीं जाना तो यह तर्कपूर्ण और उचित है कि मन की स्थिरता संभव नहीं है। यह उल्लेख भी प्रासंगिक है कि व्यवहारवादी मनोविज्ञान की जो त्रुटियाँ हैं वही त्रुटि अर्जुन भी

कर रहा है। अनुभव के आधार पर वह यहाँ तक तो ठीक कह रहा है कि मन चंचल है, लेकिन यह कहना कि मन की स्थिरता असंभव और अकल्पनीय है, उचित नहीं है। जो हमारे अनुभव में नहीं है उस सम्बन्ध में विधायक वक्तव्य देना गलत ही नहीं, खतरनाक भी है। इसी गलती के कारण धर्म और विज्ञान में संघर्ष होता रहा है।

आठ लम्बे अध्यायों की चर्चा के बाद कृष्ण श्रद्धा के सूत्र पर विचार करते हैं। वे अर्जुन से कहते हैं कि अब मैं तुझे दृष्टिदोषरहित व्यक्ति के लिए रहस्य की बातें कहूँगा। (अ. ९ श्लो. ४,५,६) यह स्वभाविक है कि जगत् को हम जिस दृष्टि से देखते हैं, जगत् की प्रतीति वैसी ही हो जाती है। मनोविद् इसे 'गेस्टाल्ट' कहते हैं। उनका कहना है कि हम जिस बात पर ध्यान देते हैं हमें वही दिखाई पडने लगता है। कृष्ण प्रसन्न होकर इस सूत्र में अर्जुन से कहते हैं- ''अब मैं तुझे दृष्टिदोषरहित जानकर रहस्य की बातें कहूँगा। आध्यात्मिक अनुभव के परमसाक्षात्कार के लिए जितने विधि हैं उसमें प्रवेश का यही मार्ग है।'' बुद्धि विकल्पों से परे होने पर ही पराभौतिक जगत् की बातें कही और समझी जा सकती हैं। गीता जैसे गहन संवाद के लिए गुरु और शिष्य के बीच एक गहरी आत्मीयता, अपनापन चाहिए। यह श्रद्धा की अवस्था है। कार्ल गुस्ताफ युंग ने अपने मनोविज्ञान को 'एक होने का विज्ञान' (A theory of Individuation) कहा है। यही एक होने की स्थिति जहाँ उपलब्ध होती है उसी आत्मीयता के बीच रहस्यपूर्ण संवाद संभव है।

श्रद्धा जैसी पवित्रतम और अस्पृश्य उपलब्धि को अर्जुन में फलित हुआ जानकर कृष्ण उस गोपनीय बातों की ओर संकेत करते हैं जिसे बुद्धि अपनी विकल्प के माध्यम से नहीं जान सकती है। वस्तुतः बुद्धि की यह नियति है वह विकल्पों के माध्यम से ही जानती है। विज्ञान के नियम बुद्धि आधारित हैं, अतः विज्ञानेतर बातें बुद्धि से ऊपर उठने के बाद ही समझ में आ सकती हैं। जब अर्जुन श्रद्धा को उपलब्ध होता है तो कृष्ण उन गोपनीय बातों को आगे बढाते हैं जो अर्जुन के हृदय में उतर सकें। अब कृष्ण कहते हैं- मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह जगत् परिपूर्ण है, सब भूत मुझमें स्थित हैं लेकिन मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (अ.९, श्लो. ४,५,६) यहाँ अनेक आत्मविरोधी बातें हैं। अब यह जगत् है व्यक्त लेकिन कृष्ण के अनुसार मेरे अव्यक्त का अभिव्यक्त (menifestation)। यह बात तर्कबुद्धि से परे की बात है। यही बात सगुण और निर्गुण के विवाद का कारण भी है। लेकिन इस रहस्य का पता मनोविज्ञान

को भी चला है। फ्रायड ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में अनुभव किया कि आदमी के भीतर जीवन की लालसा के साथ-साथ मृत्यु की लालसा भी है। आरंभिक अन्वेषण का उनका निष्कर्ष था कि मनुष्य में खास चीज है 'लिबिडो' (जीवेष्णा) लेकिन अंतिम क्षणों में उन्होंने मृत्यु की लालसा को भी जाना। जीवन और मृत्यु दोनों विपरीत हैं और फ्रायड स्वयं भी इस बात से परेशान थे क्योंकि यह बुद्धि विकल्प तर्क से परे की बात थी। बाद में अनेक मनोविदों ने इसे स्वीकार किया कि जिससे हम प्रेम करते हैं उससे घृणा भी करते हैं। प्रेम और घृणा एक दूसरे के विपरीत नहीं। कृष्ण यही कहते हैं कि जहाँ-जहाँ वैपरीत्य दृष्टिगत हो वहाँ मैं ही हूँ। यह इन्द्रियातीत अतिक्रमण की क्षमता की स्थिति में ही संभव है, अतः यह गुह्यतम भी है।

समत्व योग के सम्बन्ध में कृष्ण कई जागतिक बाते कहते हैं। समता का बोध श्रेष्ठतम योग है। यह महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में है कि यह सामान्य मनःस्थिति के विपरीत है। ऐसी स्थितियों का अवबोध मनोविज्ञान से परे होने पर ही संभव है। सामान्य व्यक्तियों के मनोविज्ञान को समझे बिना उससे परे होने की बात समझ में आ ही नहीं सकती। साधारणतया जब कभी हम दूसरे के सम्बन्ध में निर्णय लेते हैं तो अपने सादृश्य से नहीं लेते। यदि हम कोई बुरा काम करते हैं तो उसका औचित्य निर्धारण कर लेते हैं, लेकिन जब दूसरा करता है तो उसे अनुचित समझ लेते हैं। मन के तल पर यह व्यापार चलता ही रहता है। कृष्ण के समत्व की धारणा तब पैदा होती है जब हम मन से ऊपर उठ जाते हैं। यह निरहंकार के साथ पैदा होता है। इसके बाद महाकरुणा उत्पन्न होती है, इसलिए कृष्ण उसे महायोगी कहते हैं।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपियांति परांगतिम्।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा॥ (अ.९, श्लो. ३३),

अर्थात्, हे अर्जुन स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले जो कोई भी हों वही मेरे शरणागति प्राप्त कर परमगति को प्राप्त करते हैं।

इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द स्त्री, वैश्य इत्यादि से जो अर्थ अभिप्रेत है वह प्रचलित अर्थ से भिन्न है। भारतीय बुद्धि ने मनुष्य का जो विभाजन किया है उसमें स्त्री और पुरुष पहला विभाजन है। जो प्रणाली आत्मा के रहस्य की खोज में है उसके लिए पुरुष और स्त्री प्रतीक है। स्त्री अर्थात् स्त्रैण व्यक्तित्व जो मात्र प्रतीक्षा कर सकता है। इसके विपरीत पुरुष व्यक्तित्व खोज कर सकता है। विगत पाँच हजार वर्षों में गीता के बाद आधुनिक युग में कार्ल गुस्ताफ युंग

ने स्त्री और पुरुष के इस मानसिक भेद को समझने की गहरी चेष्टा की है। उनके अनुसार कोई भी पुरुष 'पूर्ण पुरुष' और कोई भी स्त्री 'पूर्ण स्त्री' नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति 'सह-यौनिक' (Bi-sexual) है। दोनों यौन सभी में वर्तमान हैं। उनके अनुसार स्त्रैण से अर्थ है- ऐसा मन जो कुछ भी करने में रुचि नहीं लेता है, वह ज्यादा से ज्यादा समर्पण कर सकता है। कृष्ण के अनुसार वे भी मुझे उपलब्ध हो जाते हैं। यह भी स्मरणीय है कि यौगिक दृष्टि से शूद्र और वैश्य जाति नहीं बल्कि व्यक्तित्व-भेद है। इसीलिए भारतीय साहित्य में कहा गया है कि सभी व्यक्ति जन्म से शूद्र होते हैं। शूद्र व्यक्तित्व भेद के आधार पर प्रथम है। वह शरीर के आसपास जीवित रहता है। वैश्य वह है जो मन के आसपास जीवित रहे, क्षत्रिय जो शरीर और मन से ऊपर उठकर आत्मा के पास जिये और ब्राह्मण जो आत्मा से भी ऊपर उठकर ब्रह्म में जीवित रहे। ये व्यक्तित्व के चार मनस् प्रकार हैं। कृष्ण कहते हैं स्त्री, शूद्र और वैश्य सभी मेरे शरणागत होकर परमगति को प्राप्त होते हैं।

दशम अध्याय के आरंभ में कृष्ण कहते हैं कि इस बुद्धियोग के द्वारा जो प्रज्ञा प्रकट होती है उससे सारा अज्ञान रूपी अंधकार मिट जाता है। वस्तुतः हम लोग ज्ञान और अज्ञान का प्रचलित अर्थ करते और समझते हैं। ईश्वर और धर्म सम्बन्धी वक्तव्य के लिए यह अधिक अनुचित हो जाता है। हमारी अनुभूति ईश्वर, धर्म, ज्ञान, अज्ञान के सम्बन्ध में उस रटन्त संस्कार जैसे है जिसको रूसी मनोवैज्ञानिक पावलव 'कन्डीशन्ड रिफलेक्स' कहते हैं। इसमें एक रोटी कुत्ते को दी जाती है और उसी के साथ घंटी बजती है। रोटी के साथ कुत्ते का लार टपकता है। पन्द्रह दिन के बाद घंटी बजने के साथ कुत्ते को लार टपकने लगता है। तथाकथित तौर पर हम सब धर्म सम्बन्धी शब्दों के साथ संस्कारित हो जाते हैं। कृष्ण ने ऐसे तथाकथित धर्म सम्बन्धी प्रचलित शब्दों को अज्ञान कहा है, जो बुद्धियोग रूपी ज्ञान से मिट जाता है।

अर्जुन कहते हैं- हे भगवान् ! आप परब्रह्म, परमधाम एवं परम पवित्र हैं क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष एवं देवों का आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। ऋषिदेव नारद तथा ससति और देबल ऋषि तथा महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति ऐसा कहते हैं। और हे केशव ! आपके लीलामय रूप को न देव और न दानव जानते हैं (अ.१, श्लो. १२,१३,१४)। अर्जुन की यह श्रद्धामयी बातें सामान्य मनुष्य की प्रतीति जैसी हैं। वास्तव में अर्जुन की यह अभिव्यक्ति यदि अनुभवात्मक होती तो गीता

यहीं समाप्त हो जाती। अर्जुन अपने अचेतन के तल से यह बात कहता है। कृष्ण के सम्बन्ध में उसने जो कुछ भी कहा है वह उसकी अहंकार का द्योतक है। इन कथनों का उसकी आन्तरिक अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं है बल्कि इसके लिए वे ऋषिजन, नारद, असित, देवल ऋषि और व्यास को साक्षी मानते हैं। कृष्ण को परब्रह्म उसने इसलिए कहा कि उपरोक्त ज्ञानियों और कृष्ण के कथनों में समानता है। दूसरे श्लोक में वे कहते हैं कि आप भी मेरे प्रति ऐसा कहते हैं। इसमें अर्जुन का अहंकार ध्वनित होता है। जबकि योग के अर्थ में अहंकार के विनाश के बाद ही ऐसा वक्तव्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में कबीर की अनुभूति है, "हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराय, बूंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाय।" मनोविश्लेषक बताता है कि आप उसे ही मानते हैं, जिसपर आपको संदेह है। मानना और न मानना वहीं संभव है जहाँ प्रत्यक्षानुभव नहीं हो। जो आपके प्रत्यक्ष का विषय है उसे मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः जिसकी मान्यता मानने के क्रम में जितनी कमजोर होगी वह उतना ही मदान्ध होगा। इसलिए कमजोर आस्था वाले लोग ज्यादा हठधर्मी होते हैं। इसी का परिणाम है कि तथाकथित धार्मिकों द्वारा विपरीत शास्त्रों को पढने की मनाही की जाती है और इसी धारणा से संकीर्णता और अनुदारता पैदा होती है। अर्जुन कुछ इसी परिस्थिति में है। उनके वक्तव्य से कुल इतना ही पता चलता है कि उसको अभी सत्य से साक्षात्कार नहीं हुआ है, सिर्फ कृष्ण द्वारा कहे गये शब्दों तक उसकी समझ सीमित है।

धीरे-धीरे कृष्ण के परमात्म्य प्रभाव से अर्जुन के मनस्चित्त में रूपान्तरण प्रगाढ होता गया उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व क्रमशः समपर्ण की और बढ रहा है। अर्जुन कहते हैं- पितासि लोकस्य चराचरस्य... प्रसिद्ध देवेश जगन्निवास। "हे विश्वेश्वर आप इस चराचर जगत् के पिता और गुरू से भी बडे एवं अति पूजनीय हैं..... शरीर को चरणों में रखकर क्षमा चाहता हूँ।" पश्चिम में दो मनोविद् हुए- लेंगे और विलियम जेम्स। उन्होंने एक सिद्धान्त विकसित किया जिसे 'जेम्स-लेंगे' सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मन और शरीर जुडे हुए हैं। हम हँसते हैं, इसलिए प्रसन्न होते हैं। हँसी पहले, प्रसन्नता बाद में। आमतौर पर लोक समझते हैं कि प्रसन्नता के कारण हँसी है। लेकिन लेंगे प्रश्न करते हैं कि आप बिना हँसे प्रसन्न होकर दिखा दीजिए। अर्जुन की भाव दशा 'जेम्स-लेंगे' सिद्धान्त के अनुकूल है। श्रद्धा की यह अभिव्यक्ति क्षमायाचना के लिए है। अर्जुन कहते हैं सब भाँति आपके चरणों में शरीर रखकर माफी

माँगता हूँ। सम्पूर्ण शरीर का चरणों में समर्पण तभी सम्भव है जब श्रद्धा की धारा रोम-रोम में बहने लगे। वे यह भी कहते हैं कि अतीत में मैंने जो कुछ किया है वह बोझ जो मेरे ऊपर है, उस बोझ को मैं आपके चरणों में छोड देता हूँ। यह स्मरणीय है कि कृष्ण का अर्जुन के प्रति सम्बोधन- 'हे निष्पाप अर्जुन !' अब फलित हुआ। सारा अपराध, सारा पाप कृष्ण के चरणों में समर्पित करने योग्य अर्जुन हो गया। मन-विज्ञान, योग-तंत्र और अध्यात्म के लिए यह एक विराट घटना है इस घटना क्रम के बाद अर्जुन परमप्रेम को उपलब्ध होने की स्थिति में आ गया।

गुणत्रय-विभाग योग को समझाने के बाद कृष्ण अर्जुन से बोले- जिसका मूल ऊपर और शाखा नीचे है, ऐसे संसाररूप पीपल का वृक्ष अविनाशी है, जिसके पत्ते वेद कहे गये हैं। उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है। इस काव्यमय भाषा में तत्त्वज्ञान का रहस्य सम्पूर्ण भारतीय चिंतन पद्धति का सार है। पश्चिमी दृष्टि, जो विकासवाद को सही मानती है उसके लिए यह सूत्र उल्टा लगेगा। भारतीय दृष्टि कहती है परमात्मा प्रथम है, संसार, माया अर्थात् पतन है। हम जिस मूल स्रोत से आये हैं उससे ऊपर उठने का कोई उपाय नहीं।

इस सूत्र का प्रायोगिक अर्थ अमरीकी मनोचिकित्सक जैनोब ने अपने 'प्राइमल थेरेपी' में किया है। यह स्मरणीय है कि उन्हें गीता के सूत्र की जानकारी नहीं थी। वह अपने प्रयोग में लोगों को अंधेरे कमरे मे लिटा देता है, आँखें बंद कर उसे पीछे की स्मृतियों में लौटने के लिए उत्प्रेरित करता है। पीछे लौटने के क्रम में उसे बचपन के जीवन तक स्मृति में ले जाया जाता है और यदि कोई इसमें गहरा उतर जाय और जन्म के समय के पहले रुदन तक पहुँच जाय तो वह पूर्ण स्वस्थ और शांत हो जाता है। मूल अवस्था तक पहुँचने की यह थिरेपी इस सूत्र के रहस्य की ओर संकेत करती है।

लेख की सीमाओं की विवशता बृहत् स्पष्टीकरण में जाने से रोकती है। इस विषय पर व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है। भारतीय चिंतन का दृष्टिकोण सदैव समग्र रहा। वह अपने अध्ययन को किसी विशिष्ट विभाग के अन्तर्गत ही नहीं देखते बल्कि उसमें समग्रता है। इस रूप में कपिल, शंकर, कणाद, पंतजलि, कृष्ण, बुद्ध, नागार्जुन और महावीर के चिंतन में समकालीन पाश्चात्य अध्ययन के अनेक सूत्रों का सुगमतापूर्वक अन्वेषण किया जा सकता है। कृष्ण-अर्जुन का गीतासंवाद साधारण पशुतल, मानवतल और ईश्वरतल तक पहुँचने की

अद्‌भुत यात्रा है। इस यात्रा में मनोवैज्ञानिक खोजों के आजतक के प्रयास के रहस्य उपलब्ध हैं। ऐसा संभव है कि मनोविश्लेषण की खोजें कल गीता के सारे रहस्य के नजदीक पहुँच जाय और तब गीता विश्वज्ञानकोष में एक महत्त्वपूर्ण आयाम बन जायेगी। तब यह कथन अतिश्योक्ति नहीं होगा कि कृष्ण मानवता के इतिहास के सबसे विशिष्ट मनोवैज्ञानिक थे।

सर्वनारायण मिश्र

शोध छात्र,
दर्शनशास्त्र विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा (बिहार)

मूल्य-दृष्टि से जुडी नैतिक-प्रक्रिया का प्रश्न : विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण

कोई भी व्यक्ति एवं समाज अपने अस्तित्व की सार्थकता का बोध चाहता है और इसके लिये जो भी आदर्श या मूल्य उसके द्वारा निर्धारित किये जाते हैं उन्हें प्राप्त करना वह अपना ध्येय समझता है। यह ध्येय मूल्य-दृष्टि कही जा सकती है। इन मूल्यों का अर्जन करना ही सामान्यतः नैतिकता या नैतिक प्रक्रिया है।

कई चिन्तक सनातन मूल्यों को धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखते हैं और उनके अर्जन की वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रक्रिया तथा व्यवहार पूर्ण उपयोगिता को उससे पृथक् कर देते हैं। इससे आदर्श या मूल्यों में और नैतिक सभ्यता के मध्य एक विभाजन-सा हो जाता है तथा मूल्य-दृष्टि मात्र मानसिक (चिन्तन) बनकर रह जाती है। व्यक्ति एवं समाज का व्यवहार पूर्ण भौतिक-सामाजिक जीवन नैतिक सभ्यता के बाहर या फिर उसके अन्तर्गत मान लिया जाता है। इस प्रकार का विभाजन सुविधा की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है परन्तु इसका आत्यन्तिक महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के विभाजन को आत्यन्तिक मान लेने के कारण अध्ययनकर्ता स्वयं को कला, दर्शन, धर्म, इतिहास, साहित्य आदि विषयों तक ही सीमित रखते हैं और जीवन के व्यावहारिक नैतिक मूल्य-बोध को जीवन प्रक्रिया से बाहर मान लेते हैं। इस प्रकार से आदर्श या मूल्य-दृष्टि केवल मानसिक चिन्तन तक सीमित हो जाती है और उनका व्यक्ति के यथार्थ सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। विचार और व्यवहार (सिद्धान्त एवं आचरण) में असंगतियाँ-विसंगतियाँ विकसित होती हैं। अतः आदर्शों या मूल्यों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विचार को स्वीकार करने से पूर्व प्रत्येक को- व्यष्टिगत तथा समष्टिगत रूप में यह समझना आवश्यक है कि मूल्य या आदर्श मात्र मूल्य-दृष्टि ही नहीं है, अपितु मूल्य-निष्ठा भी है। यह मूल्य-निष्ठा विचार मात्र नहीं है वरन् व्यक्ति तथा समाज से जुडी आचरण प्रकिया भी है। इस प्रकार मूल्यनिष्ठा की व्यवहारगत आचरण प्रक्रिया को ही नैतिक-प्रक्रिया कहा जा सकता है और नैतिक-प्रक्रिया ही सामान्य शब्दों में नैतिकता है।

जगत् में चेतना के समग्र विकास का अर्थ है विचार एवं अनुभूति- दोनों का

समन्वयपूर्ण विकास; एकांगी विकास नहीं। अंतः जब तक हमारा चिन्तन एवं सहज अनुभूतियाँ मेलपूर्ण नहीं हो जातीं तब तक मूल्य दृष्टि, मूल्य निष्ठा और नैतिकमूल्य प्रक्रिया अपूर्ण ही रहते हैं। अतः मानव जीवन से सम्बद्ध तीनों पक्षों- यथा ज्ञान (बौद्धिक), भाव एवं क्रिया या संगतिपूर्ण समन्वय होने पर ही मूल्य-दृष्टि व नैतिक-प्रक्रिया में कोई अन्तर्विरोध नहीं रहता है। इस प्रकार की मूल्य-दृष्टि पर आधारित नैतिक-प्रक्रिया सम्पूर्ण जीवन को ही अपने में समाहित करती है। विचार अथवा चिन्तन और क्रिया दोनों ही जीवन से सम्बन्धित हैं, दैहिक मानव-जीवन के अभाव में इनकी सार्थकता प्रश्न हैं।

जीवन यदि किन्हीं मूल्यों से अनुप्रणित है तो उसके प्रत्येक पक्ष से उन्हीं मूल्यों की अनुप्रेरणाएँ प्रतिबिम्बित होनी चाहिये। कारण कि मूल्य अथवा आदर्श सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। किसी भी व्यक्ति और समाज की मूल्य-दृष्टि उसकी निष्ठा, विश्वास आस्था-उद्देश्यों को अभिव्यक्त करते हैं, उसके गुणात्मक उत्कर्ष एवं नैतिक प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं। ये निष्ठा, विश्वास, आस्थाएँ एक ओर चरम-साध्यरूप में होती हैं तो दूसरी ओर साधनरूप में। अतः मूल्य-दृष्टि या मूल्य-निष्ठा तथा नैतिक-प्रक्रिया में साधन-साध्य की दृष्टि से कोई बहुत अधिक-विशेष अन्तर नहीं होता है। कभी कभी तो यह अन्तर सापेक्षिक होता है। यदि मूल्य दृष्टि की उपयोगिता नैतिक-प्रक्रिया (व्यक्ति और समाज की नैतिकता) के लिये होती है तो सभी नैतिक-प्रक्रियाएँ मूल्य-दृष्टि या मूल्य-निष्ठा की प्राप्ति हेतु आवश्यक रूप से उपयोगी होती हैं।

अर्थात् नैतिक प्रक्रियागत व्यवहार मानवीय सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत स्वीकृत मूल्य-दृष्टि का दर्पण होता है। अतः मूल्य-दृष्टि और नैतिक-प्रक्रिया - इन दोनों में आन्तरिक एवं बाह्य संगति होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि ये साध्य एवं साधन रूप में परस्पर समान रूप से प्रतिबिम्बित होते रहें।

मानव की सामाजिक व्यवस्थाएँ और आचरण उसके द्वारा केन्द्रीय प्रेरणा के रूप में मानी जाने वाली मूल्य-निष्ठाओं, विश्वासों आदि को व्यावाहारिक धरातल प्रदान नहीं करते हैं या परस्पर प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं तो फिर यह स्वीकार करना होगा कि मूल्य-दृष्टि और नैतिक-प्रक्रिया अपना समग्र स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी है और व्यक्ति तथा समाज द्विविभाजित मूल्यों की सभ्यता और संस्कृति के आयामों को पोषित कर रहे हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि ऐसी मूल्य-दृष्टि और मूल्य-निष्ठा विभाजित, अन्मनस्क, अस्वस्थ मन पर आधारित है। ऐसी स्थिति में द्विविभाजित

या बहुविभाजित अस्वस्थ मन पर आधारित मूल्य-दृष्टियों को आधार मान कर की जाने वाली नैतिक-प्रक्रियाएँ अन्तर्विरोधी, विभक्त, अस्वस्था व्यवहार को ही विकसित करती हैं। ऐसा न हो इसलिये यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि व्यक्ति और समाज की मूल्य दृष्टि और मूल्य-निष्ठा मात्र आदर्श रूप ही नहीं है अपितु उन्हें अर्जित करने की नैतिक-प्रक्रिया भी है। और चूँकि यह अर्जित करने की नैतिक प्रक्रिया है अतः वह देश-काल से आबद्ध भी। आबद्धता को सदैव ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना संगत होता है क्योंकि आबद्धता से ही इतिहास रचा जाता है। अन्य शब्दों में यह कहना उचित होगा कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का निरूपण बिना देश-काल की आबद्धता के नहीं हो सकता है क्योंकि इतिहास सदैव देश और काल में घटित घटनाओं का ही होता है। देश और काल में घटित घटनाएँ तत्कालीन भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, मानवीय आदि कई कारणों से प्रभावित होती हैं। इनके कारण कोई अविरोध और अन्तर्विरोध विकसित होते हैं।

मानव एक चेतन सत्ता है। वह ज्ञात अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक बौद्धिक सामर्थ्य के कारण इन अन्तर्विरोधों को जानकर, समझकर यथासंभव इनके समाहार का यथासंभव प्रयत्न कर सकता है। जीवन्तता और सर्जनशीलता के गुण उसे बहुआयाम प्रदान करते हैं। इनके अभाव में मूल्य-दृष्टि मरणासन्न हो जडीभूत हो जाती है। यदि हम समग्र मूल्यों की जीवन्त मानवीय विकासोन्मुखता चाहते हैं तो युगीन परिवर्तन को स्वीकार करते हुए मूल्यों के चिन्तनात्मक-सैद्धान्तिक पक्ष और उनके आचरणात्मक-व्यावहारिक पक्ष-यथा मूल्य-दृष्टि और नैतिक प्रक्रियाओं में उत्पन्न इस विभाजन की मानसिकता से मुक्त होना होगा। यदि व्यक्ति और समाज ऐसा नहीं करते हैं तो फिर मूल्य-दृष्टि एवं नैतिक प्रक्रिया को साध्य रूप में स्वीकार करने का कोई नैतिक औचित्य नहीं होगा।

मूल्य-दृष्टि से जुडी 'नैतिक-प्रक्रिया का प्रश्न : विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण' का यह आलेख मानव के समाज व्यवहार और उनकी सैद्धान्तिक मूल्य-दृष्टि में उत्पन्न द्विभाजन अथवा कथनी और करनी के अन्तर का समाहार करने की दिशा में युगीन अवस्थाओं में सचेत होने का एक दिशासंकेत मात्र है।

डा. (सुश्री) निर्मल गर्ग

प्रवक्ता, दर्शन विभाग,
राज. जा. दे. व. महाविद्यालय,
कोटा (राजस्तान)

ग्रंथसमीक्षा

-१-

दिक्-काल अंतःअनुशासनीय परिप्रेक्ष्य, डॉ. वीरेन्द्र सिंह, बोधि प्रकाशन, जयपुर, संस्करण २००१, पृ. १२०, मूल्य १७५/-

डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने प्रस्तुत पुस्तक में ''भाषा-चिंतन में दिक्-काल'', ''धार्मिक अनुभव में दिक्-काल बोध'', ''इतिहास, मनोविज्ञान, साहित्य, विज्ञान, दर्शन,'' प्राणिशास्त्र तथा दर्शन आदि क्षेत्रों में दिक् और काल की अवधारणा पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने दिक्-काल पर लिखे वैज्ञानिक विवेचन को पढा है, यहाँ तक कि स्टीफन हॉकिन्स की प्रसिद्ध पुस्तक ''समय का संक्षिप्त इतिहास'' भी पढा है। इस कारण डॉ. सिंह की यह किताब हिंदी में ''विज्ञान-दर्शन'' का एक स्तरीय प्रारूप पेश कर सकी है यानी इसे पढकर जिज्ञासु दिक्-काल तथा संबंधित विषयों पर प्रस्तुत ज्ञान से प्रेरित होकर एक वस्तुगत दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह का पांडित्य मात्र ऊपरी या दिखाऊ नहीं हैं। वह जानते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में जो निरंतर प्रयोग तथा नए तथ्य आ रहे हैं या आ चुके हैं, उनमें सूक्ष्मतम परमाणुओ-कणों, गुरूत्वाकर्षणों-गतियों, विद्युत-चम्बुकीय तत्त्वों, कणों के मूल स्वरूप की स्थिति में कण और लहर (पार्टिकल एण्ड वेव) के रूपों आदि की व्याख्या में पूर्णतः वस्तुगतता को चुनौती मिली है और अनिश्चितता के सिद्धांत (अन्सरटेनिटी) से, सापेक्षतावाद की धारणाओं से जो विश्लेषण हुआ है, उससे मनोगतता से बचना कठिन हो गया है। इस संबंध में भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी, नास्तिक साम्यवादी विश्लेषक ''देखो और प्रतीक्षा करो'' (वेट एण्ड सी) की प्रकृति अपनाते हैं। और अनिश्चितता और सापेक्षता के सिद्धांतों के बावजूद परालौकिक या पराभौतिक सत्ताओं को नहीं मानते, विज्ञान का बौद्धिक और प्रायोगिक आधार नहीं छोडते। किंतु डॉ. वीरेन्द्र सिंह अध्यात्म और पराभौतिक आयामों के लिए गुंजायश छोड देते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि मनुष्य की चेतना के उड्डयन की सीमा नहीं है अतएव साधकों, सिद्धों रहस्यवादियों, और योगियों के अतीन्द्रिय अनुभवों और चमत्कारों का खंडन करने में संकोच करते हैं। उनका कहना है- ''जागतिक दिक्-काल का स्तर एक प्रदत्त यथार्थ है जिसे नकारना या कम महत्त्व देना अनेक विसंगतियों को जन्म देता है। दूसरी ओर, परामनोवैज्ञानिक या पराजागतिक

(अनंत) स्तर को पूर्णतया नकार देना मानव के मनोवैज्ञानिक और चेतनात्मक रूप के प्रति ऐसी अवहेलना है जो मनस्तात्त्विक संदर्भ को ऐतिहासिक-प्रक्रम से दूर फेंकने की एक अतार्किक स्थिति हैं'' (पृ. ३२.)।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह यहाँ स्पष्ट रूप से भौतिक और पारमार्थिक ज्ञान या रहस्य-दर्शन का विरोध शांत करते दीखते हैं। इस के लिए वे अज्ञेयवाद अपना सकते थे कि जो अभी वैचारिक दृष्टि से ज्ञेय नहीं है, इस पर अभिमत को स्थगित रखा जाएँ या यह कह सकते थे कि विज्ञान अभी क्रमशः ज्ञान प्राप्त करता जा रहा है। अतः जो अभी असिद्ध है, यथा ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि को सिद्ध मान लेने की जरुरत नहीं है। तथापि डॉ. वीरेन्द्र सिंह की यह स्थापना प्रशंसनीय है कि जगत् के आधार के बिना पराजागतिक तत्त्वों की व्याख्या संभव नहीं है, जबकि रहस्यवादी विचारक या आत्मगतवादी मानवात्मा या चैतन्य को ही मूलाधार मानते हैं तथा वे यह विश्वास करते हैं कि पराजागतिक शक्ति और आत्मसत्ता से ही पराशक्तियों का साक्षात्कार संभव है। रहस्यवादियों या साधनावादियों का यह विचार वैज्ञानिक नहीं है और उसका समर्थन वैज्ञानिक को रहस्यवादी बना देता है।

मैं बुद्धिहीन अंध-आस्था के विपरीत बौद्धिक और विवेकशील दृष्टि से डॉ. वीरेन्द्र सिंह के विज्ञानलेखन, विशेषकर 'दिक्-काल' का स्वागत करता हूँ और यह कि मैंने डॉ. सिंह के दीर्घकालीन वैज्ञानिक लेखन को देखकर उन्हें जो वैशेषिक-दर्शन के आविष्कार मुनि 'कणाद' कहा था, वह मात्र अलंकार या स्तुति या अत्युक्ति नहीं है।

डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने दिक्-काल में वैज्ञानिक लेखन के लिए प्रतिमानीकृत हिंदी का प्रयोग किया है और विकास भी। विदेशी, मुख्यतः अंग्रेजी के पारिभाषिक वैज्ञानिक शब्दों के जो पर्याय दिए हैं, वे सटीक हैं। इस विषय में किसी नुक्ताचीनी की गुंजायश ही नहीं है, परंतु एक दो साधारण बातें कही जा सकती हैं जैसे अध्ययन पारंगत व्यक्तित्व भी कुछ कथन-विधियाँ पाल लेते हैं जैसे डॉ. सिंह 'लोकेट' शब्द का बार बार प्रयोग करते हैं जबकि 'चीन्हने' का प्रयोग लोकेट के लिए हो सकता है। इसी तरह 'यदि गहराई से देखा जाए' वाक्यांश का प्रयोग बार बार हुआ है। वस्तुतः यह डॉ. वीरेन्द्र सिंह की शैली या कथा-विधि को चीन्हने के लिए रोचक संदर्भ बनते हैं।

विज्ञान-दर्शन तथा विभिन्न ज्ञानानुशासनों की दृष्टि से 'दिक्-काल' पुस्तक को मूल्यवान् मानना होगा और इसकी कद्र भी करनी होगी। डॉ. वीरेन्द्र सिंह की 'दिक्-काल' पुस्तक में अधिक वस्तुगत का परिचय दियां गया है। अतः यह पुस्तक

आत्मगता और अलौकिक आस्थाओं और विश्वाओं के विरुद्ध संघर्ष में अधिक उपयोगी साबित होगी। इस दृष्टि से यह पुस्तक सर्वथा मौलिक और नया प्रयास है जो डॉ. सिंह की गहन अध्ययनवृत्ति, चिंतनशीलता और नवीन प्रस्थापनाओं का खतरा उठाने की आत्मशक्ति का परिणाम कहीं जा सकती है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

- २ -

राय एम्. एन्. (ले), आचार्य नंदकिशोर (अनु.), **विज्ञान और दर्शन**, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, १९९९, पृ. १११, मूल्य रु. ५५/-

किसी भी भाषा का विकास उस भाषा का प्रयोग करनेवाले समाज के विकास का निदर्शक होता है। भाषा और विचार की संपन्नता, संस्कृति का संवर्धन और मूल्यों की परिष्कृति ये सभी चीजें एक दूसरे से जुडी हुई हैं । ज्ञान के क्षेत्र में भाषा का प्रयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। ज्ञानशाखाओं की वृद्धि के साथ भाषा भी समृद्ध बनानी पडती है ताकि आम आदमी को उस ज्ञान का उपयोग करने का लाभ हो। ऐसी बहुत सी ज्ञानशाखाएँ हैं जो सभी समाजों में निर्माण या विकसित नहीं होती हैं। लेकिन अगर उन्हें उस समाज की भाषा में आम आदमी के लिए उपलब्ध कराया जाए तो समाज का विकास एवं संवर्धन होता है। इस दृष्टि से अनूदित कृतियाँ महत्त्व रखती हैं। हरेक भाषा में विश्व की श्रेष्ठ रचनाओं के उपलब्ध होने से उस भाषा का और वह भाषा बोलनेवालों का उन्नयन होता है। प्रस्तुत पुस्तक डॉ. मानवेंद्र नाथ राय की मूल अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद है, जिस ने हिंदी भाषिकों के लिए एक श्रेष्ठ रचना उपलब्ध करायी है ।

प्रस्तुत पुस्तक **विज्ञान और दर्शन** प्रायः दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक श्रेष्ठ रचना के अनुवाद के कारण हिंदी भाषा के लिए यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पुस्तक की शैली अत्यंत सरल एवं प्रासादिक है, जिसे पढकर ऐसा नहीं लगता कि यह अनूदित कृति हो। पुस्तक का विषय मूलतः क्लिष्ट एवं कठिन होने के बावजूद मँजी हुई भाषा के कारण प्रवाह में अटकाव नहीं पैदा होता। भाषा सरल है लेकिन विषयानुरूप परिष्कृत होने के कारण बोलचाल की भाषा की तरह सीदी-सादी नहीं है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विषयों पर लिखने के लिए अंग्रेजी भाषा विद्वानों को हमेशा सुलभ प्रतीत हुई है। लेकिन अंग्रेजी की तरह हिंदी भाषा में वही विचार सुगठितरूप से प्रस्तुत किया जा सकता है इस का एक अच्छा नमूना इस पुस्तक के रूप में सामने आया है। उदाहरण के लिए यह वाक्य देखें, "प्रयोगविधियों के

परिष्करण ने उन संवर्गों को भी भौतिक शोध की परिधि में ला दिया है जिन्हें पहले पराभौतिक समझे जाने के कारण विशुद्ध विचार अर्थात् आनुमानिक चिंतन का विषय माना जाता था।'' (पृ. ४१) इस तरह की भाषा का प्रयोग ऐसी प्रतीति देता है कि मानो यह विचार मूल हिंदी भाषा में ही प्रस्तुत किया हो; जैसे, ''...व्यष्टि रूप में आत्मा और समष्टिरूप में ईश्वर नव-जैवशक्तिवाद के प्रस्थान-बिंदु हैं।'' (पृ. ८५) इस विषय को और मूल अंग्रेजी को ऐसी सहज हिंदी में प्रस्तुत करने से हिंदी भाषा की सामर्थ्य उभरकर सामने आती है, जिस से हौसला बढ सकता है कि ऐसे विषय हिंदी भाषा में प्रस्तुत करना असंभव या कठिन भी नहीं है।

डॉ. मानवेंद्रनाथ राय की मूल पुस्तक पचास से अधिक साल पुरानी होने के बावजूद उस में प्रस्तुत चिंतन आज भी विचारार्ह एवं प्रेरणादायी है। विज्ञान और दर्शन की समस्याओं पर समन्वित चिंतन करने की प्रवृत्ति और भी अधिक बढनी चाहिए। इस दृष्टि से इस पुस्तक का हिंदी में प्रकाशित होता समयोचित है। अनुवादक एवं प्रकाशक इस पुस्तक के लिए प्रशंसापात्र हैं।

सुभाषचन्द्र भेलके

- ३ -

शर्मा राधेश्याम (सं.) **साहित्य, संस्कृति और अन्य विधाएँ,** राजस्तान साहित्य अकादमी, उदयपुर, १९९७, पृ. १३०, मूल्य रु. ९०।

आजकल आंतरशाखीय ज्ञानचिंतन की विधा विशेष प्रतिष्ठित हो रही है। लेकिन साहित्य का ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से संबंध विवेचित करने का प्रयास नया नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में सात मूर्धन्य चिंतकों के लेखों को संपादित किया है। ये सभी लेख साहित्य को केंद्र में रखते हैं और हरेक विद्वान् अपनी विशेषज्ञता के अनुकूल सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, संस्कृति, इतिहास, दर्शन, विज्ञान तथा मनोविज्ञान इन ज्ञानशाखाओं को साहित्य के संदर्भ में अपने विचार अभिव्यक्त करते हैं।

इस पुस्तक के पहले लेख के लेखक डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर जानेमाने समीक्षक हैं और इसीलिए आलोचना के पक्ष को लेकर सौंदर्यशास्त्र की उन समस्याओं का विश्लेषण करते जाते हैं जिनका सरोकार किसी रचना के आस्वादन से जुडा है। कांट को लेकर सौंदर्यानुभव को स्पष्ट करते हुए वे रसानुभूति के बारे में भी कहते हैं। लेकिन कांट के सिद्धान्तों की चुनौतियों के बारे में भी वे सजग हैं। उन्हें सौंदर्यानुभूति को जीवन से जोडकर देखना है। उन का कहना कि सौंदर्य के साथ हमें 'शक्ति' को जोडना है, महत्त्वपूर्ण बात उठाता है। सुश्री डॉ. निर्मला जैन बताती हैं कि साहित्य

और समाजशास्त्र में पूरे तौर पर भेद नहीं है। क्योंकि साहित्य में सभी तरह की सामाजिक गतिविधियों का चित्रण उतरता है। इस संदर्भ में वे सवाल उठाती हैं कि साहित्य वस्तुतः किस का प्रतिबिंब है ? इसे लेकर चर्चा करते हुए वे मार्क्सवादी साहित्य की असफलता को भी दर्शाती हैं। डॉ. गोविंदचंद्र पांडे अपने लेख में साहित्य और संस्कृति का संबंध दर्शाते हुए साहित्यकार की सनातनता और सत्य, शिव जैसे मूल्यों के प्रति होनेवाला आकर्षण दिखाते हुए संस्कृति की भूमिका स्पष्ट करते हैं। साहित्य का इतिहास से संबंध बताते हुए प्रो. लल्लनजी गोपाल कहते हैं कि बहुत सारे विषयों को इतिहास में सप्रयास लाना पडता है, लेकिन साहित्य में वे अनायास आते हैं। साहित्य में इतिहास किस तरह योगदान देता है इस बात को वे स्पष्ट करते हैं।

विख्यात दार्शनिक प्रो. दयाकृष्ण साहित्य और दर्शन के बीच जो मौलिक भेद है उसे लेकर उनका अंतर दर्शाते हुए उनके आंतरिक मेल को बखूबी स्पष्ट करते हैं। दोनों का आधार भाषा है। दोनों मानवीय सृजन हैं, लेकिन भावना तथा बुद्धि की भूमिका दोनों में भिन्न है। सत्य के बारे में भी दोनों की दृष्टियाँ भिन्न हैं। साहित्य और दर्शन जिस चेतना का सृजन है उसी चेतना के कुछ विशेष आयामों से वे जुडे भी हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रो. दयाकृष्ण न केवल दोनों की सीमाएँ आँकते हैं बल्कि उनकी सामर्थ्य भी दिखाते हैं। अंत में विज्ञानबोध पर डॉ. वीरेंद्रसिंह का और मनोविज्ञान से संबंधित डॉ. गिरीश्वर मिश्र के लेख साहित्य के उन पहलुओं को प्रकाशित करते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टियों से विचारणीय है।

इस पुस्तक के सभी लेख विचारों की गरिमा से भरे हुए और सुबोध शैली से लिखे हुए हैं। यह पुस्तक केवल साहित्यशास्त्र में रुचि रखनेवालों के लिए ही उपयुक्त न होकर दर्शन तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं के अध्येताओं के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

सुभाषचंद्र भेलके

सम्पादकीय

ऐसा माना जाता है कि दर्शन में मनुष्य-जीवन का निचोड आता है। जो कुछ भी मनुष्य के जीवन में होता है उसे सोच की परत पर लेकर, उसे अमूर्त रूप में बदलकर उस का सार निकाला जाता है और उसे दर्शन समझा जाता है। दर्शन की यह समझ परिष्कृत न होते हुए भी आम आदमी के लिए यह आसान बात बनती है। जीवन से निकले कमल की तरह दर्शन फिर अपनी छाया उसी पानी में देखता है। कमल के फूलों से खिला तालाब केवल उस में कमल होने से ही सुंदर नहीं होता है बल्कि उन कमल के फूलों के प्रतिबिंबो से भरने के कारण उस की सुंदरता और भी निखरती है। शायद तालाब को लगता को कि कमल फिर से उस में समा जाने लिए वापस लौटा हो । दर्शन भी कभी जीवन में प्रतिबिंति होकर अपनी हस्ती को मिटाए बिना जीवन में घुल-मिल जाता है तब जीवन भी आनंदित हो उठता है। दर्शन को चाहिए कि वह जीवन में घुलमिल जाए और दार्शनिक को चाहिए कि वह दर्शन को जीवन में ले जाकर जीवन जीने का आनंद ले।

इस तरह के प्रयास कभी न कभी होते रहते हैं । दर्शन की कोई विधा अपने सिद्धान्तों को लेकर जीवन के उसी पहलू में घुस कर आम जीवन का अनुभव करती है तब न केवल दार्शनिक को बल्कि आम जीवन के उन साथियों को भी एक विशेष अनुभूति दिये जाती है। दर्शन का जीवन से नाता दोहरा है। जैसे दर्शन को आम जीवन से उस के निचोड के रूप में उभर आता है, वैसे ही दर्शन को आम जीवन में जीवन का एक हिस्सा बनकर रहना है और जीवन को मजबूत करना है। दर्शन का जीवन से यह रिश्ता बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस के लिए दार्शनिक और सामान्य लोग इन में संवाद प्रस्थापित होना जरूरी है।

इस साल के आरंभ में नई दिल्ली में एक ऐसा प्रयास हुआ । भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद ने सौंदर्यमीमांसा के जीवनदर्शी पहलू को उठाकर जनवरी में एक संगोष्ठी आयोजित की थी। इस संगोष्ठी की विशेषता यह रही की कला के क्षेत्र में उभरी सौंदर्यमीमांसा के कुछ पहलुओं पर विचार करने के लिए साथ-साथ बैठे थे कुछ दार्शनिक और बहुत सारे कलाकार। इन में कोई भेद नहीं था। दोनों अपनी-अपनी भाषा को सामान्य रूप देकर एक दूसरे के मन्तव्य जानने के प्रयास में उलझे

थे। दार्शनिक, समीक्षक, कवि, नर्तक, चित्रकार, नाटककार, शिल्पी आदि तरह तरह के जानेमाने लोग इकठ्ठा बैठकर एक दूसरे के हृदय तथा दिमाग में झाँकने की कोशिश कर रहे थे । कलाकारों ने अपनी बात समझाने के लिए अपनी कला को भी प्रस्तुत किया। एक दूसरे ने आपस में बहुत कुछ ताक-झाँक लिया। इन सब लोगों की उपलब्धि क्या और कैसी रही इसके बारे में अभी तो कुछ कहना नहीं है। लेकिन सभी पक्ष के चिंतक आनंद एवं समाधान में शराबोर दिखाई दिये और अपने अपने ठिकानों पर वापस लौटे इसी आशा से कि इस तरह मिलना अब कितनी जल्दी हो पाएगा । इस संगोष्ठी से संवाद एवं अनुभूति-संक्रमण की एक नयी विधा को उभरते हुए देखने को मिला। इस से दर्शन को लिए एक आशा बनती है कि वह जीवन में उसका एक आम हिस्सा बन कर जीवन को संपन्न बनता रहे।

इस तरह के प्रयास अगर गंभीरता से लिए जाएँ तो उसे से बहुत कुछ निकल सकता है। इस प्रयास को सफल बनाने वाले दिल्ली के डॉ. रंजन घोष तथा भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद के प्रति गौरवपूर्ण धन्यवाद देना उचित होगा । इस गतिविधि आगे बढने की संभावनाएँ तेज बनेंगी।

–सुभाषचन्द्र भेलके

विट्गेन्स्टाइन की जीवन-दृष्टि

प्रत्येक मनुष्य की जीवन के विभिन्न पहलुओं, उदाहरण के लिए, नैतिकता, आध्यात्मिकता और मानवीय संकल्प एवं सम्बन्ध इत्यादि के प्रति विशिष्ट दृष्टि होती है। दृष्टिकोण की यह विशिष्टता मनुष्यविशेष के जीने के ढंग में परिलक्षित होती है। शायद यही कारण है कि कतिपय दार्शनिकों ने मानवीय शरीर को आत्मा का बाह्य प्रकटीकरण माना है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण और जीवन-यापन की शैली में प्रायः निकटस्थ सामन्जस्य पाया जाता है। यह बात समकालीन दर्शनशास्त्री लुडविग विट्गेन्स्टाइन (१८८९-१९५१) के बारे में अत्यन्त सटीक प्रतीत होती है। विट्गेन्स्टाइन का जीवन और दर्शन के प्रति दृष्टिकोण और उनकी जीवन-यापन की शैली में कोई विरोधाभास नहीं था - दोनों को एक दूसरे का पर्याय या पूरक कहा जा सकता है।

प्रस्तुक लेख विट्गेन्स्टाइन की जीवन-दृष्टि का विवेचन और विश्लेषण करता है। यह विट्गेन्स्टाइन के गम्भीर और जटिल दार्शनिक विचारों की गूढ दार्शनिक परिचर्चा, जैसा कि विट्गेन्स्टाइन विषयक प्रायः सभी लेखों की प्रकृति होती है, से भिन्न उनके व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी विचारों का पुनर्प्रस्तुतीकरण है।

विट्गेन्स्टाइन के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को उनके तत्त्वमीमांसा, धार्मिक विश्वास, नैतिकता, आध्यात्मिकता, रहस्यवाद, मानवीय-संकल्प, मानव-प्रेम, मृत्यु और आनंद इत्यादि से सम्बन्धित विचारों में देखा जा सकता है। विट्गेन्स्टाइन के विचारों की यह ऐसी उत्तर-आधुनिक परिचर्चा है जो विट्गेन्स्टाइन दर्शन के ऐसे पहलुओं, जिन पर दार्शनिकों में विचार-विमर्श का क्रम जारी है, के बीच एकसूत्रता स्थापित करने का प्रयास करती है।

शुरुआत में ही यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि दर्शन का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध होता है। अर्थात्, जीवन ही दर्शन की आधारशिला है। इस दृष्टिकोण से विट्गेन्स्टाइन के सम्पूर्ण दर्शन को उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण का ही एक रूप माना जा सकता है। पारम्परिक रूप से दर्शनशास्त्र का नीतिदर्शन,

धर्मदर्शन, विश्लेषणात्मकदर्शन, विज्ञानदर्शन इत्यादि के रूप में विभाजन, दार्शनिक शोध की गहनता का परिणाम है। दर्शन शास्त्र को जिन विभिन्न शाखाओं में बाँटा गया है उनमें नैतिकता, धर्म, जीवन-मृत्यु, आध्यात्मिकता इत्यादि से सम्बन्धित विचारों को तर्क, प्रतिज्ञप्ति अर्थ-निर्धारण इत्यादि की तुलना में मानव जीवन से अधिक नजदीक माना जाता है। इस प्रकार, यद्यपि दर्शनशास्त्र को मानव जीवन का दर्पण माना जा सकता है (साहित्य से भिन्न दर्शनशास्त्र मानव जीवन का मूक और फन्तासी दर्पण न होकर यथार्थ और तार्किक दर्पण होता है)। फिर भी दर्शन की कतिपय विधायें, उदाहरण के लिए नीतिदर्शन और धर्मदर्शन, इसकी अन्य विधाओं, उदाहरण के लिए विश्लेषणात्मकदर्शन, मनदर्शन और विज्ञानदर्शन की तुलना में, सामान्य मनुष्य के लिए अधिक प्रयोजन-मूलक और अर्थक्रियावादी मूल्य से ओतप्रोत होती हैं।

दर्शन और जीवन के बीच के गहरे सम्बन्ध को इस दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य की एक जीवन-दृष्टि होती है और इसी कारण मनुष्य वस्तुतः दार्शनिक या चिन्तनशील माना जाता है; यद्यपि इस विषय में मतभेद है कि सभी मनुष्य दार्शनिक हैं या नहीं। कार्ल पॉपर के अनुसार "मैं सोचता हूँ कि सभी पुरुष और महिलाएँ दार्शनिक हैं, यद्यपि कुछ दूसरों की अपेक्षा अधिक हैं।"[२] इस प्रकार, जीवन-दृष्टि और दार्शनिक-दृष्टि परस्पर इस तरह से एक दूसरे में घुलमिल गये हैं कि दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में देखना श्रेयस्कर होगा। विट्गेन्स्टाइन की जीवन दृष्टि और उनकी दार्शनिक पद्धति में इसी प्रकार की एकता दृष्टिगोचर होती है। उनके दर्शन और जीवन के उद्देश्यों में कोई विरोधाभास नहीं है। दोनों को एक दूसरे का पूरक एवं प्रतीक माना जा सकता है। १९२१ में *ट्रैक्टेटस* के प्रकाशन के बाद तार्किक-भाववादियों ने इसे अपना आदर्श ग्रंथ माना। यह वह दार्शनिक काल था जब तार्किक भाववादी व्याख्या की समीचीनता पर कोई प्रश्नचिह्न प्रभावी रूप से उभर कर सामने नहीं आ रहा था। इस व्याख्या के अनुसार दो प्रकार के कथन ही अर्थपूर्ण होते हैं: १) ऐस कथन जो विश्लेषणात्मक होते हैं, और २) ऐसे कथन जो इन्द्रियानुभव पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आधारित हों। विश्लेषणात्मक कथन की सत्यता के लिए उस कथन से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे कथनों में विधेय पद वही व्याख्या करता है जो कि उस कथन का उद्देश्य पद कहता है। उदाहरण के लिए :

१. अविवाहित व्यक्ति कुँवारा होता है।

२. २ + २ = ४

यद्यपि ऐसे कथन कोई नई जानकारी प्रदान नहीं करते, बल्कि एक प्रकार से पुनरुक्तियाँ होते हैं; फिर भी इन कथनों की सत्यता के लिए इन कथनों से बाहर जाकर किसी साक्ष्य के द्वारा इनके सत्यापन की आवश्यकता नहीं होती। 'अविवाहित' और 'कुँवारा' पदों का अर्थ एक ही है। इसी समरूपता के कारण ही, भाववादियों के अनुसार, ऐसे कथन अर्थपूर्ण होते हैं। ऐसे कथनों की सत्यता की जाँच के लिए किसी अनुभव के द्वारा इनके सत्यापन की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे प्रकार के कथन जो अर्थपूर्ण होते हैं, वे इन्द्रियानुभव पर आधारित होते हैं और विश्लेषणात्मक कथनों के विपरीत नई जानकारी प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, 'आज बहुत गर्मी है'। इस कथन की सत्यता या असत्यता की जाँच अनुभव के आधार पर की जा सकती है। अर्थात् इसका आनुभविक सत्यापन संभव है। इन दोनों प्रकार के कथनों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के कथन, तार्किक्क भाववादियों के अनुसार, अर्थहीन अपलाप होते हैं। इनके अनुसार, दर्शनशास्त्र को इन दोनों कथनों तक ही स्वयं को सीमित करता चाहिए।

अपनी इसी व्याख्या के आधार पर तार्किक भाववादियों ने धर्म एवं तत्त्वमीमांसीय कथनों को अर्थहीन घोषित किया। इन कथनों के दर्शन-शास्त्र से निष्कासन के साथ-साथ उन्होंने नीतिशास्त्रीय कथनों की संवेदनात्मक व्याख्या की है, जिसके अनुसार ऐसे कथनों का कोई ज्ञानात्मक मूल्य नहीं होता बल्कि ये मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति मात्र होते हैं। इस व्याख्या के आधार पर भाववादियों ने यह मान लिया कि उन्होंने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र और धर्म की उस संरचना को पूर्णतः ध्वस्त कर दिया जिसे कि काण्ट ने शुद्ध-बुद्धि-मीमांसा में स्थापित किया था।

इस प्रकार के विचारों को प्रतिपादित करने वाले तार्किक भाववादियों ने *ट्रैक्टेटस* को भाववादी पुस्तक माना और बाद में यह स्वीकार भी किया कि यह उनकी भूल थी। भाववादियों द्वारा *ट्रैक्टेटस* को भाववादी पुस्तक मानने की भूल करने का एक आधार है। वस्तुतः विट्गेन्स्टाइन ने स्वयं *ट्रैक्टेटस* में ऐसी बातें कहीं हैं जिसमें ऐसी गलतफहमी का होना स्वाभाविक है। विट्गेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* में कहते हैं ''दर्शनशास्त्र की सही पद्धति वस्तुतः निम्नलिखित होगी : जिसके बारे में कुछ कहा जा सकता है, अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियों - अर्थात् ऐसे (विषयों)

जिनका दर्शनशास्त्र से कुछ भी लेना देना नहीं है, के अतिरिक्त और कुछ न कहना। और जब कोई अन्य व्यक्ति कोई तत्त्वमीमांसीय बात कहना चाहे तब उसे यह दर्शाना कि वह अपनी प्रतिज्ञप्ति के कतिपय प्रतीकों को अर्थ प्रदान करने में असफल रहा है.... (दर्शनशास्त्र की) यही पद्धति पूर्ण रूपेण सही होगी।'' (*ट्रैक्टेटस* ६.५३)

इसी प्रकार, *ट्रैक्टेटस* का अन्तिम कथन है : ''जिसके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते हैं उसके बारे में हमें मौन रहना चाहिए।'' तार्किक भाववादियों ने विट्गेन्स्टाइन के इन कथनों को तत्त्वमीमांसा की आलोचना के रूप में माना क्योंकि तत्त्वमीमांसा अन्तिम सत्ता के बारे में यह मानती है कि उसका पूरी तरह वर्णन संभव नहीं। यदि हम भारतीय दर्शन के संदर्भ में देखें तो यह पाते हैं कि शंकराचार्य का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। ब्रह्म की इस अनिवार्यता का कारण ब्रह्म का मानवीय विशेषणों की परिधि में न समाना है। पाश्चात्य दर्शन में ब्रैडले का 'परम' का सम्प्रत्यय भी इसी प्रकार का है। शंकराचार्य की तरह ही वह भी 'परम' को मानवीय ज्ञान से परे मानते हैं। *ट्रैक्टेटस* के इन वाक्यों की अक्षरशः व्याख्या में ऐसे तत्त्वमीमांसीय कथनों के लिए कोई स्थान नहीं।

परन्तु तार्किक भाववादियों को *ट्रैक्टेटस* की उपर्युक्त व्याख्या उनके द्वारा *ट्रैक्टेटस* को अच्छी तरह न समझ सकने के कारण हुयी। विट्गेन्स्टाइन ने तार्किक-भाववादियों के विचारों से सहमत होना अस्वीकार कर दिया और *ट्रैक्टेटस* की तार्किक भाववादी व्याख्या को नकार दिया। बाद में ए. जे. एअर जैसे भाववादियों ने यह स्वीकार किया कि उनकी *ट्रैक्टेटस* की व्याख्या त्रुटिपूर्ण थी। एअर भाववादियों की भूल के बारे में लिखते हैं कि ''हमने यह मान लिया था कि उन्होंने (विटगेन्स्टाइन ने) तत्त्वमीमांसा को अनुपयोगी माना जबकि, जहाँ तक उन्होंने तत्त्वमीमांसा को 'रहस्य' माना और इसमें मूल्यगत निर्णय तथा जीवन के अर्थ की प्रशंसा को शामिल किया, उनका दृष्टिकोण काण्ट की तरह था, जिनकी तत्त्वमीमांसा की आलोचना का उद्देश्य आस्था के पक्ष में ज्ञान के क्षेत्र की सीमा को सीमित करना था।''[३]

विट्गेन्स्टाइन के धार्मिक दृष्टिकोण के बारे में विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं। इस सन्दर्भ में विट्गेन्स्टाइन के धर्म सम्बन्धी विचारों पर नार्मन मैलकम और पीटर विन्च विवाद आजकल विटगेन्स्टाइनियों के बीच चर्चा का विषय बना हुआ है। विट्गेन्स्टाइन के शिष्य नार्मन मैलकम अपनी

मृत्यु (१९९०) के कुछ समय पूर्व विट्गेन्स्टाइन के धार्मिक दृष्टिकोण पर अपनी पुस्तक *विट्गेन्स्टाइन : ए रेलिजियस प्वाइंट आव व्यू* पूरा कर चुके थे। मैलकम विट्गेन्स्टाइन के प्रिय शिष्य थे और उनके द्वारा लिखी गयी विट्गेन्स्टाइन की आत्मकथा (*मेमॉयर*) को विट्गेन्स्टाइन की सर्वोत्तम आत्मकथाओं में से माना जाता है। रे मान्क की पुस्तक *द ड्यूटी आव जीनियस* के प्रकाशन (१९९९) के पहले मैलकम की पुस्तक का कोई जोड नहीं था। मैलकम की मृत्यु के बाद उनकी पुस्तक का प्रकाशन उनके मित्र पीटर विन्च की टिप्पणियों के साथ, १९९३ में हुआ। पीटर विन्च ने इस पुस्तक में मैलकम द्वारा व्याख्यायित विट्गेन्स्टाइन के धार्मिक दृष्टिकोण के समानान्तर ही एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है। मैलकम और विन्च के विचार न केवल विट्गेन्स्टाइन के धार्मिक दृष्टिकोण को अधिक स्पष्टता प्रदान करते हैं बल्कि इनसे विट्गेन्स्टाइन के जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विशिष्ट प्रकार से प्रकाश पडता है। यद्यपि यह पुस्तक मैलकम द्वारा लिखी गई परन्तु विन्च की टिप्पणियों के साथ इसके प्रकाशन के कारण इसे मैलकम-विन्च की पुस्तक कहना अधिक उचित होगा। इस पुस्तक का मुख्य विषय विट्गेन्स्टाइन के द्वारा अपने शिष्य और मित्र ड्रूरी को कहा गया एक वाक्य है। विट्गेन्स्टाइन ने ड्रूरी से यह कहा था कि ''मैं धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ परन्तु मैं सभी समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखने से स्वयं को बचा नहीं सकता।'' मैलकम के अनुसार, उपर्युक्त कथन में विट्गेन्स्टाइन ''जिन समस्याओं की तरफ संकेत कर रहे थे वे गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी, अपराध, नृशंसता, जातीय पूर्वग्रह और युद्ध की समस्याएँ नहीं थीं। ये समस्याएँ मानवजाति को दबा देने वाली और अचम्भित करने वाली हैं। निश्चित रूप से इन्होंने विट्गेन्स्टाइन को परेशान किया। (उपर्युक्त कथन में) वह इनकी तरफ संकेत नहीं कर रहे हैं। (यहाँ पर) 'समस्याओं' से उनका तात्पर्य दार्शनिक है; ऐसी गुत्थियाँ और ऊहापोह हैं, जिनसे वह *फिलासोफिकल इन्वेस्टीगेशंस* में जूझते हैं।''[४]

इस प्रकार मैलकम यह स्वीकार करते हैं कि ऐसा हो सकता है कि विट्गेन्स्टाइन में दार्शनिक विचारों का कोई ऐसा पहलू भी है जिसे अब तक अनदेखा किया जाता रहा। यह पहलू, मैलकम के अनुसार, 'धार्मिक पहलू' हो सकता है। इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करते हैं कि यद्यपि विट्गेन्स्टाइन का कोई 'धार्मिक दृष्टिकोण' नहीं था फिर भी उनके दृष्टिकोण को धार्मिक दृष्टिकोण के सादृश्य कहा जा सकता है।

विट्गेन्स्टाइन के कथन, ''मैं धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ'' पर टिप्पणी करते हुए

मैलकम कहते हैं कि वस्तुतः उनका जीवन नैतिक और आध्यात्मिक शुद्धता की प्राप्ति का अद्भुत प्रयास था। - यहाँ तक कि मुझे यह संदेह होता है कि उनकी स्वयं के बारे में यह सोच सत्य थी" (कि 'मैं' धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ)। इस प्रकार मैलकम यह स्थापित करना चाहते हैं कि यद्यपि "अधिकांश विट्गेन्स्टाइनियन इस सुझाव पर आश्चर्य व्यक्त करेंगे कि (विट्गेन्स्टाइन ने) उन (दार्शनिक) समस्याओं को धार्मिक तरीके से देखा। फिर भी उनका ड्रूरी को कहा गया यह वाक्य कम से कम यह इंगित करता प्रतीत होता है कि विट्गेन्स्टाइन अपने धार्मिक और दार्शनिक परिदृश्य की सादृश्यता के बिन्दु या बिन्दुओं से अवगत थे।"[६]

अपनी इसी धारणा के आधार पर मैलकम ने विट्गेन्स्टाइन के दार्शनिक विचारों में उनकी धार्मिक सोच के सूत्रों को खोजने का प्रयास किया है। उन्होंने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि विट्गेन्स्टाइन के ईश्वर के सम्प्रत्यय और उनके 'भाषा-खेल' तथा 'जीवन के आकारों' के विचारों में सादृश्यता है। संक्षेप में, मैलकम एक तरफ विट्गेन्स्टाइन के इस कथन को कि "मैं धार्मिक नहीं हूँ" अक्षरशः सत्य मानने से अस्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ उनके दार्शनिक विचारों में धार्मिक तत्त्व को दर्शाने का प्रयास करते हैं। अपनी इस धारणा के पक्ष में कि विट्गेन्स्टाइन धार्मिक व्यक्ति थे, मैलकम ने जिन विचारों को व्यक्त किया है उन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं में रखा जा सकता है:

१. विट्गेन्स्टाइन ने अपने "लेक्चर्स आन इथिक्स" में जो कि उन्होंने १९२९ में केम्ब्रिज में दिया था, 'पूर्णतः सुरक्षित' होने की अनुभूति का उल्लेख किया है।

२. प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान विट्गेन्स्टाइन ने टॉलस्टाय की पुस्तक *द गोस्पल इन ब्रीफ* को सदैव अपने पास रखा। इसी कारण उन्हें उस समय लोग 'गोस्पेल वाला' के नाम से अभिहित करते थे।

३. इस प्रश्न के उत्तर में कि 'क्या विट्गेन्स्टाइन धार्मिक थे ?' पाल एन्गलमैन कहते हैं कि विट्गेन्स्टाइन ने एक बार कहा था कि जहाँ तक पाप-स्वीकृति और पश्चात्ताप की अनुभूति सम्मिलित है, वह ईश्वर के सम्प्रत्यय को समझ सकते हैं। (अपने इस कथन में) उन्होंने यह जोड दिया था कि वह (सृष्टि) निर्माता के सम्प्रत्यय को नहीं समझ पाते हैं। मैं यह सोचता हूँ कि दैवीय निर्णय, क्षमा और मुक्ति के विचारों को उन्होंने स्वीकार किया। उनके विचार उनकी स्वयं की निराशा, शुद्धता

की अकाट्य चाह और मानव जीवन की स्वयं को बेहतर बनाने की तीव्र इच्छा से जुडे हुए थे। स्व-अनुभव से मैं यह विश्वास करता हूँ कि विट्गेन्स्टाइन 'निर्णायक और क्षमाशील ईश्वर' के विचार का स्वीकार करने के लिए तैयार थे। लेकिन 'वैश्विक देव' का सम्प्रत्यय जो कि कारणता या अनन्तता के सम्प्रत्यय पर आधारित हो, उनको मान्य नहीं होगा।[७]

४. मैलकम, एंगेलमैन को पुनः उद्धृत करते हैं। "विट्गेन्स्टाइन ने एकबार सुझाव दिया था कि एक ऐसी स्थिति जिसमें आत्मा की अमरता का अर्थ निकलता है वह यह स्व-अनुभूति है कि अपने कुछ ऐसे कर्तव्य हैं जिनसे मृत्यु भी छुटकारा नहीं दे सकती है।"[८]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर मैलकम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विट्गेन्स्टाइन एक विशिष्ट अर्थ में ईसाई थे। इस सन्दर्भ में वह विट्गेन्स्टाइन के कथन को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि "ईसाई धर्म का विषय प्रार्थना के बारे में बहुत कुछ कहने से नहीं; वस्तुतः हमें ऐसा न कहने को कहा गया। यदि आप और मैं धार्मिक जीवन जीते हैं तो यह नहीं होना चाहिए कि हम धर्म के बारे में बहुत बातें करें बल्कि हमारे जीवन-यापन के तरीके विशिष्ट होने चाहिए।"[९]

मैथ्यू और *लूक* जैसे गोस्पेलों और *डोरेमाया* जैसे *ओल्ड टेस्टामेंट* के विचारक (प्रोफेट) का दृष्टान्त देते हुए विट्गेन्स्टाइन के उपर्युक्त विचारों के सन्दर्भ में नार्मन मैलकम कहते है कि "इनका तात्पर्य यह नहीं है कि विट्गेन्स्टाइन के अनुसार पूजा-अर्चना का धार्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है परन्तु यदि (इनका) स्वयं की जीवन शैली पर कोई प्रभाव नहीं पडा है तो ये व्यर्थ हैं।"[१०] 'विट्गेन्स्टाइन एक विशिष्ट अर्थ में ईसाई थे' इस निष्कर्ष के पक्ष में मैलकम विट्गेन्स्टाइन के निम्नलिखित विचारों को प्रस्तुत करते हैं :

१. ईसाइयत एक सिद्धान्त नहीं है; मेरा तात्पर्य यह है कि यह मानव आत्मा के साथ जो घटित हो चुका है या घटित होगा, के बारे में सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि आस्था में 'पाप की चेतना', निराशा और पाप-मुक्ति वास्तविक घटनाएँ हैं। जो इनके बारे में (वन्यान की तरह) बात करते हैं, वे मात्र उसका विवरण देते हैं जो कुछ उनके साथ घटित हो चुका है.....।" (*कल्चर एण्ड वैल्यू*, पृ. २८)

"ईसाइयत ऐतिहासिक सत्य पर आधारित नहीं हैं, बल्कि यह एक (ऐतिहासिक) विवरण प्रस्तुत करती है और कहती है - आस्था रखिए! इस

विवरण में ऐतिहासिक विवरणों के विश्वास की तरह विश्वास न रखिए, बल्कि अत्यधिक (आन्तरिक) विश्वास रखिए और ऐसा आप जीवन (में घटी घटनाओं) के आधार पर ही कर सकते हैं। यह एक विवरण है- इसके बारे में उस तरह का दृष्टिकोण न रखिए जैसा कि शायद अन्य ऐतिहासिक विवरणों के प्रति रखते हैं। इसे अपने जीवन में पूर्णतः भिन्न स्थान दीजिए-इसमें कोई विरोधाभास नहीं है'' (*कल्चर एण्ड वैल्य*, पृ. ३२)। इसी प्रकार मैलकम *कल्चर एण्ड वैल्यू* को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि विट्गेन्स्टाइन के अनुसार ईसाइयत ऐतिहासिक सत्य नहीं है।

२. मैलकम यह तर्क देते हैं कि विट्गेन्स्टाइन ने ईश्वरवादियों द्वारा दिये गये ईश्वर के अस्तित्व के तर्क को स्वीकार नहीं किया। ईश्वर के अस्तित्व का तर्क ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा कोई स्वयं ईश्वर के अस्तित्व के बारे में आश्वस्त हो जाए। उनके अनुसार ईश्वरवादी अपने 'विश्वास' को बौद्धिक विवेचन और आधार प्रदान करना चाहते थे; यद्यपि ईश्वरवादी स्वयं कभी भी ईश्वर के अस्तित्व में इन तर्कों के आधार पर विश्वास नहीं करते। हाँ, यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्ति के विशेष प्रकार के लालन-पालन, एवं उसके जीवन को एक विशिष्ट प्रकार से ढालने से उसे ईश्वर के अस्तित्व के बारे में आश्वस्त कराया जा सकता है।

जीवन, किसी व्यक्ति को ईश्वर में विश्वास की शिक्षा दे सकता है। और (आध्यात्मिक) अनुभव भी यह कर सकता है; लेकिन झलक या दृष्टि (*विजन*) और इन्द्रिय-अनुभव के अन्य तरीके जोकि 'सत्ता के अस्तित्व' को दर्शाते हैं (ऐसा नहीं कर सकते)। लेकिन उदाहरण के लिए विभिन्न प्रकार के कष्ट (इस का अपवाद है)। ये अनुभव हमें ईश्वर के अस्तित्व को न तो उस तरह दर्शाते हैं जैसा कि इन्द्रिय-अनुभव किसी वस्तु को दर्शाती है, और न ही उनके (ईश्वर) बारे में प्राकल्पनाओं को उत्पन्न करते हैं। अनुभव, विचार-जीवन इस सम्प्रत्यय को हमारे ऊपर लाद सकता है (*कल्चर एण्ड वैल्य*, पृ. ८५-६)।

मैलकम के अनुसार विट्गेन्स्टाइन की सदैव यह मान्यता रही है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिया गया कोई भी प्रसिद्ध दार्शनिक तर्क किसी भी व्यक्ति में ईश्वर में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में मैलकम ने इस तथ्य की भी चर्चा की है कि जब ड्रूरी ने पुजारी बनने की इच्छा व्यक्त की तब विट्गेन्स्टाइन ने उनको ईसाई विश्वास को सैद्धांतिक लिबास न देने की सलाह दी।

अपने अनुभव की चर्चा करते हुए मैलकम कहते हैं कि एकबार मैंने उनको किर्केगार्ड की एक मान्यता के बारे में बताया था जो कि कुछ इस प्रकार था- 'यह

कैसे हो सकता है कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है क्योंकि मैं जानता हूँ कि उन्होंने मुझे उबारा है।' इस पर विट्गेन्स्टाइन का प्रत्युत्तर था 'आप देखें! यह किसी चीज को सिद्ध करने का प्रश्न नहीं है। उनका विचार था कि धार्मिक प्रतीक अद्‌भुत है परन्तु उन्होंने ईश्वरवादी तर्कों को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने यह विचार कि ईसाइयत एक सिद्धान्त है (अर्थात् मानव आत्मा को क्या हुआ है और क्या होना के बारे में सिद्धान्त है) के प्रति विरोध व्यक्त किया।' मैलकम के अनुसार, विट्गेन्स्टाइन के लिए धार्मिक विश्वास में महत्त्वपूर्ण है कि इसमें बल अपनी 'जीवन शैली' और 'कर्म शैली' बदलने पर होना चाहिए। कोई भी सिद्धान्त चाहे कितना ही पूर्ण क्यों न हो यह उत्पन्न करने की क्षमता नहीं (रखता)।[११]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर मैलकम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "निश्चित रूप से यह कहना ठीक है कि विट्गेन्स्टाइन का परिपक्व जीवन धार्मिक विचार और संवेदनाओं से समुचित रूप से भरा था। मैं यह मानने को तैयार हूँ कि वह उन अनेक लोगों, जो स्वयं को सही अर्थ में धार्मिक विश्वासी मानते हैं, से कहीं अधिक गहरे अर्थ में धार्मिक थे।"[१२]

मैलकम के उपर्युक्त विचारों पर पीटर विन्च ने आपत्ति की है जिस में उन्होंने विट्गेन्स्टाइन के कथन "सभी समस्याओं को धार्मिक दृष्टि से देखने से स्वयं को रोक नहीं पाता हूँ" में 'समस्याओं' शब्द का अर्थ दार्शनिक समस्याओं से लगाया है। विन्च को मैलकम का यह विचार भ्रामक लगता है। अपने मत के समर्थन में विन्च दो तर्क देते हैं, जो निम्न प्रकार हैं[१३] :

१. उनके अनुसार मैलकम ने विट्गेन्स्टाइन की जिन दार्शनिक समस्याओं की चर्चा की है उनको धार्मिक दृष्टि से देखा तो जा सकता है परन्तु ऐसा देखा जाना आवश्यक नहीं है। विन्च के अनुसार जिन समस्याओं का उल्लेख मैलकम ने किया है, उनपर विट्गेन्स्टाइन ने अधिक चर्चा नहीं की। उनके अनुसार इन समस्याओं की चर्चा से अधिक जिन समस्याओं की चर्चा विट्गेन्स्टाइन ने की है वह अधार्मिक है। उदाहरण के लिए, अपने ऐसे भूत के बारे में जिससे कि कोई शर्मिन्दित हो, के साथ रहने की समस्या, सन्निकट मृत्यु की अनुभूति के साथ आचरण की समस्या और अच्छा जीवन जीने की समस्या।

२. विन्च के अनुसार मैलकम का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि विट्गेन्स्टाइन ने दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं में सादृश्यता देखी। विन्च के

अनुसार ऐसा तभी स्वीकार किया जा सकता है जब कि यह माना जाए कि विट्गेन्स्टाइन केवल दार्शनिक समस्याओं के बारे में ऐसा कह रहे हैं। परन्तु ऐसा मानने को कोई आधार नहीं है कि विट्गेन्स्टाइन अन्य कई प्रकार की समस्याओं के बारे में ऐसा दृष्टिकोण नहीं व्यक्त कर रहे थे। यदि हम उपर्युक्त तथ्य स्वीकार कर लें तब यह मान्यता कि विट्गेन्स्टाइन दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं के बीच सादृश्यता को ही व्यक्त कर रहे हैं, अविवेकपूर्ण हो जाती है।

इस प्रकार विन्च के अनुसार विट्गेन्स्टाइन जब अपने मित्र ड्रूरी को यह रहे थे कि 'मैं सभी समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखने से स्वयं को नहीं रोक पाता', तब यह मानना कि वह दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं में सादृश्यता स्थापित कर रहे थे, एक भूल होगी।

नार्मन मैलकम और पीटर विन्च के बीच विवाद का वास्तव में कोई आधार नहीं है। मैलकम यह नहीं कहते कि दार्शनिक समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखे जाने को विट्गेन्स्टाइन ने अनिवार्य माना। वस्तुतः मैलकम जब यह कहते हैं कि विट्गेन्स्टाइन के अनुसार दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं में सादृश्यता है तब वह यह नहीं कहते हैं कि धार्मिक समस्याओं एवं अन्य समस्याओं में सादृश्यता नहीं है। इस प्रकार, मेरे विचार से विन्च के द्वारा की गई मैलकम की आलोचना आधारहीन है। फिर भी विन्च का यह मत उचित प्रतीत होता है कि जिस प्रकार मैलकम ने विट्गेन्स्टाइन के धार्मिक विचारों की सुनिश्चित व्याख्या की है उतना हमें विट्गेन्स्टाइन के मन्तव्य के बारे में सुनिश्चित नहीं होना चाहिए।

विन्च का यह विचार इसलिए भी तर्कसंगत लगता है (जैसा कि मैलकम ने भी स्वीकार किया है) क्योंकि विट्गेन्स्टाइन सैद्धान्तिक संरचना के विरुद्ध थे। जहाँ तक उन्होंने ईसाइयत की आलोचना की है, वहाँ तक उन्हें धार्मिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, मैलकम के द्वारा विट्गेन्स्टाइन के विचारों की तुलना *गोस्पल* के विचारों से करना तर्कपूर्ण नहीं। वस्तुतः विट्गेन्स्टाइन का धर्म का सम्प्रत्यय किसी धर्मविशेष तक सीमित न होकर अत्यन्त विस्तृत था। इस अर्थ में उनके विचार भारतीय दर्शन में धर्म की परिभाषा 'धारयते इति धर्मः' के समतुल्य प्रतीत होते हैं।

जहाँ एक तरफ विट्गेन्स्टाइन के धार्मिक दृष्टिकोण के बारे में विवाद हो सकता कि वह ईसाई दृष्टि थी या नहीं, वहीं पर दूसरी तरफ उनके नैतिक

विचारों पर अधिक विवाद की गुंजाइश नहीं। विट्गेन्स्टाइन का जीवन नैतिकता के चरम आदर्शों का जीवन्त दृष्टान्त है।

जी. ई. मूर की नीतिशास्त्र की परिभाषा 'नीतिशास्त्र शुभ की खोज है' की जगह विट्गेन्स्टाइन ने यह कहना अधिक पसन्द किया है कि 'नीतिशास्त्र मूल्यवान् की खोज है', 'नीतिशास्त्र सचमुच महत्त्वपूर्ण की खोज है', और नीतिशास्त्र 'जीवन के अर्थ की खोज है'[१४]। विट्गेन्स्टाइन की नीतिशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता को विट्गेन्स्टाइन ने मानव जीवन में कितना महत्त्व दिया। वह नैतिकता को जीवन का अर्थ मानते हैं। उन्होंने कठोर नैतिकता का पालन किया। यह तथ्य उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है। वह सदैव इस बात से सचेत रहते कि कही उनमें आत्माभिमान तो नहीं। उन्होंने कई बार अपने परिचित लोगों से अपनी भूल और नगण्य झूठ बोलने के लिए भी क्षमा माँगी थी।

विट्गेन्स्टाइन के अनुसार नैतिक कथनों को दो अर्थों में प्रयोग में लाया जा सकता है:[१५]

१. सतही या सम्बद्ध, २. नैति या परम।

उदाहरण के लिए विट्गेन्स्टाइन कहते हैं कि शुभ के सम्प्रत्यय का कई प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है। जब हम किसी मेज को 'अच्छी' कहते हैं तो यहाँ 'अच्छी' शब्द का अर्थ किसी व्यक्ति के 'अच्छे' होने से भिन्न होता है। मेज के अच्छी होने का अर्थ उसके सौन्दर्यात्मक एवं प्रयोगात्मक पहलुओं से है। जबकि किसी व्यक्ति के अच्छे होने का अर्थ मुख्यतः उसके चरित्र या आचरण से सम्बन्धित होता है। 'अच्छा' या 'शुभ' जैसे नैतिक सम्प्रत्ययों के इस सम्बद्ध अर्थ का निर्धारण किसी पूर्व निर्धारित मापदण्ड की तुलना के द्वारा होता है। यदि सम्प्रत्यय विशेष उस मापदण्ड पर खरा उतरता है तभी उस सम्प्रत्यय का अर्थ निर्धारित होता है।

नैतिक सम्प्रत्ययों के इस प्रकार के प्रयोग को विट्गेन्स्टाइन वस्तुतः नीतिशास्त्रीय प्रयोग नहीं मानते हैं। नीतिशास्त्रीय प्रयोग को विट्गेन्स्टाइन एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार मान लीजिए कि आपको कोई यह कहता है कि आप बहुत खराब टेनिस खेलते हैं और आप यह उत्तर देते हैं कि मैं जानता हूँ कि "मैं खराब खेलता हूँ पर इससे अधिक अच्छा मैं खेलना नहीं चाहता", तो टिप्पणीकर्ता केवल यह कह सकता है कि "तो फिर ठीक है"। परन्तु मान लीजिए कि मैं आप लोगों से सफेद झूठ बोलता

हूँ और आप से कोई मुझसे आकर कहता कि "आप जानवर की तरह व्यवहार कर रहे हैं" और यदि तब मैं यह कहता हूँ कि "मैं जानता हूँ कि मैं जानवर की तरह व्यवहार कर रहा हूँ परन्तु मैं इससे अधिक बेहतर व्यवहार नहीं करना चाहता" तब क्या वह यह कह सकेगा कि "तो फिर ठीक है ?" निश्चित रूप से वह यह नहीं कहेगा। वह कहेगा कि "आपको बेहतर व्यवहार करना चाहिए।"[१६]

उपर्युक्त उदाहरण की सहायता से विट्गेन्स्टाइन ने सम्बद्ध मूल्य और परम मूल्य के बीच अन्तर करने का प्रयास किया है। उनके द्वारा दिया गया उपर्युक्त 'खेल का उदाहरण' सम्बद्ध मूल्य और 'व्यवहार का उदाहरण' परम या नैतिक मूल्य को प्रदर्शित करता है। उनके अनुसार "इन दोनों के बीच का अन्तर यह है कि सम्बद्ध मूल्य का प्रत्येक निर्णय मात्र तथ्यात्मक कथन होता है और इस लिए इसे इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है कि यह अपने मूल्यात्मक निर्णय की सम्पूर्ण प्रतीति से रहित हो। परन्तु परम या नैतिक मूल्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।" नैतिक मूल्यों को न केवल तथ्यात्मक कथनों में अभिव्यक्त किया जा सकता है बल्कि विट्गेन्स्टाइन नीतिशास्त्र को ही अनभिव्यक्त मानते हैं। उनके अनुसार "नीतिशास्त्र परा-भौतिक है। वह कहते हैं कि शब्द केवल तथ्य को अभिव्यक्त करते हैं। वह चम्मच की तरह होते हैं। उनमें उतना ही जल या तथ्य समा सकता है जितना कि हमारा इन्द्रिय-अनुभव प्रदान करता है, चाहे क्यों न हम उसमें गैलनों जल डालना चाहें।

इस प्रकार, विट्गेन्स्टाइन नीतिशास्त्र को अनभिव्यक्त मानते हैं। विट्गेन्स्टाइन का 'लैक्चर्स आन इथिक्स' का यह विचार उनके *ट्रैक्टेटस* और *नोटबुक्स* के विचारों से सामन्जस्य रखता है जिसमें वह नीतिशास्त्र और धर्म को प्रदर्शन (शोइंग) के अन्तर्गत रखते हुए अकथनीय मानते हैं। उनके अनुसार नीतिशास्त्र और धर्म का केन्द्रबिन्दु एक ही है। *कल्चर एण्ड वैल्यू* में वह कहते हैं "जो शुभ है वह दैवीय है। यह मेरे नीतिशास्त्र को संक्षेप में प्रस्तुत करता है।" 'लैक्चर्स ऑन इथिक्स' में वह कहते हैं कि धर्म और नीतिशास्त्र के बारे में लिखने का प्रयास भाषा की दीवार को तोडकर दौडने की तरह ही पूर्णतः असफल प्रयास है। वह कहते हैं कि "जहाँ तक नीतिशास्त्र का सम्बन्ध जीवन के परम अर्थ, परम शुभ और परम मूल्य के बारे में कुछ कहने की इच्छा से है, यह विज्ञान नहीं हो सकता। (इसका कारण यह है कि) यह जो कुछ भी कहता है वह किसी भी अर्थ में हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं करता।"[१८]

धर्म और नीतिशास्त्र की तरह ही आध्यात्मिकता, रहस्यवाद, मानवीय प्रेम, आनन्द इच्छा इत्यादि का भी चिन्तक की जीवन-दृष्टि से सम्बन्ध होता है। इनको भी विट्गेन्स्टाइन अनभिव्यक्त की कोटि में रखते हैं।

विट्गेन्स्टाइन *ट्रैक्टेटस* में कहते हैं कि वास्तव में ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है, वे स्वयं को प्रकाशित करती हैं। वे रहस्यमय (मिस्टीकल) हैं। (*ट्रैक्टेटस* ६.५२२)। अर्थात् जिन विषयों को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता वे 'रहस्यमय' कोटि में आती हैं। इस प्रकार नीति, धर्म, ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि सभी रहस्यमय हैं। इनके बारे में भाषायी अभिव्यक्ति पर्याप्त नहीं हो सकती और अपर्याप्त अभिव्यक्ति-ऐसी व्याख्या जो कि विषय-विशेष को पूर्णता में प्रस्तुत न करे-भ्रामक होती है और इसीलिए अर्थहीन अपलाप होती है। विट्गेन्स्टाइन के रहस्यवाद के सम्प्रत्यय को उनके अचम्भित या आश्चर्य व्यक्त करने (वंडर) के सम्प्रत्यय के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। विट्गेन्स्टाइन 'लैक्चर्स आन इथिक्स' में कहते हैं, कि यदि मैं यह कहता हूँ कि ''जगत् के अस्तित्व के बारे में अचम्भित हूँ तो मैं भाषा का त्रुटिपूर्ण प्रयोग कर रहा हूँ।'' उनके अनुसार अचम्भित होने की प्रत्येक स्थिति में मैं किसी ऐसी वस्तु पर ही अचम्भित हो सकता हूँ जिसकी अनुपस्थिति संज्ञानात्मक हो। यह कहना कि 'मैं अमुक-अमुक स्थितियों पर अचम्भित हूँ', तभी अर्थ रखता है जब मैं उन स्थितियों के न होने की कल्पना कर सकूँ।''[१९] इस सन्दर्भ में वह कहते हैं कि कोई भी एक कुत्ते के असाधारण आकार पर या किसी विचित्र बडे घर पर आश्चर्य व्यक्त कर सकता है क्योंकि इनके न होने की कल्पना की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, इनकी स्थिति की जानकारी व्यक्ति के भूतकाल की जानकारी से बाहर की होती है। परन्तु फिर भी अचम्भित होना मानव ज्ञान से ही सम्बन्धित होता है। अर्थात् मानव ज्ञान का ही एक भाग होता है। इसी कारण विट्गेन्स्टाइन अचम्भित होने को 'रहस्य' से भिन्न मानते हैं। वह जगत् के अस्तित्व को 'अचम्भित' न मानकर रहस्यमय मानते हैं। उनके अनुसार ''यह रहस्यमय नहीं है कि जगत् में वस्तुएँ किस प्रकार से हैं बल्कि जगत् का अस्तित्व रहस्यमय है।'' (ट्रैक्टेटस ६.४४)

इस प्रकार, विट्गेन्स्टाइन के अनुसार 'रहस्यमय' वह है जोकि वैज्ञानिक व्याख्या से परे है। *नोटबुक्स* में वह कहते हैं कि ''हमारी रहस्यमय की चाह विज्ञान के द्वारा हमारी इच्छाओं की सन्तुष्टि न होने के कारण उत्पन्न होती है। हम अनुभव करते हैं कि यद्यपि सभी संभावित वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर दिया

जा चुका है फिर भी हमारी समस्याओं को स्पर्श तक नहीं किया गया है। सचमुच उस स्थिति में कोई प्रश्न नहीं है और यही उत्तर है।''[२०]

इस प्रकार, आध्यात्मिकता या रहस्यवाद के लिए विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में न केवल स्थान है बल्कि वह इसको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। क्योंकि वह यह मानते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि एकांगी जीवन दृष्टि है।

रहस्यमय की तरह मानवीय संकल्प (विल) पर विट्गेन्स्टाइन के विचारों की संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक प्रतीत होती है। विट्गेन्स्टाइन का मानवीय संकल्प पर प्रारम्भिक विचार शॉपेनहॉवर के विचारों से प्रभावित था।

शॉपेनहॉवर की तरह ही विट्गेन्स्टाइन जगत् को नैतिक रूप से जड मानते हैं परन्तु विट्गेन्स्टाइन और शॉपनेहॉवर के 'संकल्प' सम्बन्धी विचारों में अन्तर भी है। शॉपेनहॉवर के अनुसार संकल्प पर विजय प्राप्त करने से ही मुक्ति की प्राप्ति की जा सकती है। इसके विपरीत विट्गेन्स्टाइन मानवीय संकल्प को शुभ और अशुभ दोनों का प्रवाहक मानते हैं। उनके द्वारा *इन्वेस्टिगेशंस* में वर्णित स्वैच्छिक कार्य और अनैच्छिक कार्य के बीच का अन्तर अत्यन्त मनोहारी है। प्रायः यह माना जाता है कि प्रत्येक कार्य की पृष्ठभूमि में कोई संकल्प होता है और प्रत्येक संकल्प किसी न किसी उद्देश्य पर आधारित होता है। इस प्रकार, उद्देश्य-संकल्प-कार्य की एक श्रृंखला सी होती है। एक छोर पर कार्य और दूसरे छोर पर उद्देश्य होता है। इसके साथ-साथ ही चाह (विश) और संकल्प में अन्तर किया जाता है। फ्रेडरिक वाइजमैन की तरह विट्गेन्स्टाइन भी चाह और संकल्प में अन्तर करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक चाह संकल्प नहीं होता है। वही चाह संकल्प होती है जिसमें कार्य को सम्पादित करने की क्षमता हो। इस प्रकार किसी व्यक्ति की चाह अनन्त हो सकती है परन्तु उसकी वही चाह संकल्प का रूप ले सकेगी जिसको कार्यान्वित रूप देने या प्राप्त करने की शक्ति उस व्यक्ति में हो। इस प्रकार, विट्गेन्स्टाइन ने चाह को 'मानसिक घटना' माना। जबकि संकल्प 'मानसिक घटना' नहीं है चाहे वह कार्य के साथ घटित हो रहा हो या फिर किसी कार्य का पूर्वगामी हो। इसी प्रकार, विट्गेन्स्टाइन स्वैच्छिक कार्य और अनैच्छिक कार्य के बीच अन्तर को मानसिक घटना नहीं मानते हैं। उनके अनुसार कार्य का सन्दर्भ ही स्वैच्छिक कार्य और अनैच्छिक कार्य के बीच अन्तर को निर्धारित करता है। उनके अनुसार स्वैच्छिक और अनैच्छिक कार्यों का संकल्प से कोई सम्बन्ध नहीं है। संकल्प हमारे कार्यों को नियन्त्रित नहीं करता है। विट्गेन्स्टाइन यह स्थापित करते हैं कि संकल्प की प्रक्रिया 'न तो स्वैच्छिक होती है और न ही

अनैच्छिक'। विट्गेन्स्टाइन कहते हैं कि "जब कोई बच्चा क्रोध में अपना पैर जमीन पर पटकता है और चिल्लाता है तब कौन कहेगा कि वह इसे अनैच्छिक रूप से कर रह रहा है। और क्यों ? क्यों इसे स्वैच्छिक कार्य नहीं माना जाता ?"[२१]

उनका यह विचार फ्रेडरिक वाइजमैन के विचारों से मिलता है जो अपनी पुस्तक *विल एण्ड मोटिव* में मानवीय संकल्प को द्वन्द्वात्मक, अनिश्चित और दुविधात्मक की संज्ञा देते हैं। संक्षेप में, विट्गेन्स्टाइन, राइल और डैविडसन की तरह संकल्प और कार्य की भी कारणतावादी व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। यद्यपि वह शॉपेनहॉवर की तरह संकल्प की स्वतन्त्रता को भी अस्वीकार करते हैं, फिर भी उन्हें शॉपेनहॉवर और स्पिनोजा की तरह पूर्व-निर्धारणवादी नहीं कहा जा सकता है।

विट्गेन्स्टाइन के उपर्युक्त वर्णित विचारों के अतिरिक्त उनके मानव प्रेम, मृत्यु, आनन्द इत्यादि से सम्बन्धित विचारों से भी उनके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिलती है। उपर्युक्त वर्णित विचारों की अपेक्षाकृत विट्गेन्स्टाइन ने अधिक विस्तार से चर्चा की है इसीलिए इस लेख में इनको केन्द्रबिन्दु बनाया गया है।

विश्वविद्यालय की दार्शनिक दृष्टि और रोजमर्रे के जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रासंगिक एवं अनिवार्य जीवन-दृष्टि के बीच अन्तराल दर्शनशास्त्र के अध्ययन का एक विचित्र के अध्ययन का एक विचित्र रूप से नकारात्मक पहलू रहा है। दर्शनशास्त्र की सृजनशीलता यदि व्यवहारिक जीवन को आत्मसात् नहीं करती तो एकांगी, रुखी-सूखी और एकांतिका दृष्टि होती है। ऐसी दृष्टि को स्व-संवर्धन और अपने को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बौद्धिक और आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ जन-साधारण की सामान्य समस्याओं पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। दर्शन शास्त्र के अकादमिक अध्ययन की जीवन की व्यावहारिकता से विसंगति के कारण ही सम्भवतः विट्गेन्स्टाइन के अपने सभी प्रिय शिष्यों को बार-बार दार्शनिक शोध से दूर रहकर अन्य रचनात्मक व्यवसाय अपनाने को कहा। ड्रूरी, मैलकम, और एनस्कॉम्ब विट्गेन्स्टाइन की इस प्रकार की हिदायतों के कुछ साक्ष्य हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि विट्गेन्स्टाइन ने धर्म, नैतिकता, रहस्यवाद, आध्यात्मिकता, मानव-संकल्प, आनन्द, प्रेम, मृत्यु इत्यादि पर अधिक नहीं लिखा फिर भी वह इन समस्याओं को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते थे। यदि उनका दार्शनिक चिन्तन अनवरत संघर्ष का एक उदाहरण है तो उनके व्यावहारिक जीवन, जो कि सांसारिक भोग-विलास से परे था, में पूर्ण ईमानदारी,

प्रेम और कर्तव्य-निष्ठा जैसे सद्‌गुणों का आदर्श देखने को मिलता है। अनवरत दार्शनिक चिन्तन से व्यथित जीवन जीने के बाद भी उनका अन्तिम कथन था, 'उनसे कहना कि मैंने अद्‌भुत जीनव जिया'।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
गवर्नमेंट कॉलेज, धर्मशाला
हिमाचलप्रदेश १७६२१५

कालीचरण पांडेय

टिप्पणियाँ

१. यह शोधपत्र २०वीं शताब्दी की विश्लेषणात्मक दार्शनिक परम्परा के एक महानतम दार्शनिक व चिन्तक लुडविग विट्गेन्स्टाइन की मृत्यु (अप्रैल १९५१) की ५० वीं पुण्यतिथी पर उनको श्रद्धांजली स्वरूप प्रस्तुत है।
२. कार्ल पॉपर 'हाउ आई सी फिलॉसोफी' लेख प्रकाशित, फिलासोफी इन ग्रेट ब्रिटेन, ए. सी. शंकर, (सं.), स्टेट युनिवर्सिटी आव न्यूयार्क प्रेस, न्यूयार्क, १९९८, पृ. १९८.
३. ए. जे. एअर, विट्गेन्स्टाइन, पेन्गुइन बुक्स, १९८५, पृ. ३०-३१.
४. नार्मन मैलकम, विट्गेन्स्टाइनः ए रेलिजियस प्वांइट आव व्यू, राउटलेज, १९९३, पृ.१.
५. वही, पृ. ५.
६. वही, पृ. १-२.
७. नार्मन मैलकम, लुडविग विट्गेन्स्टाइनः ए मेमॉयर, आक्सफोर्ड युनीवर्सिटी प्रेस, आक्सफोर्ड, १९८४, पृ. ५९.
८. वही.
९. रसरीज, लुडविग विट्गेन्स्टाइनः परसनल रीकलेक्शंस, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, आक्सफोर्ड, १९८४, पृ. १२९.
१०. नार्मन मैलकम, विट्गेन्स्टाइनः ऐ रेलिजियस प्वाइन्ट आव व्यू. पृ. १२.
११. वही. पृ. १९.
१२. वही, पृ. २१.
१३. वही, पृ. ९५-९६.
१४. लुडविग विट्गेन्स्टाइन, 'लैक्चर्स आन इथिक्स', लेख प्रकाशित, लुडविग विट्गेन्स्टाइन, फिलॉसोफिकल अकेजन्सः १९१२-१९५१, सं. जेम्स सी. क्लाग और अल्फ्रेड नार्डमैन, हैकेट पब्लिशिंग क. इण्डियानापोलिस और केम्ब्रिज, १९९३, पृ. ३८.
१५. वही, पृ. ३८-३९.
१६. वही.
१७. वही, पृ. ३९.
१८. वही, पृ. ४४.

१९. वही, पृ. ४१.

२०. लुडविग विट्गेन्स्टाइन, नोटबुक्सः १९१४-१६, जी. एच. वॉन राइट और जी. ई. एम. एन्स्कॉम्ब (स.) जी. ई. एम. एनस्कॉम्ब (अनु.), न्यूयार्क, हारपर एण्ड रो, १९६१, पृ. ५१.

२१. लुडविग विट्गेन्स्टाइन, रिमार्क्स आन द फिलॉसोफी आव साइकॉलोजी, जी. एच. वॉन राइट और एच. नेमन (सं.), सी. जी. लुकहार्ट और एम. ए. ई. अउ (अनु.), ब्लैकवेल, १९८०. यह पुस्तक द विट्गेन्स्टाइन रीडर, एन्थोनी केन्नी (सं.) ब्लेकवेल में प्रकाशित, १९९४, पृ. १३५.

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१.	प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७
२.	प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३.	मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७ भारतीय.
४.	प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७ भारतीय.
५.	संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७ भारतीय.
६.	उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे - ४११००७.

मैं सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम् जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

सुभाषचन्द्र भेलके

गौतमधर्मसूत्र में ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं वेदाध्ययन सम्बन्धी कतिपय नियम

सूत्र साहित्य को वेदांग के अन्तर्गत कल्प शीर्षक में रखा गया है। वेदांग की संख्या छः है। उसमें कल्प पूर्ण वेदांग है, इसके अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है। 'कल्प' का अर्थ है वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र।[१] अर्थात् जिन यज्ञ-यागादि तथा विवाह-उपनयनादि संस्कार कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है, उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों का सामान्य अभिधान 'कल्प' है। ये सूत्र प्राचीनतम इसलिए माने जाते हैं कि ये अपने विषय-प्रतिपादन में ब्राह्मण तथा आरण्यकों के साथ साक्षात् सम्बद्ध रखते हैं। कल्पसूत्र चार प्रकार के हैं - श्रौत, गृह्य, धर्म एवं शुल्व। यह समग्र सूत्र साहित्य 'स्मृति' के अन्तर्गत आते हैं। कारण 'स्मृति' शब्द का प्रयोग 'श्रुति' अर्थात् वेद के ईश्वर (प्रकाशित) सृष्टि एवं ऋषि दृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। अतः धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ है।[२] धर्मसूत्र में चातुर्वर्णों के कर्तव्य, कर्म तथा वर्तन प्रकार के साथ-साथ राजधर्म का वर्णन मुख्य है। राजा के कर्तव्य, प्रजा के साथ सम्बन्ध, व्यवहार के नियम, शिष्य का कर्तव्य, गुरु के साथ व्यवहार, वेदाध्ययन सम्बन्धी नियम, अवस्था विशेष में प्रायश्चित्त का विधान धर्मसूत्र को महत्त्व प्रदान करता है।

गौतमधर्मसूत्र समस्त उपलब्ध धर्मसूत्रों में प्राचीनतम है। यह केवल गद्य में है तथा इसमें श्लोक का कोई उद्धरण नहीं दिया गया है, जबकि दूसरे धर्मसूत्रों में श्लोक का उद्धरण आया है। पुनश्च इसमें किसी अन्य धर्मसूत्र का या धर्मसूत्रकार का निर्देश नामतः नहीं है किन्तु इसके पहले धर्मशास्त्र और उसके रचयिता विद्यमान् थे इस बात की ओर बहुशः उल्लेख इसमें मिलता है।[३] गौतमधर्मसूत्र का निर्देश मनु, याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शंकराचार्य तथा मेधातिथि ने किया है।[४] हरदत्त ने अपनी व्याख्या से तथा आचार्य मस्करी ने अपने भाष्य से इसके अर्थ को सरल तथा बोधगम्य बनाया है।

इस धर्मसूत्र में ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं वेदाध्ययन का नियम, महत्त्व आदि विषय में जो वर्णन हुआ है उसका सारांश यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

समाज में सबसे श्रेष्ठ स्थान गुरु का है। विद्याध्ययन काल में शिष्य के गुरु के प्रति जो कर्तव्य हैं, उनके विषय में कहा गया है कि प्रतिदिन प्रातःकाल,[५] वेदपाठ प्रारम्भ करने से पूर्व एवं अन्त में गुरु का चरण स्पर्श करे।[६] गुरु सर्वत्र एवं सदा पूजनीय है, अतः गुरु के अभिवादन एवं पूजन बिना वेदाध्ययन करना अनुचित है। धर्मज्ञों का मत है कि सभी अवसरों पर गुरु का पादोपसंग्रहण करें, अभिवादन मात्र नहीं।[७] गुरु के बुलाने पर अध्ययन के लिए जाये, परन्तु उन्हें स्वयं प्रेरित न करे।[८] गुरु के आज्ञा देने पर शय्या, आसन और स्थान से उठकर उत्तर देना चाहिए।[९] गुरु-आज्ञा के अनुसार शिष्य को उत्तर-मुख होकर बैठना चाहिए।[१०] वेदाध्ययन करते समय अगर गुरुशिष्य के मध्य में किसी भी प्राणी के आ जाने पर पुनः गुरु के चरण स्पर्श आदि कर्म करने होते हैं। यह नियम अत्यन्त कठोर होता है।

गुरुकुल में निवास

वेदाध्ययन के लिए सबसे श्रेष्ठ स्थान 'गुरुकुल' है। गौतमधर्मसूत्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि 'नित्यमेके नगरे'[११] अर्थात् (कुछ आचार्यों के अनुसार) नगर में वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए। अध्ययन एक तप है, इसके लिए वातावरण की अनुकूलता, मानसिक शान्ति और एकाग्रता, समुचित स्थान एवं पवित्रता पर धर्मसूत्रों में विस्तृत विचार किया गया है।

गुरुकुल में विद्यार्थी या ब्रह्मचारी को गुरु के समीप बारह वर्ष तक निवास करना पडता है। यह बारह वर्ष का समय केवल एक वेद के अध्ययन के लिए है।[१२] परन्तु जो ब्रह्मचारी चारों वेदों का अध्ययन करने में समर्थ हो तो प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष तक गुरुकुल में निवास करें।[१३] अथवा जितने कम समय में (एक, दो, तीन या चारों) वेद का ग्रहण कर सकें उतने वर्षों (समय) तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहें।[१४] ब्रह्मचारी को गुरुकुल में अनेक नियमों का पालन करना पडता है, जैसे कब और कैसे स्नान, पूजन, भिक्षाचरण, भोजन, शयन एवं अध्ययनादि करना चाहिए, इन सबकी संक्षेप में चर्चा करेंगे।

उपनयन संस्कार से पूर्व ब्रह्मचारी या विद्यार्थी इच्छानुसार कार्य कर सकता है, जैसा चाहे बोल सकता है और इच्छानुसार भोजन कर सकता है।[१५] परंतु यज्ञोपवीत धारण करने से पूर्व एवं पश्चात् भी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।[१६]

ब्रह्मचारी प्रतिदिन शुद्ध जल में समयानुसार स्नान करके अग्निकर्म (समिधाओं से होम) और भिक्षाचरण करें।[१७] कारण गुरुकुल में ब्रह्मचारी के धर्म का एक

आवश्यक अंग सायं, प्रातः समिदाधान और भैक्षाचरण है।[१८] ब्रह्मचारी भिक्षाचरण के रूप में एक प्रकार का यज्ञ करता है- "भैक्षं हविषा संस्तुतं तत्राचार्यो देवतार्थे"।[१९] परन्तु धर्मसूत्र में भिक्षा के कुछ निश्चित निमित्त विहित हैं, यथा - आचार्य को दक्षिणा देने के लिए, विवाह, यज्ञ, माता-पिता के भरण-पोषण के लिए भिक्षा माँगी जा सकती है। केवल भौतिक सुख की लिप्सा से भिक्षा माँगना पाप है। ब्रह्मचारी को भिक्षा देना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। धर्मसूत्र के अनुसार भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी पुण्य, प्रजा, पशु, कुल, विद्या, सभी कुछ छीन लेता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को सर्वदा संध्योपासनादि कर्म नियमपूर्वक करना चाहिए। गौतम धर्मसूत्र में विशेष रूप से ब्रह्मचारी के लिए कुछ कर्म निषिद्ध हैं जिनका उसे परित्याग करना चाहिए। इस नियम का पालन करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है - "वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्ना जनाभ्य जनयानोपानच्छत्रकाम-क्रोधलोभमोहवादवादनस्नानदन्तधावनहर्षनुत्यगीतपरिवादभयानि।"[२०]

"ब्रह्मचारी को मधु, मांस, गन्ध, दिन में सोना, आँखों में अंजन लगाना, शरीर के अंगों में तेल एवं सुगन्धित लेप लगाना, रथ या अन्य गाडी में यात्रा करना, जूता, छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अधिक भाषण, वीणा आदि का वादन, आनन्द के लिए स्नान, (बारबार) दन्त धावन, हर्ष, नृत्य, गीत, परनिन्दा और भय के कर्म इन सबका सर्वदा परित्याग करना चाहिए।" ब्रह्मचारी को गुरु के सम्मुख कण्ठ ढकना, गुरु की ओर पैर करके बैठना, दीवार या खम्भे आदि का सहारा लेकर बैठना तथा पैर फैलाना आदि अनुचित कर्मों से सदा दूर रहने के लिए उपदेश दिया गया है। खखारना, हँसना, जम्हाई लेना और अंगुलियों को चाटना यह सब भी गुरु के समक्ष न करने के लिए ब्रह्मचारी को उपदेश दिया गया है।[२१] इसके साथ-साथ ब्रह्मचारी के लिए विशेषरूप से गुरु के निकट बैठने, सोने आदि के नियमें बताये गये हैं। यथा- "अधः शय्यासनी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी।"[२२]

"ब्रह्मचारी गुरु की शय्या की अपेक्षा नीची शय्या पर सोवे, गुरु के आसन की अपेक्षा नीचे आसन पर बैठे, गुरु के जागने से पहले ही उठे और उनके सोने के बाद सोवे। जहाँ तक भोजन का सवाल है तो सबसे पहले गुरु या आचार्य को खिलाने के बाद जो उच्छिष्ट बचे उसका भोजन करे, ऐसा ब्रह्मचारी के लिए उपदेश दिया गया है। यदि गुरु कहीं बाहर गये हैं तो उनकी अनुपस्थिति में उनकी पत्नी, उनके पुत्र या अपने साथ के ब्रह्मचारियों को समक्ष रख कर (उनकी

अनुमति मिलने पर भिक्षान्न का) भोजन करे।[२३] भोजन करते समय मौन रहे, प्रसन्न रहे, लालच न करे और जल का पात्र अपने निकट रखे।[२४] भोजन शुद्ध एवं पवित्र होना चाहिए तथा मद्य, मत्स्य, मांसादि से भी भिन्न होना चाहिए।[२५]

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी के उत्तम गुण, व्यवहार एवं कर्तव्य

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सबसे बडी विशेषता है ब्रह्मचारियों का आदर्श चरित्र-निर्माण। धर्मशास्त्र में ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सर्वदा युवती, कन्या-नारी आदि से दूर रहने के लिए उपदेश दिया गया है। ब्रह्मचर्य अनुशासन और ज्ञानार्जन का जीवन है। ब्रह्मचर्य जीवन से वास्तविक आचार और धर्म का जीवन प्रारम्भ होता है। ब्रह्मचर्य के बिना ब्रह्मचारी का नाम सार्थक नहीं होता है। अतः ब्रह्मचर्यपालन करना सभी विद्यार्थियों के लिए परम आवश्यक तथा धर्मोचित कार्य है। जैसा कहा गया है - ''ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधःशायिताऽनाशक इति तपांसि।''[२६]

अर्थात् ब्रह्मचर्य (मैथुन त्याग आदि), सत्य भाषण, प्रातः, मध्यंदिन एवं सायं काल में स्नान, स्नान के पश्चात् आर्द्र वस्त्र परिधान करना, नंगी भूमि पर शयन करना, भोजन का त्याग इत्यादि (प्राणायाम आदि) - ये सब तप (ब्रह्मचारी का नियम) हैं। ब्रह्मचारी को किसी भी कुमारी नारी पर दृष्टिपात और उनका स्पर्श नहीं करना चाहिए कारण इससे कामभावना की उत्तेजना की आशंका रहती है।[२७] यदि गुरुपत्नी भी युवती हो तो उनका चरणस्पर्श नहीं करना चाहिए- ''नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन''।[२८]

ब्रह्मचर्यजीवन सभी प्रकार नैतिक गुण का अर्जन और अभ्यास का जीवन है। ब्रह्मचारी को क्षमाशील, कर्तव्यपालन में तत्पर तथा लज्जाशील होना चाहिए। धैर्य, उत्साह, अक्रोध, अनसूया ब्रह्मचारी के आवश्यक चारित्रिक गुण हैं। ब्रह्मचारी के कर्म मुख्यतः तीन प्रकार के हैं- गुरु को प्रसन्न करने वाले कर्म,[२९] कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा वेद का परिश्रमपूर्वक अभ्यास। इन कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्म ब्रह्मचारी को नहीं करने चाहिए।[३०] एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त आचार्य के अधीन (गुरुकुल में निवास करते हुए एवं आचार्य की सेवा करते हुए) रहे- ''आचार्याधीनत्वमान्तम्''[३१]

विद्या ग्रहण करने के बाद एवं गुरुकुल छोडने से पहले ब्रह्मचारी को गुरुदक्षिणा देनी पडती है। यह एक साधारण नियम एवं शाश्वत धर्म है। ब्रह्मचारी इस परम कर्तव्य को गुरु की आज्ञानुसार 'गुरुदक्षिणा' प्रदान करके

अथवा उनके द्वारा प्रसन्नता पूर्वक (बिना दक्षिणा लिए ही) आज्ञा दी जाने पर समावर्तन स्नान करके गुरुकुल से प्रस्थान करे।[३२]

अध्ययन एक तप है (छात्राणां अध्ययनं तपः), इसके लिए वातावरण की अनुकूलता, मानसिक शान्ति और एकाग्रता, उचित स्थान और पवित्रता पर धर्मसूत्रों में विस्तृत विचार किया गया है। इसीलिए अनध्याय का प्रकरण सूक्ष्य बातों के साथ प्रायः सभी धर्मसूत्रों में मिलता है। अतः गौतमधर्मसूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जो अनध्याय विषयक नियम इस धर्मसूत्र में लिपिबद्ध है उसका तो अवश्य पालन करना चाहिए और साथ-साथ अन्य धर्मग्रन्थों में जो उपलब्ध होता है उसका भी पालन करना चाहिए- ''प्रतिविद्यं च यान्स्मरन्ति (यान्स्मरन्ति)''[३३]

अध्ययन के लिए अयोग्य स्थान

महर्षि गौतम के अनुसार श्मशान में, ग्राम की सीमा पर, महापथ में तथा अशोच स्थानों पर अध्ययन नहीं करना चाहिए। यथा- ''श्मशानग्रामान्तमहापथाशौचेषु।''[३४]

उपनयन आदि उत्सव में भोजन के पश्चात् उस दिन अनध्याय रहता है। श्रावणादि वार्षिकोत्सव के समय उसके पूर्व और पश्चात् (उपाकरण एवं उत्सर्जन के) दिनों को लेकर तीन दिन पर्यन्त अनध्याय रहता है। गौतमधर्मसूत्र में अमावस्या एवं उसके पूर्व दिवस अर्थात् चतुर्दशी यह दो दिन अनध्याय दिवस है, ऐसा वर्णन मिलता है। बोधायन धर्मसूत्र[३५] के अनुसार अष्टमी आदि तिथियों में अध्ययन करना गुरु एवं शिष्य दोनों के लिए अत्यन्त अमंगलप्रद और विनाशकारी है। अमावस्या तिथि में अध्ययन करने से गुरु का विनाश होता है एवं चतुर्दशी तिथि में अध्ययन करने से शिष्य का नाश होता है।[३६] यह सब वर्जनीय है। इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति[३७], शंखस्मृति[३८], आपस्तम्बधर्मसूत्र[३९], विष्णुधर्मसूत्र[४०], भावप्रकाश[४१] आदि ग्रन्थों में अनध्याय के विषय में विशद वर्णन मिलता है। परन्तु एक प्रश्न उठता है कि जिस दिन अनध्याय रहता है उस दिन क्या करना चाहिए। इसके उत्तर में आपस्तम्बधर्मसूत्र कहता है- 'मनसा वाऽनध्याये'।[४२] अर्थात् अनध्याय के दिन मन से ही स्वाध्याय करे। अतः ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन के नियमों को पालन पूर्वक गुरुकुल में निवास करना चाहिए। नियमों का उल्लंघन करने वाले जो अश्रेष्ठ जन हैं उनमें आजकल ऋषि उत्पन्न नहीं होते- ''तस्मादृष्योऽवरेषु न जायते नियमातिक्रमात्''[४३]

परन्तु पूर्वजन्म के पुण्यफल शेष होने से ही कुछ लोग पुनर्जन्म लेने पर अपने

वेद के ज्ञान द्वारा ऋषियों के समान होते हैं।[४४]

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में विद्यार्थियों या ब्रह्मचारियों का यह परम कर्तव्य था कि वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरुकुल में अवस्थान करके गुरुआज्ञा को शिरोधार्य मानते हुए उपर्युक्त नियमपूर्वक वेदाध्ययन करते थे। आज भी यह नियम पूर्णरूपेण मान्य है। कारण आज के सन्दर्भ में भी इन नियमों का पालन करना अति आवश्यक दिखाई देता है। जहाँ इन नियमों का पालन हो रहा है वहाँ अध्ययन की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है।

डॉ नरसिंह चरण पण्डा

रीसर्च ऑफिसर,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र,
बी-१/२३०, अस्सी (ASSI),
वाराणसी - २२१००५

टिप्पणियाँ

१. कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम् । द्रष्टव्य, विष्णुमित्र ऋग्वेदप्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ. १३.

२. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु स्मृतिः। मनुस्मृति, II. 10.

३. गौतमधर्मसूत्र, I.8.5, I.86, II.2.19, II.2.3, III.1.12, III.2.28, आदि...।

४. मनुस्मृति III.16 में गौतम का उल्लेख किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति I.5 में उन्हें धर्मशास्त्रकारों में गिनाया है "पराशरण्यासशंखलिखित दक्षगौतमी।" शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य III.1.8 में गौतम के II.2.19 को तथा I.3.38 में II.3.4 को उद्धृत किया है। आदि...।

५. गुरोः पादोपसंग्रहणं प्रातः। गौतमधर्मसूत्र, I.1.53.

६. ब्रह्मानुवचने चाऽऽद्यन्तयोः। तदेव, I.1.54.

७. उपसंग्राह्य आचार्य इत्येके। आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.2.5.120.

८. आहूतोऽध्यायी। गौतमधर्मसूत्र, I. 2.35 तुलनीय, आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.1.2.26

९. शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणम्। गौतमधर्मसूत्र I.2.30.

१०. अनुज्ञात उपविशेत् प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा। तदेव, I.1.55.

११. गौतमधर्मसूत्र, II.7.45

१२. द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत्। गौतमधर्मसूत्र, I.2.51; तुलनीय- आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.1.16, तुलनीय - चतुर्विंशति द्वादश वा प्रतिवेदम्। बौधायनधर्मसूत्र, I.3.1.

१३. प्रतिद्वादश वा सर्वेषु। गौतमधर्मसूत्र, I.2.52. तुलनीय-

अष्टाचत्वादिशदवर्षाणि पौराणं वेदब्रह्मचर्यम्। बौधायनधर्मसूत्र, I.3.1.

१४. ग्रहणान्तं वा। गौतमधर्मसूत्र, I.2.53, एवं बौधायनधर्मसूत्र, I.3.4.

१५. पागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः। गौतमधर्मसूत्र, I.2.1.

१६. उक्तं ब्रह्मचर्यम्। तदेव, I.2.41.

१७. अग्नीन्धन भैक्षचरणे। गौतमधर्मसूत्र, I.2.12. तुलनीय- दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि। सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतान्द्रितः॥
अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्। अनातुरः सप्तशत्रमवकीणिव्रतं चरेत्।
मनुस्मृति, II.186-187.,
तुलनीय - सायमेवाग्निजेत्येके। आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.1.4.17.

१८. गौतमधर्मसूत्र, I.2.41-45.

१९. आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.1.3.43.

२०. गौतमधर्मसूत्र, I.2.19; तुलनीय-आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.2.7.5.

२१. गुरुदर्शने कण्ठप्रावृतावसक्थिकायाश्रयणादप्रसारणानि।
निष्ठीवितहासितविष्कं (जृ)म्भितावस्फोटनानि। गौतमधर्मसूत्र, I.2.2.0.21.

२२. गौतमधर्मसूत्र, I.2.26 तुलनीय-आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.1.21.

२३. तदेव, I.2.45-46.

२४. वाग्यतस्तृप्नन्नलोलुप्यमानः सनिधायोदकम्। तदेव, I.2.47.

२५. तस्माद गुरुकुले तिष्ठन् मधुमांसाय वर्जयेत्। जिज्ञासेता विरुद्धत्वाद्धर्ममित्यवगम्यते।
- बौधायनधर्मसूत्र, I.3.5.1 (भाष्य से उद्धृत)

२६. गौतमधर्मसूत्र, III.1.15.
तुलनीय - नियमेषु तपः शब्दः। आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.2.5.1.
तुलनीय - सव्याहृति प्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश।
अपि भूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः। मनुस्मृति, XI. 248.
तुलनीय - यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते जनः।
तत्र तत्र तिलैहोर्मः सावित्र्याः प्रत्यहं जपः।याज्ञवल्क्यस्मृति, III, 6.309

२७. स्त्रीप्रेक्षणोलम्भने मैथुनशंकायाम्। गौतमधर्मसूत्र, I. 2.22.

२८. तदेव, I.2.40.

२९. युक्तः प्रियहितयो। तदेव, I.2.36.
तुलनीय - चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च। मनुस्मृति, II.192.

३०. गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः। तदेव, II.200.

३१. गौतमधर्मसूत्र, I.3.5.

३२. तदेव, I.2.54-55.

३३. तदेव, I.7.49.

३४. गौतमधर्मसूत्र, II.7.18, तुलनीयः आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.3.9.4, I.3.11.9, एवं I.3.11.16-17.

तुलनीय - नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोवज्रेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च। मनुस्मृति, IV.116.

३५. हन्त्यष्टमी ह्युपाध्यायं हन्ति शिष्यं चतुर्दशी।
हन्ति पंचदशी विद्यां तस्मात् पर्वाणि वर्जयेत् ॥ I.11.21.24.

३६. अमावस्या-चतुर्दश्योः पौणमास्यष्टकासु च। मनुस्मृति, IV.113.
अमावस्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टका-पौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्। मनुस्मृति, IV.114.

३७. पंचदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके। नाधीयीत॥ I.146.

३८. अनध्याये एवध्ययनं वर्जयेच्च प्रयत्नतः।
चतुर्दशी पंचदशीमष्टमीं राहुसूतकम्। शंखस्मृति, 4-5.

३९. अहोरात्रावमावास्यासु। आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.3.9.28.

४०. अभियुक्तोऽपि अनध्यायेषु अध्ययनं परिहरेत्।
यस्या-दनध्यायाधीतं नेहामुत्र फलप्रदम्।
तदध्ययने आयुषः क्षयो गुरुशिष्ययोश्च। विष्णुधर्मसूत्र 14.28-30.

४१. एतानि पंचकर्माणि सन्धायां वर्जयेत् बुधः।
आहारं मैथुनं निद्रां संपाठं गति-मध्वनि।
आहाराज्जायते व्याधि-मैथुनाद् गर्भ-वैकृतिः।
निद्रायाः निःस्वता पाठा-दायु-हानि-र्गते-र्भयम्। भावप्रकाश 275-276.

४२. आपस्तम्बधर्मसूत्र, I.3.11.20.

४३. तदेव, I.2.5.4.

४४. श्रुतर्षयस्तु भवन्ति केचित्कर्मफलशेषण पुनस्सम्भवे। तदेव I.2.5.5.

सांख्य सम्मत 'सत्' की अवधारणा : एक अनुशीलन

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं उससे उद्घाटित चराचर जगत् के विभिन्न आयामों के निहितार्थ के मूल कारण को जानने की जिज्ञासा जहाँ दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में केंद्रीय सम्प्रत्यय रही है वहीं दार्शनिकों के बीच वैचारिक मत-मतान्तरों का विषय भी रहा है। सत् क्या है ? जड है या चेतन ? एक है या अनेक ? देशकालातीत है या देश-काल में स्थित सत्ता ? यदि सत् चेतन है तो अचेतन की उत्पत्ति कैसे और यदि अचेतन है तो चेतन की उत्पत्ति कैसे ? इत्यादि प्रश्न सत् सम्बन्धी अवधारणा के कलेवर रहे हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने जीवन में चेतन एवं जड दोनों ही स्वभाव वाले विषयों को अनुभूत करता है। दर्शन एवं जीवन के अन्य आयामों के सम्बन्ध में उठी एवं उठायी गयी समस्याएँ इसी चेतन एवं अचेतन के 'प्राथमिकी' के विषय की उप-संकल्पनाएँ कही जा सकती हैं। दार्शनिक जगत् का एक सम्प्रदाय मानता है कि सत् चेतन है तथा स्वरूपतः नित्य, अपरिवर्तनशील, देशकालातीत, अविकारी एवं एक है। दूसरा दार्शनिक सम्प्रदाय इसके विपरीत मान्यताओं पर पोषित एवं विकसित होने वाला सम्प्रदाय है जिसके अनुसार 'पदार्थ' ही यथार्थ है जो स्वरूपतः जड है, भौतिक है, देशकाल में स्थित, निरन्तर परिवर्तनशील, विकारी एवं अनेक है। इन दोनों ही दार्शनिक सम्प्रदायों की अपनी-अपनी मान्यताओं को स्थापित करने के अपने-अपने आधार एवं तर्क रहे हैं। किन्तु प्रस्तुत लेख का केंद्रबिन्दु सांख्य सम्मत मान्यताओं के आधार पर 'सत्' के स्वरूप-निर्धारण का है।

सांख्यशास्त्रों में प्रकृति अर्थात् पदार्थ जो स्वरूपतः जड है, को ही वह परम सत्ता माना है जो इस जगत् की सम्पूर्ण घटनाओं, स्थितियों एवं विचित्रताओं के मूल कारण में है। प्रकृति अथवा आद्य पदार्थ शाश्वत, अकारण, सर्वव्यापक, अविवेकी, त्रिगुणात्मक, सामान्य, अव्यक्त, अचेतन एवं प्रसवधर्मी है।[1] जगत् की समस्त वस्तुओं का मूल कारण प्रकृति है। (प्रकर्षेण क्रियन्ते यस्याः सा प्रकृतिः) यह प्रधान होने से अन्त में सभी तत्त्व इसी में समाहित होते हैं। (प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्र अखिलम् इति प्रधानम्)[2] कपिल प्रधान को 'अमूलं मूलम्' कहते हैं।[3] (मूले

मूलाभावा मूल मूल) समस्त ब्रह्माण्ड का उद्भव इस आद्य पदार्थ प्रकृति से हुआ है। जैसा कि स्तचेर्बात्सकी कहते हैं "न केवल भौतिक वस्तुएँ, न केवल मानव शरीर अपितु हमारी समस्त मानसिक अवस्थाएँ भी इसी पदार्थ की अभिव्यक्ति हैं और ये स्थितियाँ इस दर्शन को भौतिकवादी मूल और सार स्वरूप प्रदान करती है।"[४]

स्पष्ट है सांख्यदर्शन में हमारा मानसिक जगत् मस्तिष्क एवं संवेदनाएँ, बुद्धि और शक्ति, विचार और चेतना, इन मानसिक क्रियाओं के विभिन्न रूपान्तरण है।[५] प्रकृति स्वरूपतः त्रिगुणात्मक है सत्त्व, रज एवं तम, तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है।[६] सत्त्व प्रकाशक अर्थात् ऊर्जावान्, रज चंचल अर्थात् गतिवान् एवं तम भारीपन अर्थात् वजनवान् स्वभाववाले गुण हैं।[७] आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः ऊर्जा, गति एवं वजन कहा जाता है।[८] ये गुण प्रकृति के स्वभावगत गुण हैं इसलिये उसमें ये तीनों ही गुण विविध व्यापारों एवं कार्यों में अन्तर्निहित रहते हैं । विकास इन गुणों की सक्रियता और असंतुलन का परिणाम है अर्थात् इस प्रक्रिया में एक अथवा विभिन्न गुण वस्तुओं में प्रचुरता ग्रहण कर लेते हैं।[९] गुणों का विभिन्न अनुपातों में संमिश्रण ही नानाविध, विचित्र वस्तुओं के अनन्त भेद का मूल है। विज्ञानभिक्षु इनको यथार्थ सत्ता के प्रकार बताते हैं। विकास की प्रक्रिया परस्पर निर्भर गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। गुणों में परिवर्तन होने से प्रकृति में भी परिवर्तन हुए।[१०] इन तीनों गुणों की क्रियाएँ और अन्तर्क्रियाएँ, अविकसित पदार्थ के विकास और उससे उत्पन्न वस्तुओं के लिए अनिवार्य पूर्वशर्त है । रचना की दृष्टि से ये गुण अत्यन्त सूक्ष्म एवं परिवर्तनशील स्वभाव के है, यहाँ तक कि जिसे साम्यावस्था कहा जाता है, उसमें भी ये गुण निरन्तर एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। किन्तु ये परिवर्तन अपने-आप में तब तक कोई विषयनिष्ठ परिणाम उत्पन्न नहीं करते जब तक की गुणों कि साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न नहीं हो जाता। क्षोभ के परिणामस्वरूप गुणों की नानाविध प्रतिक्रिया के कारण ही जगत् में विविधता पायी जाती है। किन्तु इन नानाविध एवं गुणात्म रूप से भिन्न समस्त भौतिक एवं मानसिक वस्तुओं और घटनाओं में एक सामान्य तत्त्व विद्यमान रहता है और यह तत्त्व है पदार्थ।[११] विकास प्रक्रिया में प्रथम अभिव्यक्ति बुद्धि अथवा महत् तत्त्व है जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता है किन्तु रज एवं तम भी बुद्धि में तिरोहित अवस्था में विद्यमान रहते हैं। बुद्धि में सत्त्व गुण की प्रधानता होने के कारण धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य इत्यादि गुण विद्यमान रहते हैं।

बुद्धि का कार्य निश्चित करना एवं धारण करना है।[१२] इसी बुद्धि तत्त्व में जब अहंभाव आ जाता है तो अहंकार नामक विकृति का जन्म होता है। अहंकार क्योंकि बुद्धि की ही एक विकृति है इसलिये यह भी स्वरूपतः सत्, रज एवं तम तीनों गुणों से युक्त रहता है। सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति, तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति एवं राजसिक अहंकार इनको गतिमान् बनाने वाला प्रेरक तत्त्व है। मनस् उभयेन्द्रिय के रूप में कार्य करता है जो ज्ञान की क्रिया को सम्पादित करने में महत्त्वपूर्ण उपकरण है। पंच तन्मात्राओं के विभिन्न संमिश्रण से पंच महाभूत - पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु एवं आकाश की उत्पत्ति होती है।[१३]

इस प्रकार सांख्यदर्शन ने इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का मूल कारण शाश्वत रूप से मौजूद सर्वशक्तिमान्, त्रिगुणात्मक आद्यप्रकृति को माना। जगत् संरचना के लिए किसी ऐसी अतीन्द्रिय सृष्टिकर्ता की आवश्यकता नहीं है जो नित्य चैतन्य स्वरूप हो।[१४] इस जगत् के तमाम भौतिक एवं मानसिक, मनोवैज्ञानिक तत्त्व एवं क्रियाएँ प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की अभिव्यक्ति हैं।[१५] पर्वत और मनुष्य उनके बारे में हमारा बोध और हमारी संवेदनाएँ, ये सब प्रकृति के ही विभिन्न प्रकार हैं।

किन्तु इस विकास प्रक्रिया में सांख्यकारिका में उल्लेखित 'पुरुष' की अवधारणा कुछ उलझन पैदा कर देती है। उत्तरकालीन सांख्यदर्शन में 'पुरुष' के अस्तित्व को मान्यता देते हुए उसे स्वरूपतः चेतन, विवेकी, निर्गुण, अप्रसवधर्मी, निर्विकार, द्रष्टा, अकर्ता एवं अभोक्ता सत्ता माना है।[१६] 'पुरुष' की ऐसी अवधारणा सांख्य को उसके भौतिकवादी स्वरूप से हटाकर प्रत्ययवादी स्वरूप में अवस्थिति कर देती है क्योंकि 'पुरुष' किसी भी रूप में 'ईश्वर', 'ब्रह्म' आदि सत्ताओं से भिन्न स्वरूप एवं स्वभाववाला नहीं है।[१७] अतः यह जानना आवश्यक बन जाता है कि सांख्य-दर्शन प्रकृति को प्रधान सत्ता मानते हुए भी उसे ऐसे कौनसी कठिनाइयाँ एवं अस्पष्टताओं का सामना करना पडा जिनके समाधान स्वरूप 'पुरुष' की अवधारणा को स्वीकार किया गया।

इस सम्बन्ध में रिचर्ड गार्बे[१८] दो कारणों को इसके मूल में मानते हैं। प्रथम सृष्टिमीमांसा के सम्बन्ध में है। यदि चेतन के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो विकास प्रक्रिया अस्पष्ट ही रह जायेगी क्योंकि प्रधान जड है, अचेतन है, जिसके तीनों गुण भी स्वभावतः जड हैं, अचेतन हैं। ये तीनों गुण अपनी अव्यक्त

अवस्था में साम्यावस्था में विद्यमान रहते है। विकास का अर्थ गुणों में क्षोभ उत्पन्न होना है। यहाँ समस्या यह उत्पन्न होती है कि गुणों में क्षोभ उत्पन्न कैसे हुआ ? इस हेतु चेतन तत्त्व की आवश्यकता हुई। फलस्वरूप 'पुरुष' को क्षोभ उत्पन्नकर्ता अर्थात् निमित्त कारण के रूप में स्वीकृति मिली। दूसरी समस्या ज्ञानमीमांसीय समस्या है। 'ज्ञान'[१९] एक चेतन कर्ता द्वारा सम्पादित होने वाली प्रक्रिया है किंतु सांख्य में ज्ञान बुद्धि का धर्म है और बुद्धि स्वरूपतः जड है। यहाँ पुरुष चैतन्यस्वरूप है ज्ञानस्वरूप नहीं।[२०] अतः जडबुद्धि में 'ज्ञान' की प्रक्रिया पुरुष के सान्निध्य से ही प्रारम्भ हो सकती है। बुद्धि में ज्ञान की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब उस पर चेतन का प्रतिबिम्ब पडे। सांख्य में स्वीकृत पचीस तत्त्वों में 'पुरुष' नामक सत्ता ही एकमात्र चैतन्य-स्वरूप है। अतः पुरुष का अस्तित्व स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है।

किंतु इन दोनों ही तर्कों को डी. पी. चट्टोपाध्याय, रिचर्ड गार्बे, जैकोबी, रिजवी डेवीज, स्तचेर्बात्स्की, विलियम्स जिम्मर, मैक्समूलर इत्यादि दार्शनिक अस्वीकार करते हैं।[२१] यहाँ मैक्समूलर का यह तर्क दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित करता है कि सांख्यदर्शन में प्रयुक्त शब्दावालियाँ जैसे सत्, रज, तम, बुद्धि, अहंकार इत्यादि को उन सन्दर्भों में देखना अति आवश्यक है जिन सन्दर्भों में सांख्याचार्य कहना चाहते थे।[२२] सांख्य में इन पदों का जो तकनीक अर्थ है उनको अनदेखा कर यदि दार्शनिक साधारण अर्थ में लेंगे तो निश्चित रूप से तार्किक असंगतताओं का सामना करना पडेगा। सांख्य में सत्त्व गुण ऊर्जा का, रज गति का एवं तम वजन का प्रतीक है।[२३] अर्थात् प्रकृति वह है जिसमें ऊर्जा, गति एवं जडत्व होता है। ये तीनों ही गुण पदार्थ के स्वभावगत लक्षण हैं।[२४] ऊर्जा, गति एवं वजन ये तीन गुण एक ही क्रियाशील शक्ति प्रकृति के विविध व्यापारों या कार्यों के तीन विशिष्ट प्रकार हैं अतः इनमें 'पृथकता' का भाव असम्भव है। 'प्रकृति' शब्द का व्युत्पत्यात्मक अर्थ 'प्रकरोतिति प्रकृतिः' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाली शक्ति है जिसे आधुनिक विज्ञान में ऊर्जा, क्षमता आदि कहा जाता है।[२५] 'प्रकृति' के तीनों गुणों को दार्शनिक अरविन्द ने प्रकृति के कार्य के तीन व्यापार कहा है "Three essential Modes of action of nature"[26] इन तीनों व्यापारों को उन्होंने न्यूटन की गति के तीन नियमों के समकक्ष माना है।[२७] न्यूटन ने सामान्यतः मनोवैज्ञानिक अर्थात् इन्द्रियात्मक जगत् के विश्लेषण के लिए प्रयुक्त करते हुए इन्हें भौतिक जगत् के लिए भी यथार्थ माना है।[२८] न्यूटन ने गति के तीन नियमों

या प्रकारों को क्रमशः जडता (Inertia) त्वरण (Acceleratis) और अभिक्रिया (Re ition) नाम दिया था जो आधुनिक भौतिकशास्त्र में Mass, Momentum तथा Stress कहकर अभिव्यक्त किये जाते हैं।[२९] किन्तु इन विचारकों के पास आज की भौतिक व प्राकृतिक विज्ञानों की शब्दावलियाँ नहीं थीं। रिचर्ड गार्बे कहते हैं - निस्संदेह इन प्राचीन विचारकों के लिए भौतिक तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की शब्दावली के आधार पर जगत् के विभिन्न भौतिक पदार्थों एवं मानसिक स्थितियों का विश्लेषण करके अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करना सम्भव नहीं था। किन्तु कपिल जैसे दार्शनिक चिन्तन की दिशा को हमें उपेक्षित नहीं करना चाहिये।[३०] जैसा कि लोकमान्य तिलक ने कहा है - हम उनकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की हार्दिक सराहना किये बना नहीं रह सकते। जगत् के विभिन्न पदार्थों पर बार-बार प्रयोग करना, अथवा विभिन्न उपायों से उनका विश्लेषण करके उनके गुणों को निर्धारित करना अथवा जैव जगत् के अनेकानेक नये और पुराने जीवों के शारीरिक अवयवों की भलीभाँति तुलना करना तथा प्राकृतिक विज्ञान के अन्य आधुनिक उपकरणों का इस्तेमाल कर पाना कणाद तथा कपिल के लिए सम्भव नहीं था। उनके नेत्रों के सामने जो कुछ भी सामग्री मौजूद थी उसी के आधार पर उन्होंने अपने निष्कर्ष निकाले और अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये। सांख्य सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड के निर्माण या विकास के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये वे उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं जो आधुनिक प्रकृति विज्ञानवेत्ताओं ने प्रस्तुत किये हैं। इन विज्ञानों के विकास के साथ-साथ उनके विचारों को भी और अधिक तर्कसंगत वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।[३१]

जगत् में जब भी और जहाँ भी कोई कार्य या व्यापार होता है वहाँ इन तीनों ही गुणों का परस्पर संयोग या वियोग होता है जिसे कारिका में 'अन्योन्याभिभव... मिथुनवृत्तयः' तथा 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' शब्दों के द्वारा अभिहित किया गया है।[३२] यहाँ वृत्ति का अर्थ क्रिया है, प्रकार है, प्रयोजन नहीं।

डॉ. झा, जयमंगला, माठर तथा गौडपाद इत्यादि सांख्याचार्य वृत्ति का अर्थ परिणाम या क्रिया करते हैं और उसे 'अन्योन्य' पद के साथ 'अभिभव' आश्रय जनन पदों की ही भाँति स्वतन्त्र रूप से जोडते हैं।[३३] कार्य जगत् की प्रक्रिया में परस्पर सहयोगी होने के बावजूद ये विभिन्न गुणों वाले विभिन्न क्षण कभी संयुक्त नहीं होते। विभिन्न मात्राओं में मिश्रित होने कारण गुण परस्पर संपृक्त रहते हैं और वे एक-दूसरे पर पारस्परिक प्रतिक्रिया भी करने की स्वभावगत क्षमता रखते हैं । उन

प्रतिक्रियाओं के विभिन्न परिणामों से नये लक्षण, गुण, धर्म से युक्त पदार्थ पैदा होते रहते हैं। गुण सदैव मिश्रित, पृथक्भूत एवं पुनर्मिश्रित होते रहते हैं। गुणों की साम्यावस्था में विक्षोभ का तात्पर्य किसी विस्फोट या गुणों का पूर्णरूप से खत्म हो जाना नहीं है अपितु यह कहना उचित होगा कि प्रकृति की यह विकासक्रम की अवस्था विशेष है जिसमें उसका स्थूल स्वरूप अर्थात् उसके विभिन्न रूप चेतन-अचेतन विशेष घटनाएँ, स्थितियाँ एवं वस्तुएँ दिखाई देती हैं। जैसा कि डॉ. बी. एन. सिआल कहते हैं - ''प्रकृति के क्षोभ, हलचल या विकार का तात्पर्य यह नहीं है कि वह सम्पूर्ण रूप से विचलित, असंतुलित एवं विस्फोटक स्थिति में हो गई है या प्रकृति में रहने वाले गुण समग्र रूप से संतुलन की स्थिति ही खो बैठे हैं। उसका तात्पर्य केवल यही होता है कि प्रकृति अपनी विकास प्रक्रिया में वह स्थिति प्राप्त कर चुकी है जिसमें विचार एवं द्रव्य के विश्वों को बनाने वाले गुणों की एक महती संख्या असंतुलित हो गई है अर्थात् वो अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिसमें वे उत्पन्न होकर अस्तित्व को बनाये रख सकते हैं।[३४] उद्‌विकास को सांख्य में 'तत्त्वान्तर' परिणाम मानना सिआल की दृष्टि को और सबल बनाता है। अर्थात् क्षोभ के दौरान कोई नया तत्त्व उत्पन्न या विकसित नहीं होता केवल पहले से उद्‌भूत पदार्थों में रासायनिक और भौतिक गुणात्मक परिवर्तन मात्र होते हैं। परिणमन की प्रत्येक स्थिति सत्ता की एक निश्चित अभिव्यक्ति मात्र है।

ई. एच. जाहस्टन कहते हैं, गुण परिणाम का तात्पर्य यहाँ किसी ब्रह्माण्डीय नयी उत्पत्ति या विनाश से नहीं है अपितु प्रकृति की अवस्था परिवर्तन से है।[३५] अतः सृष्टि के उद्‌विकास या क्षोभ की प्रक्रिया साम्यावस्था से वैषम्य की अवस्था, अविशेष के विशेष की ओर तथा अयुक्तसिद्ध में से युक्तसिद्ध की ओर विकास की प्रक्रिया है। एक विकासमान् तत्त्व के अन्दर समन्वित रूप से किसी वर्ग विशेष की वृद्धि या विशिष्ट को प्राप्त करना है।

हक्सले ने बी. एन. सिआल की प्रकृति विकास की इस व्याख्या को आधुनिक विज्ञान की जैविकीय में डार्विन द्वारा प्रस्तुत की गयी उद्‌विकास की प्रक्रिया के समकक्ष माना है।[३६]

जहाँ तक इन तीनों गुणों के क्रियाशील होने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में डी. पी. चट्टोपाध्याय के तर्क को विश्लेषण का आधार बनाया जा सकता है। उस के अनुसार रज अर्थात् गति, क्रियाशीलता अर्थात् परिवर्तन का कारण है। गति का अर्थ अवस्था परिवर्तन से है। वस्तुओं में अन्तर्निहित स्वभावगत गुण रज इस परिवर्तन

हेतु उत्तरदायी है।[३७] इस अर्थ में परिवर्तन पदार्थ के अस्तित्व की विधि एवं एक सार्वभौमिक घटना है जिसको इन दर्शन ने समस्त विकास का आधार माना है। जैसा कि स्तचेर्बात्स्की कहते हैं ''यह विचार कि पदार्थ शाश्वत है जो कभी स्थिर नहीं रहता, हमेशा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकास करता रहता है, इस प्रणाली का अत्यन्त प्रबल पक्ष है। मानव चिंतन के इतिहास में अतिप्राचीनकाल में शाश्वत पदार्थ के सदैव गतिमान रहने के विचार इतने सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय इस दर्शन के आचार्यों को जाता है।[३८] गति के बिना पदार्थ नहीं और पदार्थों के बिना गति नहीं क्योंकि यह पदार्थ की विकासप्रक्रिया में होने वाले रूपान्तरण का ही स्वरूप है। गुणों का परस्पर अन्तर्द्वन्द्व ही गति है। ''विपरीतों में एकता'' और ''निषेध का निषेध'' द्वन्द्ववाद के मूल में है।

विपरीत किसी वस्तु के ये आन्तरिक पहलू, प्रवृत्तियाँ हैं जो परस्पर निषेधक होने के साथ ही साथ दूसरे को पूर्ण मान्य भी करते हैं । इन पहलुओं के अविच्छेय अन्तःसम्बन्ध से विपरीतों की एकता बनती है।[३९] ये विपरीत प्रवृत्तियाँ परस्पर संघर्ष के द्वारा सृष्टि में समस्त क्षेत्रों में विकास का कारण होती हैं। वैज्ञानिक हर्बट स्पेन्सर ने भी कहा है कि 'संघर्ष', आकर्षण एवं प्रतिकर्षण जैसी विपरित शक्तियों का द्वन्द्व समस्त चेतन एवं अचेतन घटनाओं, स्थितियों एवं अवस्थाओं का कारण है। पदार्थ के विभिन्न घटक तत्त्वों (सत्, रज एवं तम) में अन्तर्निहित अन्तर्विरोध ही विपरीतों का संघर्ष है, विकास है एवं उनकी क्रियाशीलता है।[४०] किन्तु ये परिवर्तन तब तक विषयनिष्ठ स्थूल स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकते जब तक कि विकासप्रक्रिया के दौरान प्रकृति उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेती जिसमें विकसित होने हेतु अनुकूल भौतिक परिस्थितियाँ मौजूद हों। पदार्थ में अन्तर्निहित परस्पर आकर्षण एवं विकर्षण अर्थात् सकारात्मक एवं निषेधात्मक प्रवृत्तियाँ ही इस सम्पूर्ण विकास के मूल में है।[४१] गुणों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया को आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'द्वन्द्व' का नाम दिया है। द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव, समाज तथा चिन्तन के विकास और गति के सामान्य नियमों का वैज्ञानिक सिद्धान्त है।[४२] इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुजगत् का विकास किसी अतीन्द्रिय सत्ता की इच्छा का परिणाम न होकर भौतिक पदार्थ के विभिन्न घटक गुणों के अन्दर निहित अन्तर्विरोधों के संघर्ष का परिणाम है।[४३] समस्त भौतिक जगत् के विकसित हो रहे तत्त्वों की विकासप्रक्रिया पूर्णतया स्वतन्त्र, पृथक् एवं अपने में विशुद्ध गुण नहीं है अपितु प्रत्येक तत्त्व का विकास उसके तीनों ही गुणों और उसके चारों ओर की

परिस्थितियों से प्रभावित एवं संचालित होता है।[४४] पारस्परिक प्रभाव एवं सामीप्य के कारण उनके अंदर परिवर्तन होता है, वे विकसित होते हैं, परस्पर मिलते हैं तथा पृथक् होते हैं। उनमें से कोई भी अपनी शक्ति एवं अस्तित्व को नहीं खोता, भले ही दूसरे सक्रिय रूप में क्यों न कार्यरत हों।[४५] जैसा कि सांख्यप्रवचनभाष्य में कहा है "तमाम भौतिक और मानसिक क्रियाएँ, किसी ऐसी अन्य शक्ति के हस्तक्षेप से नहीं होती जो पदार्थ से स्वतन्त्र एवं पृथक् हों।[४६] यही विचार ब्रह्मसूत्र[४७] पर शंकराचार्य के भाष्य में मिलता है । सूत्र में कहा है 'जिस प्रकार इंद्रिय-वेदन से रहित दुग्ध छोटे पशु की क्षुधा मिटाने के लिए स्वयं गाय के थनों में आ जाता है और जिस प्रकार इंद्रिय संवेदन से रहित जल प्रवाहित होता है उसी प्रकार प्रधान भी, जो अचेतन है, स्वयं अपने स्वभाव से विकसित होता माना जा सकता है। सांख्य में प्रधान से परे कोई बाह्य तत्त्व ऐसा नहीं है जो प्रधान को क्रियाशीलता के लिए बाध्य करे अथवा उसे क्रियाशीलता से रोक सके ।[४७] 'पुरुष' जैसा कि कारिका 'उन्नीस' कहती है, उदासीन है, न तो क्रियाशीलता की ओर प्रवृत्त होता है, न उसको रोकता है। पदार्थ से स्थूल जगत् की उत्पत्ति की पहली प्रेरणा देने के लिए किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि गति और कारणता की प्रक्रिया स्वयं प्रकृति में अन्तर्निहित है। यहाँ सांख्य 'स्वभाववाद' को अपने तर्कों का आधार बनाता है।[४८] इस सम्बन्ध में हिरियन्ना कहते हैं "सांख्य की प्रकृति की अवधारणा इस बात में बहुत उन्नत है कि उसे शरीर की तरह एक स्वतः विकासशील सत्ता माना गया है।"[४८] सांख्य में 'ईश्वर' जैसीं अवधारणा उसके मूल प्रेरणा के सोच में कहीं नहीं थी। 'सांख्य में ईश्वरवाद लाने का प्रयत्न उसके इतिहास में बहुत बाद में किया गया।[४९] विज्ञानभिक्षु सांख्य में ईश्वर के लिए स्थान बनाने को बहुत उत्सुक हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञानभिक्षु ने महत् को ईश्वर माना है जो समस्त वस्तुओं का उत्पादनकर्ता है। किंतु उत्तरकालीन दार्शनिकों ने उसको चेतनपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया, जो सांख्य दर्शन की मूल प्रस्थापनाओं को खण्डित करता है।[५०] इसी तरह सांख्यप्रवचनभाष्य के अध्याय एक के सूत्र में कहा है - ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ईश्वर चूँकि न तो स्वतन्त्र है और न बद्ध हो सकता है, न इनसे भिन्न किसी अन्य प्रकार का हो सकता है, इसलिए उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण या आधार नहीं हो सकता। यदि वह इनसे स्वतन्त्र नहीं अपितु बद्ध, हो तो वह उतना ही अज्ञानी होगा जितना हम।

अतः सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप में उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। (१.९५) कर्मफलदाता के रूप में उसका अस्तित्व असंगत है क्योंकि फलों की प्राप्ति ईश्वर की इच्छा के अधीन नहीं रहती, वह तो कर्ता द्वारा सम्पादित कर्मों की अनिवार्य परिणति होती है। पतंजलि के ग्रन्थ में जिस सूत्र में ईश्वर का अभ्युपगम है, वह शेष ग्रन्थ से असम्बद्धसा है। क्योंकि योग का ईश्वर केवल ध्यान का आदर्श विषय है- किसी सृष्टिकर्ता, हर्ता नियन्ता के रूप में नहीं। यहाँ उसको अन्य पुरुषों की तरह एक पुरुष माना गया है। हममें ज्ञान, विवेक, गुण इत्यादि में मात्रा-भेद का अनुभव होता है, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त विवेक इत्यादि के अस्तित्व की ओर संकेत करता है, जिस व्यक्ति में ये हों, वही ईश्वर है।[५१]

वस्तुतः सांख्य में पुरुष की अवधारणा अपने आप में भी तार्किक असंगतताओं से ग्रस्त है। कारण यह है कि 'पुरुष' के स्वरूप एवं उसकी सिद्धि हेतु दिये गये प्रमाणों में गहरी विरोधपूर्ण स्थितियाँ हैं। कारिका १९ में पुरुष को साक्षी, अकर्ता, अभोक्ता, उदासीन, चैतन्य, विवेकी, अप्रसवधर्मी एवं कैवल्य की प्रवृत्ति वाला माना गया है।[५२] जो न किसी का कारण है न किसी का कार्य है।[५३] (कारिका ३) इस सम्बन्ध में कारिका १७ कहती है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृतेश्च ॥

किन्तु पुरुष की ये विशेषताएँ उसके अस्तित्व की सिद्धि हेतु दिये गये तर्कों से असंगत है क्योंकि अस्तित्व के प्रमाण एक भोक्ता, कर्ता एवं अविवेकी पुरुष की सत्ता को सिद्ध करते हैं। हिरियन्ना कहते हैं- चौथी युक्ति मनुष्य की संसार से दूर होने की चाह अर्थात् मुक्ति की सहज प्रवृत्ति पर आधारित है, जो मुक्त होना चाहते हैं।[५४] किंतु पुरुष में कैवल्य की प्रवृत्ति का पाया जाना कारिका ६२ के साथ संगति नहीं बैठती है । इस कारिका की मूल प्रस्थापना है कि प्रकृत्ति ही बन्धन में पडती है, वही संसरण करती है और मुक्त होती है। यहाँ यह भी नहीं भूलें कि सांख्य का पुरुष चैतन्यस्वरूप ही है ज्ञानस्वरूप नहीं है। जबकि मुक्ति तो ज्ञान है। यदि सांख्य का पुरुष विवेकी है तो वह बन्धन में क्यों पडेगा ? यह कैसे सम्भव है कि चैतन्य एवं विवेकी होना पुरुष का स्वभाव है जबकि मुक्ति मिलती है जड प्रकृति को। किसी भी ज्ञान की प्राप्ति हेतु चैतन्य होना प्राथमिक शर्त है।

इसके अतिरिक्त सांख्य द्वारा स्वीकृत 'बहुपुरुषत्व' की अवधारणा पुरुष के तात्त्विक स्वरूप से कहीं मेल नहीं खाती है । बहुपुरुषत्व का कारण पुरुषों में सत्, रज एवं तम गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात में विद्यमान् रहना है जिसके कारण उनमें अलग-अलग प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। किन्तु सत्, रज, तम तो प्रकृति के ही गुण हैं।

इसके साथ ही करिका ६७ एवं ६८ में जीवनमुक्त एवं विदेहमुक्ति की चर्चा यह स्पष्ट कर देती है कि मुक्ति ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियों से युक्त सशरीरी अनुभवशील व्यक्ति की होती है जो प्रकृति का ही एक विकार है, विकृति है। इस सम्बन्ध में सांख्य की प्रस्थानजिज्ञासा को भी देखना अपेक्षित है। सांख्य में समस्त दार्शनिक प्रवृत्तियों का लक्ष्य विविध दुःखों - जिसको जीवात्मा भोगता है - से मुक्ति का बताया है।

कारिकाओं में उपलब्ध पुरुष की 'अवधारणा', उसका स्वरूप तथा भूमिका एक सशरीरी व्यक्ति के अस्तित्व को ही सिद्ध करती है किसी सृष्टिकर्ता नित्य तत्त्व को नहीं। यह सशरीरी व्यक्ति प्रकृत्ति का ही विकार है इसलिए वह प्रकृति का उप-उत्पाद ही कहा जा सकता है, उसे पृथक्, स्वतन्त्र एवं नित्य तत्त्व नहीं। सुखलालजी संघवी कहते हैं- चरक संहिता के अनुसार आत्मा मात्र प्रकृति से उद्भूत है और ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह भी प्रकृति के साथ-साथ शाश्वत है। इसका सीधा अर्थ यह है कि चेतना (आत्मा) पदार्थ की उपज है, क्योंकि प्रकृति का सीधा अर्थ आद्य पदार्थ है, जो स्वरूपतः जड है, अचेतन है।[५५] चरक-संहिता में तत्त्वों की संख्या चौबीस मानना यह सिद्ध करता है कि मूल सांख्य में पुरुष नामक पचीसावाँ तत्त्व नहीं था। इस सम्बन्ध में दासगुप्ता तर्क देते हैं कि चरक संहिता में आद्य पदार्थ की इस अव्यक्त अवस्था के अतिरिक्त किसी अन्य चेतन पुरुष को मान्यता नहीं दी गयी। आगे कहते हैं ''सांख्य दर्शन का यह विवरण महाभारत में पंचशिख द्वारा प्रतिपादित सांख्यमत से संगति रखता है। पंचशिख पुरुष की जगह अव्यक्त का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि यही परम सत्य है।[५६] अतः विर्विवाद रूप से प्राचीन माने जाने वाले इस दर्शन में आत्मा या पुरुष को प्राथमिक मानव का कोई संकेत नहीं मिलता । इसके विपरीत संकेत मिलता है, पदार्थ का प्राथमिक एवं चेतन को गौण मानने का।

यदि 'पुरुष' के अस्तित्व को आवश्यक बनाने वाली ज्ञानमीमांसीय स्थितियों

को देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि नित्य, स्वतन्त्र पुरुष एवं प्रकृति की विकृति बुद्धि के पारस्परिक संसर्ग हेतु दिये गये तर्कों की कोई संगत परिणति नहीं हो सकती। प्रो. दयाकृष्ण कहते हैं कि ज्ञान चेतनकर्ता द्वारा सम्पादित होने वाली प्रक्रिया है जिसके लिए पूर्व में कुछ आवश्यक स्थितियाँ होने चाहिये।[५७]

सांख्यकारिका के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उस समय होता है जब बाह्य इंद्रियाँ उस वस्तु के बारे में अपनी अनुभूति को तीन आन्तरिक इन्द्रियों - मनस् अहंकार एवं बुद्धि - में संचारित करती हैं।[५८] अतः वस्तुवादी सांख्य में ज्ञान विषयनिष्ठ यथार्थ पार्थिव जगत् से चेतना का इन्द्रियों के माध्यम के सम्पर्क से उत्पन एवं संरचित होने वाली वृत्ति है। ज्ञानकी यह प्रक्रिया चेतन मनुष्य द्वारा ही सम्भव है। सांख्य में भौतिक विकास की एक विशिष्ट दशा में ही मनुष्य का उद्भव हुआ। पाँच महाभूतों, इन्द्रियों, पाँच सूक्ष्म तत्त्वों, मनस्, बुद्धि, अहंकार और अव्यक्त के सामूहिक योग से ही मनुष्य का निर्माण हुआ। डेल राइप कहते हैं सांख्य योग के सभी दर्शनाचार्य यदि पुरुष को तत्त्वतः अपरिवर्तनीय मानते हैं तो ज्ञान केवल भौतिक पदार्थ से उत्पन्न चेतना का ही एक प्रकार हो सकता है क्योंकि ज्ञान मानसिक अवस्थाओं में परिवर्तन भी है। राइप इस तर्क की तुलना ल्यूक्रिट्स के तर्क से करते हैं जिसमें कहा गया है कि ज्ञान मस्तिष्क में बाह्य विषय का चित्र है, बिम्ब है।[५९] अर्थात् प्रकृति के विकास की प्रक्रिया में ही विचारतंत्र का उद्भव हुआ जो वस्तुगत जगत् को जानने और समझने में सक्षम है इसमें चेतना भौतिक शरीर का आगन्तुक गुण है। किन्तु उसमें ज्ञान की संज्ञा केवल तब जागती है जब बाह्य इन्द्रियों के माध्यम से उसका सम्पर्क किसी विषय के साथ होता है। सम्पर्क अर्थात् अनुभव का सम्बन्ध सशरीरी पुरुष से है। मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहंकार ये सब मिलकर उस उपकरण का निर्माण करती हैं जिसके द्वारा वस्तुनिष्ठ विषय का ज्ञान चेतन को होता है। जब ज्ञानेन्द्रियों का किसी बाह्य विषय के साथ सम्पर्क होता है विषय इन्द्रियों को उत्तेजित करता है, तो 'मन' इन्द्रियानुभवों को एक बोध के रूप में व्यवस्थित करता है, अहंकार इसे चेतन को प्रेषित करता है और बुद्धि उसे विचार के (निर्णय) के रूप में परिणत कर देती है। जब इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि बाह्य पदार्थ के सम्पर्क में आकर सम्बन्ध स्थापित करती है तो यह उक्त पदार्थ का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् उस विषय का ज्ञान चेतन को होता है।[६०] अरविन्द ने मनस् को ज्ञानप्राप्ति हेतु मूलभूत इन्द्रिय

माना है जो सभी वस्तुनिष्ठ विषय को प्राप्त करता है तथा उनके साथ प्रतिक्रिया करता है। प्रत्यक्षीकरण के दौरान विषय का ग्रहण एवं प्रतिवाद दोनों की क्रिया करता है।[६१]

सांख्य में बुद्धि प्रथम विकार है, जिससे अन्य समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। कुछ दार्शनिकों ने इसे मनोवैज्ञानिक विकास प्रक्रियां बताया है, जैसाकि जिम्मर अपनी पुस्तक 'भारत का दर्शन' में कहते हैं। सूक्ष्म जगत् तथा मानव समस्याओं की समूची शृंखला का उनका विश्लेषण आद्य वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक क्रियाकलापों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आत्म-अवशोषक या अन्तर्वलन की आद्य अवस्था के लिए जो लगभग क्रिया शून्यता जैसी अवस्था होती है और अनूअस्तित्व से मिलती-जुलती है, एक अन्तर्ज्ञानीय आन्तरिक चेतना (बुद्धि) की अवस्था विकसित होती है, यह 'मैं' (अहंकार) की धारणा के पूर्व की स्थिति होती है, 'मैं' की स्थिति इसके बाद आती है और तब मनस् के माध्यम से बुद्धि बाह्य इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् के अनुभव की ओर बढती है। इस दृष्टि से मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में विश्वोत्पति की प्रक्रिया, एक नितान्त आन्तरिक, सर्व प्रत्यक्ष केन्द्र से दिखाई देने वाले परिवेश के विकास के रूप में प्रकट होती है। अब तक जिसकी कल्पना में ही अवधारणा की गयी थी वह तत्काल एक महत्त्वपूर्ण संरचना का रूप धारण कर लेती है, यह जगत् आन्तरिक अवशोषण की निश्चय अवस्था से प्रकट होता दिखाई देता है। फलतः उसका अन्तर्मनन सृष्टि की इस पहेली को समझने की कुंजी बन जाता है।[६२] इस तर्क का विश्लेषण यदि सांख्याचार्यों के चिन्तन की दिशा को ध्यान में रखते हुए करें तो पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत सांख्य का उपर्युक्त विकासक्रम उसकी मूल प्रस्थापनाओं में कोई विरोध पैदा नहीं करता। इस सम्बन्ध में प्रो. चट्टोपाध्याय कहते हैं ''सांख्य के अनुसार विकास अचेतन, निष्क्रिय प्रकृति से हुआ है, न कि आन्तरिक अवशोषण की निश्चल अवस्था से''। कोई भी मानसिक व्यापार केवल मस्तिष्क से ही हो सकता है। उसकी उत्पति स्वयं प्रकृति से होती है। सांख्य पर यह तर्क तभी लागू हो सकता था यदि सांख्य के अनुसार बुद्धि, अहंकार का विकास पदार्थ से पहले माना जाता।[६३] 'बुद्धि' को जब प्रकृति का प्रथम विकार या अभिव्यक्ति कहा जाता है तो वहाँ उसका तात्पर्य उस क्षमता या शक्ति से लेना चाहिये जो सभी प्रकार के भेद एवं संयोजन का आधार है। यहाँ भेद का तात्पर्य ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से 'यह जार है', 'गुलाब लाल है' इत्यादि

भेद ज्ञान से नहीं है अपितु नानाविध वस्तुओं में प्रकारभिन्नता के कारणरूप क्षमता से है।

सांख्य द्वारा सत्कार्यवाद के आधार पर भी पुरुष का प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न करने एवं जड बुद्धि में ज्ञान का प्रस्फुटन (में प्रतिबिम्ब) करने के रूप में अस्तित्व का स्वीकार करना नितान्त अतार्किक एवं विरोधाभासों से पूर्ण स्थितियों को जन्म देने वाला तर्क है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य नितान्त शून्यता से उत्पन्न नहीं होता। कारण एवं कार्य एक ही स्थिति के अव्यक्त तथा व्यक्त रूप हैं।[६४] सत्कार्यवाद का ही दूसरा रूप 'स्वभाववाद' है जिसके अनुसार कोई एक ऐसी बाह्य शक्ति नहीं है जो प्रकृति की गति को चलित या बाधित करें। उनके अनुसार तत्त्वों में स्पंदन अथवा गति की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है।

अतः वैज्ञानिक शब्दावली के अभाव के कारण यद्यपि सांख्य दर्शन की वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि काफी असंगतिपूर्ण स्थितियों से गुजरती है किन्तु सांख्य दार्शनिकों ने दार्शनिक सोच को वैज्ञानिक भौतिकवादी दिशा देने हेतु यशस्वी प्रयास किया। जैसाकि गार्बे ने कहा है - कपिल के ही सिद्धान्तों में विश्व के इतिहास में प्रथम बार मानव मस्तिष्क की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा स्वयं अपनी शक्ति में उसकी आस्था प्रकट हुई। सांख्य प्रणाली के उद्भव के सम्बन्ध में जानकारी तभी स्पष्ट होती है जब हम यह समझ लेते हैं कि भारत के उन क्षेत्रों में जहाँ ब्राह्मणवाद का अधिक प्रभाव नहीं था इस संसार और मनुष्य के अस्तित्व की पहेलियों को केवल युक्ति और तर्क के आधार पर सुलझाने का प्रथम प्रयास किया गया था।[६५] डेवीस सांख्य की इस वैज्ञानिक दृष्टि की सराहना करते हुए कहते हैं- विश्व की उत्पत्ति, मनुष्य की प्रकृति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके भविष्य के बारे में प्रत्येक विचारवान् मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाले जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों के केवल युक्ति एवं तर्क द्वारा उत्तर देने का प्राचीनतम दर्शन है।[६६] प्रो. दया कृष्ण सांख्य की तर्क पूर्ण दृष्टि के सम्बन्ध में कहते हैं- सारा जगत् जिन तत्त्वों से रचित है वह सांख्य की दृष्टि में प्रकृति का अंग ही नहीं है बल्कि उसमें एक ऐसा मूलभूत तारतम्य है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा जड पदार्थों से मन, बुद्धि और अहम् भावना जैसे मनोवैज्ञानिक तत्त्वों तक फैला हुआ है। एक तरह से आज का विज्ञान इसकी पुष्टि करता है क्योंकि उसके अनुसार मन और बुद्धि उसी एक प्रक्रिया के अंग हैं जो भौतिक जगत् की वस्तुओं में दिखाई देती है। 'साइबरनेटिक्स'

(Cybernetics) के नाम से जानी जाने वाली विद्या जिसके आधार पर अनेक तरह के कम्प्युटर बनाए गए है इसी ओर इशारा करती है कि मशीन में भी बुद्धि हो सकती है और वह भी उन सब भौतिक, वैचारिक प्रक्रियाओं को कर सकती है जो मनुष्य का दिमाग करता है।[६७]

व्याख्याता दर्शनशास्त्र
राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय,
उदयपुर

डा. सुधा चौधरी

टिप्पणियाँ

१. **कारिका**, १०
२. **सांख्य प्रवचन सूत्र**, १-६८
३. वही, १-६९
४. स्तचेर्बात्सिकी, **बुद्धिस्ट लॉजिक**, खण्ड १, पृ. १८
५. के. दामोदरन, **भारतीय दर्शन परम्परा**, पृ. १४१
६. मैक्समूलर, **सिक्स सिस्ट्मस ऑफ इंडियन फिलासॉफी**, पृ. २०१
७. वही, पृ. २०१
८. डी. पी. चट्टोपाध्याय, **भारतीय दर्शन कितना जीवंत कितना मृत**. पृ. २४३
९. वही, पृ. २४४
१०. के. दामोदरन, **भारतीय दर्शन परम्परा**, पृ. १४२
११. वही, पृ. १४५
१२. **कारिका**, पृ. २३
१३. **कारिका**, २२
१४. एम. हिरियन्ना, **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, पृ. २८०
१५. रिचर्ड गार्बे, **एन इन्ट्रोडक्शन टू अनिरूद्धाज कमेन्ट्री ऑन माधवाचार्याज इन्टरप्रिटेशन ऑफ दि सांख्य टीनेटम**, पृ. २८
१६. **कारिका**, २२
१७. मैक्समूलर, **सिक्स सिस्टमस् ऑफ इन्डियन फिलॉसॉफी**, पृ. २३०
१८. के. के. मित्तल, **मेटिरियलिज्म इन इन्डियन फिलॉसॉफी**, पृ. २८१
१९. **कारिका**, २१
२०. वही
२१. **लोकायत**, पृ. ३५९
२२. मैक्समूलर, **सिक्स सिस्ट्म ऑफ इन्डियन फिलासाफी**, पृ. २०५
२३. वही, २०४

२४. वही, पृ. २०६
२५. **सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा**, पृ. १७५
२६. डॉ. आघाप्रसाद मिश्र, **सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा**, पृ. १७५
२७. वही, पृ. १७५
२८. वही, पृ. १७५
२९. वही, पृ. १७६
३०. रिचर्ड गार्बे, **फिलॉसाफी इन एंशियन्ट इन्डिया**, पृ. १२
३१. बाल गंगाधर तिलक, **गीतारहस्य**, पृ. २०५-२०६
३२. आघा प्रसाद मिश्र, **सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा**, पृ. १६५
३३. वही, पृ. १६६
३४. के. के. मित्तल, **मेटिरिलिज्म इन इन्डियन फिलॉसाफी**, पृ. २१२
३५. बी. एम. सीऑल, **पौजिटिव सांइसेज ऑफ दि एन्शियेंट हिन्दूज**, पृ. ३
३६. हक्सले, **इवोल्यूशन इन एक्शन**, पृ. १८
३७. **लोकायत**, पृ. ५१०
३८. स्तचेर्बात्सिकी, **बुद्धिस्ट लॉजिक**, खण्ड-१, पृ. १४
३९. राहुल, **दर्शन दिग्दर्शन**, पृ. ५३७
४०. राधाकृष्णन, **भारतीय दर्शन**, पृ. २०९
४१. अफनास्येंव, **मार्क्सवादी दर्शन**
४२. वही, पृ. ९८
४३. वही, पृ. ९९
४४. लेनिन, **डाइलेटिक्स ऑफ नेचर**, पृ. १२०
४५. कारिका, १२
४६. **सांख्य-प्रवचन-भाष्य**, १-३८
४७. **ब्रह्मसूत्र**, दो २१
४८. **लोकायत**, ४५९
४९. हिरियन्ना, **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, पृ. २८१
५०. विज्ञानभिक्षु, **सांख्यसार**, पृ. १
५१. एम. हिरियन्ना, **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, पृ. २८०
५२. **सांख्य प्रचवन भाष्य**, पृ. १-९५
५३. **कारिका**,३
५४. हिरियन्ना, **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, पृ. २८२
५५. सुखलाल संघवी, **अध्याय-विचारना**, पृ. ९१५-१६
५६. एन. एन. दासगुप्त, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, पृ. २१३-२१४
५७. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. २७२

५८. डी. पी. चट्टोपाध्याय, **भारतीय दर्शन कितना जीवंत कितना मृत**, पृ. २४३
५९. के. दामोदरन, **भारतीय दर्शन परम्परा**, पृ. १४७
६०. **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका**, पृ. ८-९
६१. अरविन्द, **गीतारहस्य**, पृ. १२०
६२. विलियम्स जिम्मर, **इंडियन विसडम**, पृ. ८९-९०
६३. डी. पी. चट्टोपाध्याय, **भारतीय दर्शन कितना जीवंत कितना मृत**, पृ. १८५
६४. डैवीस, **हिन्दू फिलॉसाफी**, पृ. १४१
६५. गार्बे, **फिलॉसाफी इन एन्शियंट इन्डिया**, पृ. १५
६६. डैवीस, **हिन्दू फिलॉसाफी**, पृ. १४१
६७. दयाकृष्ण, **भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि**

आचार्य हरिभद्र सूरि के योगबिन्दु के दार्शनिक तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

हरिभद्र ने आत्मा के विषय में बताया है कि जीव अन्य कर्म पुद्‌गलों के संयोग से संसारी तथा उनके वियोग से मुक्त हो जाता है। पुद्‌गल की इस जगत्‌ से सम्बद्धता ही संसारावस्था है, और शुद्ध स्वभाव होने पर उसकी मुक्तावस्था होती है, अर्थात्‌ मुक्तावस्था ही कर्म पुद्‌गलों से छुटकारा है।[१] शुद्ध आत्मा की स्थिति विशुद्ध स्वर्ण जैसी है और संसारावस्था उस अशुद्ध आत्म स्वर्ण के लिये है, जो अन्य धातुओं से मिश्रित है। आत्मा पुद्‌गलों को आकृष्ट करती अथवा उनसे सम्बद्ध होती है, यह वस्तुतः आत्मा की योग्यता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो पुद्‌गल और आत्मा का सम्बन्ध घटित ही नहीं होगा। अतः यदि आत्मा अनादि है, तो उसकी पुद्‌गलों के साथ संयोग की योग्यता भी अनादि है। आत्मा तथा कर्म पुद्‌गलों की परम्परा प्रवाह रूप से अनादि है। यदि आत्मा-पुद्‌गल संयोग को अनादि नहीं माने, तो तत्त्व-निरूपण की व्यवस्था में बाधा उत्पन्न होगी।

हरिभद्र ने कहा है कि जब तक अपने आप में किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता नहीं होगी तो केवल देवादि के अनुग्रह से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये अपने आप को योग्य बनाना होगा।[२] कोई भी परमाणु केवल अनुग्रह से आत्मा नहीं बन सकता। कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुकूल परिणत होने की योग्यता विद्यमान है इसलिये आत्मा का कर्मों पर कर्तव्य घटित नहीं होता है।[३] अतएव योगमार्ग पर अग्रसर होने के लिये ज्ञान तथा विश्वास से युक्त होकर जो साधक योग साधना में प्रवृत्त होगा, वही अभीष्ट की प्राप्ति कर सकता है, अन्यथा नहीं।

मोक्ष के साथ आत्म को जोडने की दृष्टि रखकर योग के पाँच भेद बतलाये गये हैं। अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय, क्रमशः एक-दूसरे से योगबिन्दु के छः भेद किये गये है, जो इस प्रकार है- १) तात्त्विक २) अतात्त्विक ३) सानुबन्ध ४) निरनुबन्ध ५) सास्तव ६) अनास्तव।

योग का यथार्थ अनुसरण तात्त्विक योग है तथा केवल लोकरंजनार्थ योग

का प्रदर्शन अतात्त्विक योग है। वह सानुबन्ध योग है, जो लक्ष्य-स्वायत्त करने तक अविच्छिन्न बना रुकावट के गतिमान् रहता है, जिसमें बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध आता रहता है, वह निरनुबन्ध योग है। जो संसार को दीर्घ-लम्बा बनाता है, जन्म-मरण के चक्र को बढाता है, वह सास्तव योग है, तथा जो इस चक्र को रोकता या मिटाता है, वह अनास्तव योग है। ये नाम योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं।

योग वह उत्तम कल्पवृक्ष है, जो साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। जन्मरुपी बीज के लिये योग अग्नि है, संसार में बार-बार जन्म-मरण में आने की परम्परा को योग नष्ट करता है।

योगबिन्दु के योगाधिकारी के दो भेद किया गये हैं -

१) अचरमावर्ती २) चरमावर्ती।

अचरमावर्ती के अन्तर्गत लोकपंक्ति तथा भावाभिनन्दी हैं। अचरमावर्ती जीव पर मोहादि भारों का चरम दबाव रहता है, जिससे सांसारिक पदार्थों में लोभ-मोह के कारण उन्हें भावाभिनन्दी कहा जाता है। सन्दर्भ एवं लौकिक कार्य भी वह कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की कामना से करता है। इस दृष्टि से उसे लोकपंक्ति कृतादर भी कहा गया है। अतः इस प्रकार के जीव अध्यात्म योग को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस विषय की पुष्टि आचार्य गोपेन्द्र ने की है।[४]

गुरुजनों तथा देवों का पूजन, सदाचार, तप एवं मुक्ति से अद्वेष (मोक्ष का विरोध न करता) अरुचियुक्त न रहना इन्हें शास्त्रज्ञों ने पूर्वसेवा कहा है। साधक को चाहिए कि वह दीन आदि वर्ग को विधिवत् दान दे। जो दिया हुआ, दाता और गृहीता दोनों के लिये उपकारजनक होता है वही उपयुक्त दान है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि असुविधाएँ झेलकर पुण्य के लोभ में दान नहीं देना चाहिए।[५] दान धर्म के चार पदों (दान, शील, तप तथा भावना) में से प्रथम पद है।

साधक को यथाशक्ति पापनाशक तप का आचरण करना चाहिए। आचार्य ने चार प्रकार के तप माने हैं।

१) चान्द्रायण २) कृच्छ्र ३) मृत्युघ्न ४) पापसूदन।

समस्त कर्मों के क्षय हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष योग, सांसारिक सुख तथा दुःख से रहित है। सद्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को मुक्ति का उपाय कहा गया है। ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के नाश से आत्मा का घोर अहित होता है।

योग साधना की सिद्धि के लिये अनुष्ठान अर्थात् क्रियाएँ आवश्यक है।

आध्यात्मिक विकास में सहायक अनुष्ठान पाँच प्रकार के कहे गये हैं। (१) विषयानुष्ठान (२) गरानुष्ठान (३) अननुष्ठान (४) तेद्धेतु अनुष्ठान (५) अमृतानुष्ठान। पहले तीन असदनुष्ठान हैं, जो रागादि भाव से युक्त होने के कारण लौकिक हैं। अन्तिम दो अनुष्ठान रागादिभाव से रहित होने के कारण सदनुष्ठान माने गये हैं, ये पारलौकिक हैं।

(१) विषयानुष्ठान - इस अनुष्ठान में साधक का उद्देश इस जन्म में लब्धियों अथवा अलौकिक शक्तियों के द्वारा कीर्ति सम्मान आदि प्राप्त करना होती है। **(२) गरानुष्ठान** - इस जन्म के बाद अनेक प्रकार के स्वर्गीय सुख भोगने की अभिलाषा रखना और इसी दृष्टि से धार्मिक अनुष्ठानों को करना गरानुष्ठान है। **(३) अननुष्ठान** - इस अननुष्ठान में गुरुदेवादि की पूजा अथवा सत्कार किया जाता है, किन्तु इस क्रियाओं के प्रति न श्रद्धा होती है, न विवेक, मात्र शरीर निर्वाह ही होता है। **(४) तद्धेतु अनुष्ठान** - इसमें साधक यम, नियम, ध्यान, जपादि धार्मिक अनुष्ठानों को अपनी शुभ प्रवृत्ति द्वारा करता है, परन्तु वह सांसारिक न होकर मोक्षाभिमुखी होता है। अतः अद्वैषबुद्धि के कारण इस अनुष्ठान को अमृतानुष्ठान का कारण माना गया है। **(५) अमृतानुष्ठान** - सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्ग का समझ-बूझ कर एवं श्रद्धापूर्वक आचरण कर मोक्ष प्राप्त करना अमृतानुष्ठान है। साक्षात् मोक्षदायक होने के कारण यह उत्तम अनुष्ठान माना गया है। इसमें समस्त इच्छाएँ फलीभूत होती हैं।

बाँधना तथा बद्ध होना आत्मा एवं कर्म की योग्यताएँ है। कर्मों को आकृष्ट करना संसारावस्था, आत्मा का स्वभाव है।[६] कर्मबन्धन से मुक्त होने पर अध्यात्म-जागरण होता है।[७]

जो भवाभिनन्दी जीव में पाये जाने वाले दोषों को प्रतिकूल गुणों से युक्त होता है, अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता जाता है, वह अपुनर्बन्धक होता है। अपुनर्बन्धक जीवों में उनके आत्म-परिणामों में पवित्रता का भाव निहित होता है। जो व्यक्ति अशान्त तथा निम्न श्रेणी का होती है वह शुद्ध क्रियानुष्ठान-धर्मानुसंगत श्रेष्ठ कार्य नहीं करत सकती है। ''पूर्व-सेवा'' से लेकर उत्तरवर्ती सभी क्रियानुष्ठान योग ते अन्तर्गत है, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

भिन्नग्रन्थि पुरुष अपनी दृष्टि मोक्ष पर स्थिर किये रहते हैं, एक ओर उनका संसार के बन्धन से आत्मा के छूटने के सम्बन्ध में चिन्तन चलता है तथा दूसरी ओर शुद्ध धर्मानुष्ठान में तत्पर रहता है।

त्रिविध शुद्ध अनुष्ठान सत् शास्त्रों की आधा के अनुरूप वर्तन, शास्त्रों में सम्यक् दृढ विश्वास, श्रद्धा, ये योग के सहकारी है। दूसरे अनुष्ठान में लौकिक दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम आदि के व्यवस्थित पालन का समावेश होता है, परन्तु सम्यक् ज्ञान आदि के न होने से वह यथावत् रूप में शास्त्रसम्मत नहीं होता है। तीसरे अनुष्ठान में दूसरे अनुष्ठान का परिपालन तत्त्वसंवेदन-तत्तत् ज्ञानपूर्वक होता है, तीसरा अनुष्ठान अति उत्तम फलप्रद है।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार ग्रन्थि भेद हो जाने पर जीव सम्यक्दृष्टि हो जाती है। सम्यक्दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों से पृथक् रहता हुआ गुरु, देव आदि की पूजा, सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

अतीत में किये गये शुभ-अशुभ कर्म ही तत्त्वतः भाग्य है। पुरुषार्थ वर्तमान कर्म व्यापार, क्रिया-प्रक्रिया है, जो यथावत् रूप में किये जाने पर सफलता लेता है। भाग्य तथा पुरुषार्थ विचित्र रूप में अनेक प्रकार से दूसरों पर आश्रित है। वर्तमान-जीवन में जो कार्य किया जाता है, वह पुरुषार्थ कहा जाता है।

आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का ऐसा निरोध जिससे वे पुनः उत्पन्न न हो, वृत्तिसंक्षय है । इससे मोक्ष पद प्राप्ति होती है आत्मा का अन्य विजातीय पदार्थों के साथ संयोग होने से वृत्तियाँ निष्पन्न होती है। वृत्तियाँ तरह-तरह के पत्ते है। जीवन का यथार्थ लक्ष्य साधने, आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का परिसमापन करने का उपाय उसी से अधिगत है, और तत्त्वदर्शन तथा जनपद-त्याग से छः योग साधने के हेतु है।

सर्वज्ञतारूप नेत्र से अतीन्द्रिय इन्द्रियों द्वारा अगम्य पदार्थों को साक्षात् देखते हुए धर्मदेशना में अथवा धर्मोपदेश करने में प्रवृत्त होते हैं। बौद्ध योगी इस प्रकार की सर्वज्ञता को असम्भव मानते हैं। दूसरे सांख्य योगी कहते हैं कि मोक्ष में सर्वज्ञत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ अपेक्षित सहकारी कारण नहीं रहता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप है, वह ज्ञान से पृथक् नहीं है। इसलिये सर्वज्ञता मुक्तावस्था से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में सम्भव है, क्योंकि वह सर्वज्ञत्व ज्ञान का विशुद्ध एवं सर्वोकृष्ट रूप है, जो आत्मा का स्वभाव है। सर्वज्ञता से इन्द्रियातीत पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है, जो प्रमाणभूत है। आत्मा को ज्ञानरूप मानने से उसमें ज्ञानमयी प्रतीति चिन्मयता सिद्ध होती है, जैसे अग्नि में उष्णता अभिन्न रूप में रहती है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान अभिन्न रूप से व्यवस्थित है। अग्नि का स्वभाव उष्ण है, किन्तु अग्नि पर किसी ऐसी वस्तु का आवरण डाल दिया जाए जो

उष्णता को रोके रहे, तो अग्नि अपने स्वभावानुरूप कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान जब ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त रहता है, तो ज्ञेय पदार्थों के जानने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् बाधक हेतु न होने पर अग्नि जिस प्रकार जलाने का कार्य करती है, उसी प्रकार ज्ञाता बाधक न होने पर जानने का कार्य करता है। केवल ज्ञान या सर्वज्ञता द्वारा जानने के उपक्रम में स्थान आदि का व्यवधान बाधक उसी प्रकार नहीं होता है, जैसे अग्नि की दाहकता में होता है।[८] जैसे अग्नि का धर्म जलाना है उसी प्रकार ज्ञान का धर्म जानना है। पुरुष सब कुछ जानने में सक्षम नहीं होता है, वह सर्वज्ञ द्वारा सम्भव है।

आत्मदर्शन से मुक्ति होती है। मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद भी आत्मा ज्ञानयुक्त होती है।[९] कुछ लोगों का कहना है कि मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता है। सांख्यवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि आत्मा चेतना के रूप में है और चेतना अपने को जानना कभी बन्द नहीं करती है।

'समाधि' योग का सुप्रचलित शब्द है। यह अष्टाङ्ग योग का आठवाँ (अन्तिम) अंग है, जहाँ योग परिपूर्णता पाता है। तृष्णा जन्म का मूल है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये, तो तृष्णा भी नहीं रहेगी। ऐसी दशा में तृष्णा के अभाव में दुःखों का आत्यन्तिक अभाव अर्थात् दुःखों से छुटकारा रहेगा।[१०] यदि यह स्वीकार किया जाये कि आत्मा सदा एक ही रूप में रहती है, तो उसका प्रतिफल यह होगा कि या तो वह सदा सांसारिक रूप में रहेगी या मोक्षावस्था में रहेगी। संसारावस्था में आना या उससे छूटना, ये दोनों ही बातें वहाँ घटित नहीं होतीं, क्योंकि यदि वह संसार में है तो सदा से है तथा सदा रहेगी। यदि वह मोक्ष में है, तो वहाँ भी वैसी ही स्थिति होगी।

आत्मा परिणायी तथा विविध भावापन्न है, यह न्यायसंगत है ऐसा होने से ही उसमें भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ संगत ठहरती हैं। तभी योग-मार्ग की सम्भावना घटित होती है।[११] आत्मशुद्धि की अवस्था योग का लक्षण है योग से आत्मशुद्धि अधिगत होती है। योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकास करती हुयी परम साधु-परम, उत्तम अर्थात् अत्यन्त उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है। तत्त्वतः वही मुक्ति है, क्योंकि आत्मेतर विजातीय तत्त्व-कर्म आदि से उसका वियोग हो जाता है तथा बन्धन से छुटकारा हो जाता है।

आत्मा का कभी भी सर्वथा अभाव नहीं होता है। वह सदा सुस्थिर है, परन्तु एक अवस्था को छोडना एवं दूसरी में जाना ऐसा तो उसके लिये होता ही है ।

कर्म-सम्बन्ध होने की अपनी योग्यता का त्याग कर देने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, जो उत्सुकता, आकांक्षा, चिन्ता आदि से रहित, समुद्र की तरह शान्त एवं सुस्थिर बना रहता है। कर्मबन्ध का क्रम अवरुद्ध हो जाने पर आत्मा, जिसके क्लेश-क्षीण हो गये हों, विघ्न-बाधाओं से रहित शाश्वत आनन्द से युक्त हो वह मोक्ष में संस्थित हो जाती है अर्थात् मुक्तावस्था प्राप्त कर लेती है।

योगबिन्दुकार ने योग के अनेक भेद-प्रभेदों का विवेचन दृष्टियों से किया है, जो उनकी योग विषयक रचनाओं में परिदृश्यमान है, और उनके योगविषयक अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। अशुद्ध स्वर्ण जैसे अग्नि के संयोग से अथवा आग में तपाने से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या द्वारा दूषित या कलुषित आत्मा, योगरूपी अग्नि के संयोग से शुद्ध हो जाती है। आचार्य हरिभद्र ने आत्मा के विकास के प्रसंग में चौदह गुणस्थानों को ध्यान में रखकर योग की आठ दृष्टियों का उल्लेख किया है, हरिभद्र का दृष्टि से तात्पर्य है, जिससे सम्यक् श्रद्धापूर्वक तत्त्वावबोध हो, असत् प्रवृत्तियों का नाश हो तथा सत् प्रवृत्तियों की प्राप्ति हो। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, तथा परा ये आठ दृष्टियाँ परिगणित है।

योगबिन्दु में वर्णित जिन आध्यात्मिक विकास के पच्चयोग सोपानों - अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता तथा वृटितसंक्षय - का प्रतिपादन किया गया हैं, और जिन्हें गुणस्थानों अथवा दृष्टियों का संक्षिप्त रूप बतलाया गया है। उनमें से आठ दृष्टियाँ तो विवेचित कर दी गयी, किन्तु गुणस्थान अवशिष्ट रह गये, जिनके संक्षिप्त नाम इस प्रकार हैं - (१) मिथ्या दृष्टि (२) सास्वादन (३) सम्यक् मिथ्या दृष्टि (४) अविरत सम्यक् दृष्टि (५) देशविरत-विरताविरत (६) प्रमत्त संयत (७) अप्रमत्त संयत (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्य सांपराय (११) उपशान्त मोह (१२) क्षीण मोह (१३) संयोग केव्ली (१४) अयोग केवंली।

आचार्य हरिभद्र ने चारित्रिन् को पल्योपम शब्द के द्वारा स्पष्ट किया है। पूर्वोक्त सदनुष्ठान में प्रवृत्ति साधक के जब दो से नौ पल्योपम तक के मध्य की कोई एक अवधि परिमित कर्म विनिवृत हो जाते हैं, उनसे वह छुट्कारा पा लेता है तब चारित्री होता है। जैन वाङ्मय में पल्योपम का बहुलता से प्रयोग हुआ हैं।

पल्य या पल्ल का अर्थ है - कुँआ अथवा अनाज का बडा कोठा। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल गणना के कारण वह कालावधि ''पल्योपम'' भी कहा जाता है। इसके तीन भेद है-

(१) उद्धार पल्योपम (२) अद्धा पल्योपम (३) क्षेत्रपल्योपम।

(१) उद्धार पल्योपम – कल्पना कीजिये, एक ऐसा अनाज़ का बडा कोठा या कुँआ हो जो एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकडे किये जाये। उनसे दबा-दबा कर कुँए को अच्छी तरह भरा जाये। भराव इतना घना हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उस पर निकल जाये, तो भी उसका एक कण इधर-उधर न हो सके तथा गंगा का प्रवाह बह जाये, तो भी उन पर असर न हो सके। उस भरे हुए कुँए में से एक-एक समय में एक-एक बालखण्ड निकाला जाये, इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुँआ खाली हो, उस काल परिणामी को उद्धार पल्योपम कहा जाता है।

(२) अद्धा पल्योपम – यह भी दो प्रकार का है। अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्ध काल या समय है। उसकी गणना क्रम इस प्रकार है, यौगलिक शिशु के बालों के टुकडों से भरे हुए कुँए में से सौ-सौ वर्ष में एक-एक टुकडा निकाला जाये। इस प्रकार निकालते-निकालते, जितने काल में वह कुँआ बिल्कुल खाली हो जाये, उस कालावदि को अद्धा पल्योपम कहा जाता है।

(३) क्षेत्र पल्योपम – उक्त योगलिक शिशु के बालों के खण्डों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश प्रदेशों में प्रत्येक को प्रतिसमय निकालने कर कल्पना की जाये। इस प्रकार निकालते-निकालते, जब सभी आकाश प्रदेश निकाल लिये जाये, कुँआ बिल्कुल खाली होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र पल्योपम कहा जाता है।

इस तरह योगबिन्दु में वर्णित विषयों का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया।

दर्शन विभाग,
जे. एन्. वी. विश्वविद्यालय
जोधपुर

डॉ डी. आर. भण्डारी
एवं
डॉ. मिथिलेश त्रिपाठी

टिप्पणियाँ

१. **योगबिन्दु,** ६
२. **योगबिन्दु,** ९
३. **योगबिन्दु,** १२,१४,१६,३२
४. **योगबिन्दु,** १००-१०८
५. **योगबिन्दु,** १२६-१३०, १५४-१५५
६. **योगबिन्दु,** १५७

७. योगबिन्दु, १६४-१६९, १७०-१७७, १८९-२०२
८. योगबिन्दु, ४३२-४५५
९. योगबिन्दु, ४५७
१०. योगबिन्दु, ४६०, ४६२
११. योगबिन्दु, ४९०, ४९२

संत सुन्दरदास के काव्य में निहित दार्शनिक तत्त्व की प्रासंगिकता

सन्त काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन सहज रूप में विद्यमान है। कबीर ने स्वयं इसे स्वीकार किया है - ''करत विचार मन ही मन उपजी, न कहीं गया न आया।'' प्रायः यही बात सन्त सुन्दरदास पर भी लागू होती है। वे किसी बात को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक जीवन में उतार नहीं लेते। यही उनकी कथनी करनी का समन्वय है। अतः सन्त सुन्दरदास के दार्शनिक तत्त्व की प्रासंगिकता को जानने से पूर्व उनके काव्य में निहित दर्शन तत्त्व को जानना आवश्यक है।

सुन्दर दास के अनुसार ब्रह्म निर्गुण है, उसका न रूप है न रेखा, वह अलक्ष्य, अखण्ड एवं निरंजन है-

''रूप ने रेख अलेख अखंडित, भिन्न रहे सब कारज सारे।
नाम निरंजन है तिनको पुनि, सुन्दरता प्रभु की बलिहारे॥''[१]

सुन्दरदास जी ने यह स्पष्ट घोषित किया कि ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है जिस प्रकार एक ही शरीर के अनेक अंग होते हैं, एक ही पृथ्वी पर अनेक स्थान होते हैं, एक ही शिला से भाँति-भाँति के चित्र बनाए जाते हैं, एक ही समुद्र में अनेक तरंगे उठती हैं, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक है, अखण्ड है।

सन्त सुन्दरदास ने तत्कालीन कर्म की रूढ़ियों के विरोध में ईश्वर को केवल ब्राह्मणों की बपौती नहीं माना। उन्होंने मानव मात्र में एक ही आत्मा या एक ब्रह्म के वास होने के सिद्धान्तों को अपना कर मानवीय एकता व भ्रातृभावना के सिद्धान्त की पुष्टि की। सन्त सुन्दरदास ने ब्रह्म की महत्ता व सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करते हुए कहा -

''सेस महेस गणेस जहाँ लगी, विष्णु विरंचिहु के सिर स्वामी।
व्यापक ब्रह्मअण्ड अनावृत्त, बाहर भीतर अन्तर जामी।''[२]

इस प्रकार सन्त सुन्दरदास ने प्रतिपादित किया, वह निर्गुण ब्रह्म शेष, गणेश, विष्णु और अन्य देवताओं का स्वामी है। अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में एक ही ब्रह्म का अस्तित्व है। इसके माध्यम से कवि ने एकता व समानता की भावना की स्थापना की एवं सभी जातियों और वर्गों के लोगों में एक ब्रह्म के निवास होने के सिद्धान्त

के आधार पर सभी प्राणियों को एक समान होने पर बल दिया। ''यही ब्रह्म कुलाल रचै बहुभाजन।''[३] वेदों में भी इस अखण्ड ब्रह्म का उल्लेख है। स्थूल दृष्टि से जीव और ब्रह्म में भेद दृष्टि गोचर होता है। जिस प्रकार स्वप्न में किसी पदार्थ की प्रतीति होती है परन्तु जाग्रतावस्था में अदृश हो जाती है, उसी प्रकार जन्म, मरण, भय, संसार, आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् मिथ्याभासित होते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी एवं धार्मिक दृष्टि के व्यवहारवादी सन्त सुन्दरदास ने जीव के विषय में कहा है - जीव नश्वर है, जन्म लेने के समय से ही उसकी आयु घटने लगती है, दिवस व्यतीत होने लगते हैं। क्रीडा में ही उसकी बाल्यावस्था और यौवनावस्था व्यतीत हो जाती है उसके पश्चात् वह वृद्ध हो जाता है। जीव आरम्भ से ही भटकता फिरता है। ''जब ते जनम लेत, तब ही तो आयु घटे।''[४] सुन्दरदास के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही है। उन दोनों के मध्य अन्तर दिखना भ्रमजन्य है। एक भ्रम का कारण बुद्धि है जैसी आकृति दर्पण के सम्मुख आती है, वैसी ही प्रति-कृति दर्पण में दिखती है। इसी कारण बुद्धि की औपचारिकता के कारण एक ही आत्मा विविध रूपों में दिखाई देती है। आत्मा न क्रूर है, न साधु। बुद्धि की क्रूरता या साधुता ही जीव को क्रूर या साधु होने का आभास देती है- ''एक ही आपुनो भाव जहाँ तहाँ बुद्धि के योग वे विभ्रम भासै । जो यह क्रूर तो क्रूर उहाँ पुनि याके खिझै तै उहाँ पुनि बासै। जो यह साधु तो साधु उही पुनि याके हंसे तो उहा पुनि हांसै। जै सोई आयु करें मुख सुन्दर तैसोइ दर्पण मांहि प्रकासै।[५]

जैसे शीशे के महल में कुत्ता अपने ही अनेक प्रतिबिम्ब देखकर उनमें अनेकत्व का बोध करता है और भूँक-भूँक कर मरता है, जिस प्रकार स्फटिकशिला में अपना प्रतिबिम्ब देखकर हाथी प्रतिबिम्ब को दूसरा हाथी समझकर उस पर आक्रमण करता है और इस प्रकार अपने दाँत तोड लेता है, जैसे सिंह अपनी परछाई देखकर कुएँ में कूद जाता है, जैसे चक्कर खाते मनुष्य को सारा संसार घूमता दिखाई देता है ठीक उसी प्रकार अज्ञानवश जीव अपने पारमार्थिक ब्रह्म स्वरूप को भूलकर द्वैत बुद्धि ग्रहण करता है।

जैसे स्वान काँच के सदन मध्य दोषी और, भूँकी भूँकी मरत करत अभिमान जू।
जैसे राज फटिक सिला साँ अरि तोरे दंत, जैसे सिंह कृप माहि उझकी भुलान जू।
जैसे कोई फेरिखात फिरत देखे जगत्, तैसे ही सुन्दर सब तेरो अज्ञान जूं।
आप ही कौ भ्रम सुतौ दूसरों दिखाई देत, आपको विचारे कोउ दूसरों न आन जू।''[६]

सुन्दर विलास सुन्दरदास जी के अनुसार सब्र जीवों में उसी परमात्मा का निवास आत्मा के रूप में है। आत्मा शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। वह बारबार जन्म और मृत्यु प्राप्त नहीं करती। वह इन बन्धनों से परे है। वह किसी भेदभाव के ऊँचे नीचे, मध्यम रूप के शरीरों में व्याप्त है।

तैसे ही सुन्दर ऊँच नीच मध्य एक ब्रह्म।
देह भेद देखि भिन्न भिन्न नाम धरयो है।[७]

सुन्दरदास ब्रह्म और जगत् को भिन्न नहीं मानते। किन्तु मनुष्य इस ज्ञान से वंचित है। जैसे स्वर्ण और आभूषण में कोई भेद नहीं है, बीज और वृक्ष में कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् और जगत् ही ब्रह्म है।

कनक समाइ ज्यूँ ही, होइ रहयौ आभूषण। कनक कहै न कोई, आभूषण कहयौ है।
बीजह समाइ करि, वृच्छ होई रहयौ पुनि। वृच्छेही कं देखियत बीज नहिं लहयौ है।
सुन्दर कहत यह, यूंही करि जान्यौं सब। ब्रह्म ही जगत् होइ, ब्रह्म दूरि रहयौ है।''[८]

सुन्दरदास जी के अनुसार जीव में ही जगत् विद्यमान् है और जगत् में जीव व्याप्त है। इन दोनों में भिन्नता नहीं है। संसार माया का जाल है जिस प्रकार आरोप से रस्सी का साँप या सीप में चाँदी प्रतीत होती है उसी प्रकार वस्तु जगत् प्रतीत होता है। सुन्दरदास का मानना है कि साईं ने पहले ओंकार की उत्पति की। ओंकार से सत्, रज, तम नामक त्रैगुण्य उत्पन्न हुए और फिर पंच महाभूत जन्मे। सारे अस्तित्व इसी क्रम से निर्मित हुए हैं -

उत्पत्ति रे साई तैं कीया प्रथमहिं ओंकार। तिस तै तीन्यौ गुण भए पीछे पंच पसार तिन कारे यह औजूद है सौ तैं महल बनाया।[९]

सुन्दरदास का मत है, संसार में जीव माया के वश होता है। माया बडी चतुर है वह जीव को अपने जाल में उलझाए रहती है-

माया को उपाय जाने, माया की चातुरी ठानै।
माया में मगन अति, माया लपटानो है।[१०]

माया मुख्य रूप में कामिनी है, जिसके हाथ मनुष्य स्वयं को बेच बैठता है 'काम बस कामिनी के हाथ ही बिकानौ है।'[११]

सुन्दर जी कहते हैं जीव को मायामोह में नहीं पडना चाहिए, स्वजनों को देखकर प्रसन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि इनके साथ रहने में कोई लाभ नहीं है। - 'माया मोह माहि जिनि भूलै। लोककटुम्ब दोषि मत फूलै। इनके संग लागि क्या

जरना, समुझिदेषि निश्चै करि भरना।[१२]

सन्त सुन्दरदास जी के दार्शनिक चिन्तन का प्रयोजन यही रहा है कि उन्मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति सन्मार्ग पर चलने लगे। उसका जागतिक और आध्यात्मिक विकास हो सके। उन्होंने अपने समय में मनुष्य को लोक, वेद और कुल की मर्यादाओं से बुरी तरह ग्रस्त पाया। तत्कालीन समाज झूठी बातों को सत्य मानकर उनमें विवश हो उलझ रहा है। धर्म और दर्शन, वर्ण और आश्रम, ऊँच और नीच, ब्राह्मण और शूद्र, वेद और शास्त्र, तप और तीर्थ, व्रत और पूजा, दान और पुण्य, माया और मोह, धन और यौवन - इन्हीं के मद में सारा संसार मानव समाज धुत्त है। विषय तृष्णा से संसिक्त चित्रवाले ये सारे लोग कुरंग, मातंग, पतंग, भृंग और मीन से भी बुरी तरह विषयों के पीछे चौबीस घंटे भाग रहे हैं। सन्त सुन्दरदास ने गुरू, ज्ञान, प्रेम और योग को महत्त्व देकर बाह्याडम्बरों का खण्डन किया है। ब्रह्म-साक्षात्कार हेतु गुरू की आवश्यकता है वही जीव को काल के जाल से मुक्त करा सकता है "गुरू उपदेश सौं तो छूटै जम फंदतें।"[१३] सुन्दरदास जी गोविन्द से गुरू गोविन्द दास को अधिक महत्त्व देते है - "गुरू की महिमा अधिक है गोविन्द तें।"[१४]

मध्यकालीन सामन्ती व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना का बोलबाला था। हिन्दू सामन्ती समाज जाति-वर्ण की अनन्त कृष्टप्रसू वर्जनाओं से अतिक्रान्त और क्लान्त था। मनुष्य के आत्यन्तिक विकास के मार्ग में जाति-वर्ण की व्यवस्था बुरी तरह बाधक थी क्योंकि उनकी व्यावहारिक उपयोगिता को भुलाकर लोग इन्हें ही अन्तिम सत्य मान बैठे थे। और इनके कारण अत्यन्त दुखी थे। जाति-पाँति और ऊँच-नीच की सामाजिक मर्यादाओं से मनुष्य की दृष्टि इतनी संकुचित हो गयी थी कि वह जीवमात्र की एकता में सिद्धांत आस्था रखते हुए भी आदमी में भेद मानता था। सन्त सुन्दरदास का उद्देश्य अन्य निर्गुणियों सन्तों की भाँति प्राणिमात्र में मौलिक एकता या एकात्मा की सैद्धान्तिक विचारधारा के पीछे मध्यकालीन सामन्ती समाज में स्थित कुलभेद और वर्गभेद को हटाकार मानवीय एकता और भ्रातृभावना कौ फैलाना था।

कबीर, दादू दयाल की भाँति सुन्दरदास जी ने अलग-अलग धर्म सम्प्रदायों में बँटे हिन्दु और मुसलमानों तथा उनमें आपसी धार्मिक भेदभावों का विरोध सभी धर्मों में एक ही ब्रह्म के पास होने के सिद्धान्त को लेकर किया। उन्होंने भारत की सामान्य जनता में ईश्वर या अल्लाह के एक ही होने का मूलमन्त्र फूँका और उनमें एकता, समानता और आत्मविश्वास के साथ आपसी प्रेम और सौहार्द उत्पन्न करने

का प्रयत्न किया।

संत सुन्दरदास के काव्य में निहित दार्शनिकता की प्रासंगिकता आधुनिक परिवेश में बनी हुई है। आज मानव भौतिक प्रगति की अंधी दौड में विवेकहीन बनकर निरन्तर क्षणभंगुर वस्तुओं की चाह में भागा जा रहा है। इन सबका अन्त क्या है? संत सुन्दरदास के काव्य का अनुशीलन करने से मानव आज भी अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर सत् पथ का अनुगामी बन सकता है। जीव को संसार में किस प्रकार जीवन यापन करना चाहिए, उसका संसार में आने का मकसद क्या है ? उसे कहाँ जाना है ? संत सुन्दरदास ने बहुत ही सरल व स्वाभाविक ढंग से उद्बोधन शैली द्वारा अपने काव्य में स्पष्ट किया है। संत सुन्दरदास व्यवहारवादी कवि थे । उन्होंने जनसाधारण को व्यावहारिक दृष्टि प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया। उन्होंने कठिन तपस्या करके शरीर को दुःख देने व वैराग्य लेने को व्यर्थ बताते हुए अपने निज रूप को पहचानने की राय दी। उनके अनुसार जीव में ही ब्रह्म है-

कठिन तपस्या धरि, मेघसीत धाम सहै। कंदभूल खाइ कोऊ, कामना के उर तै।
अति ही अज्ञान उर, विविध उपाय करै। निजरूप भूलि के बंधन जाइ पर तैं।[१५]

सन्त सुन्दरदास जी ने व्यावहारिक दृष्टिकोण द्वारा समाज को नवीन दृष्टि और सहज पथ का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। उनका दर्शन व्यावहारिक है जो आज भी मानव का पथ प्रदर्शन कर रहा है। अतः उनके दार्शनिकता सिद्धान्तों की प्रासंगिकता सदैव बनी रहेगी।

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग **डा. स्वामी प्यारी कौडा**
दयालबाग एज्यूकेशनल इन्स्टिट्यूट
(डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा

टिप्पणियाँ

१. सुन्दरदास, सुन्दर विलास, १९१४ ई., पृ. ७९
२. सुन्दरदास, सुन्दर विलास, १९१४ ई., पृ. ८०
३. सुन्दर विलास, पृ. ७९
४. सुन्दर विलास, पृ. २९
५. सुन्दर ग्रन्थावली
६. सुन्दर विलास, पृ. १०२

७. सुन्दर विलास, पृ. ११२
८. सुन्दर विलास, पृ. १२४
९. सुन्दर विलास, पृ.१२८
१०. सुन्दर विलास, पृ. ३१
११. सुन्दर विलास, पृ. ३७
१२. सुन्दर ग्रन्थावली, पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा, संस्करण १९६३ विक्रमी,पृ. ३३३
१३. सुन्दर विलास, पृ. ८
१४. सुन्दर विलास, पृ. ९
१५. सुन्दर विलास

जे. कृष्णमूर्ति के दर्शन में धार्मिक मन की पडताल

यह सत्य है कि २०वीं शताब्दी के भारतीय दार्शनिकों में परम्परा से हटकर मौलिक चिंतन का प्रायः अभाव रहा है किन्तु जे. कृष्णमूर्ति ने जिस प्रकार अपने कर्मक्षेत्र में स्वयं को मसीहा के पद से हटाते हुए एक विशाल संगठन को भंग करने की एक मिसाल कायम की, वैसे ही उन्होंने वैचारिक क्षेत्र में सारी परम्पराओं और प्रतिबद्धताओं को खारिज करते हुये एक मौलिक दर्शन को प्रस्तुत किया है।

जे. कृष्णमूर्ति के धर्म-संबंधित विचार बडे क्रांतिकारी हैं। विशेषकर वर्तमान युग में जब सारी भौतिक सुख-सुविधाओं के बावजूद दुनिया दुख-दर्द से बेतहाशा कराह रही है, कृष्णमूर्ति के विचार मरहम-पट्टी का कार्य कर सकते हैं, किन्तु वे केवल उपरी मरहम-पट्टी नहीं चाहते, वे तो धर्म के कारण नासूर बन चुके हमारे हृदयों के घावों को मानो एक बारगी चीर कर जड से अलग कर देना चाहते हैं। इस हेतु वे बुद्ध के समान धार्मिक परम्पराओं की चीरफाड करने से नहीं सकुचाते हैं। कबीर के समान वे मानव मात्र को मंदिरों-मस्जिदों को दरकिनार कर अपने-अपने अंतर्मन की यात्रा करने का आवाहन करते हैं। विश्वभर में स्वयं को धर्मगुरू के रूप में प्रचारित कर मिथ्याभिमान से तने हम भारतीयों को आज ऐसे विचारों की और भी ज्यादा जरूरत है क्योंकि तथाकथित धार्मिक तत्त्व ही आज हमारे देश के भीतर बारूदी सुरंगे बिछाने में लगे हुये हैं।

जे. कृष्णमूर्ति कुल मिलाकर विश्वभर फैले धर्म के वर्तमान स्वरूप पर चिंता जाहिर करते हैं। वे भी मनुष्य की उन्नति, शांति एवं व्यवस्था में तथाकथित धर्म, धार्मिक स्थल, धार्मिक कर्मकांड, ध्यान-योग, मंत्र-जाप आदि को बाधक बताते हैं, किन्तु फिर भी वे धर्म को पूर्णतः खारिज नहीं करते। यह कहने के बावजूद कि विश्व के सारे धर्म निरर्थक हो चुके हैं, तथा हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई का लेबल पृथ्वी पर मानव सौहार्द के लिये घातक है। कृष्णमूर्ति न तो भौतिकवादी हैं और न हमें अधार्मिक बनने प्रेरित करते हैं, बल्कि वे मानव की मुक्ति, उसका सुख, उसकी शांति, मानव-मानव के बीच सौहार्द एवं प्रेम, तभी संभव मानते हैं, जब हम धार्मिक मन से युक्त हों। इसीलिये वे धर्म के बजाय धार्मिक मन की पडताल को अधिक जरूरी मानते

हैं। वास्तविकता तो यह है कि कृष्णमूर्ति के सारे दर्शन का लक्ष्य धार्मिक मन की विवेचना करना ही है। धार्मिक मन में हृदय के साथ-साथ संपूर्ण संघटित शरीर रचना भी सम्मिलित है। पर कैसा होता है यह धार्मिक मन ? तथाकथित धर्म और धार्मिक मन में अंतर हुये वे कहते हैं, धर्म में विश्वास करने वाले से सर्वथा भिन्न है यह धार्मिक मन ! यदि आप वस्तुतः धार्मिक हैं तो आप एक हिन्दु, एक मुसलमान, एक ईसाई या बौद्ध कदापि नहीं हो सकते। विभिन्न धर्म वस्तुतः उन संस्कारों के नतीजे हैं जो कई हजार वर्षों से हमारे भीतर क्रियाशील हैं। एक हिन्दु या ईसाई के रूप में आपको पिछले कई हजार वर्षों से आस्था और विश्वास रखने के लिये संस्कारित किया गया है। एक हिन्दू या एक मुसलमान के रूप में आप उतने ही संस्कारबद्ध है जितना कोई साम्यवादी या नास्तिक होता है। तब वह कहता है, मैं हिन्दू, मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं यह हूँ मैं वह हूँ।'' कहने का मतलब कि धार्मिक किसी धर्म-विशेष से बँधा नहीं होता, इसके विपरीत वह मुक्त मन होता है- सभी पूर्वनिर्मित अनुग्रहों से मुक्त मन। धार्मिक मन किसी विश्वास से, किसी समूह से, किसी सम्प्रदाय से, किसी धर्मतंत्रीय ढाँचे से, किसी संगठित तमाशे से बँधा नहीं होता। कृष्णमूर्ति किसी भी प्रकार के बंधन का विरोध इसलिये करते हैं क्योंकि इससे निर्भरता का जन्म होता है। ऐसा मन अकेले खडे रहने में असमर्थ होता है और ऐसे मन के पथभ्रष्ट होने का भी भय रहता है । इसके विपरीत जहाँ निर्भरता नहीं होती वहाँ चीजें तत्काल एवं स्पष्ट दिखाई देती हैं। ऐसा मन साफ-साफ जाँच पडताल कर सकता है एवं अवलोकन कर सकता है तथा अवलोकन से सीख सकता है। मन की ऐसी गुणवत्ता में ही परम सौंदर्य निहित है। ऐसा मन अतीत से मुक्त होता है। पर निर्भरता से मुक्त मन असाधारण रूप से साफ और तीक्ष्ण तथा जीवंत इसलिये भी होता है क्योंकि वह भय-रहित हो चुका होता है। धार्मिक मन की भय-हीनता पर कृष्णमूर्ति अत्यन्त जोर देते हैं। धार्मिक मन भय से बोझिल न ही होता। नहीं यह किसी तरह भी सुरक्षा एवं सुख की खोज करता है। ''यदि तुम्हारे मन में किसी तरह का भय है तो मन साफ एवं स्पष्ट तथा तीक्ष्ण नहीं हो सकता। भय मन को अवरुद्ध कर देता है।'' सच्चे धार्मिक मन की अन्य विशेषता है, मन का शांत, निष्पाप, निश्चल, विचारों की लहरों से सर्वथा मुक्त, मौन हो जाना, मन के सारे शोरगुल, उठापटक का समाप्त हो जाना। ऐसा मन समस्त चालाकी दांवपेंच, छल-प्रपंच एवं भ्राँतियों से मुक्त होता है। वस्तुतः ऐसा मन ही एक गहरे शांत जीवन को संभव बनाता है जिसके बिना सारी चीजें निरर्थक हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि हम ऐसे सुंदर, समृद्ध, धार्मिक मन की प्राप्ति

कैसे करें ? हम क्या कुछ करें कि हमारा क्षुद्र मन, जो सुख-दुख, लाभ-हानि, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि की तरंगों में निरंतर दोलायमान रहने से पंकल रहता है, शांत एवं स्वच्छ हो सके ?

सामान्यतया धर्म एवं अनेक अध्यात्मवादी दर्शन इस हेतु देवालयों में जाने तथा भक्ति-पूजन करने, मंत्रजाप, ध्यान-योग आदि कर्मकांड का सहारा लेने की बात करते हैं। कृष्णमूर्ति ध्यान को छोडकर अन्य सभी साधनों को खारिज करते हैं, बल्कि बाधक ही बताते हैं। ध्यान पर भी वे बिल्कुल नये ढंग से प्रकाश डालते हैं। परम्परागत ध्यान-योग तथा ध्यान-योग विधि सिखाने वाले पूर्व और पश्चिम, दोनों ही जगह जहाँ-तहाँ फैले केद्रों की वे तीखी आलोचना करते हैं क्योंकि इनकी शिक्षा से मनुष्य के मन में वास्तव में आमूल क्रांति नहीं होती। सामान्यतया ध्यान में हमें किसी केन्द्र पर, जैसे, किसी मूर्ति पर, अपने मन को केन्द्रित करने कहा जाता है। ऐसी बात नहीं कि इससे मन की उलझनें गायब नहीं हो जातीं। कृष्णमूर्ति स्वीकार करते हैं कि इससे मन कुछ शांत हो जाता है क्योंकि वह (केन्द्र) मन को उलझाये रखता है- उसी तरह जैसे किसी बच्चे को मजेदार खिलौना दे दीजिये तो वह उसमें उलझकर बिल्कुल शांत हो जाता है। अगर आप वह खिलौना हटा लें तो वह पुनः शरारत पर उतर आता है। हम सब इसी तरह किसी न किसी खिलौने में-, पूजा-पाठ, मंत्र-जाप आदि में व्यस्त रहकर कुछ समय के लिये शांति प्राप्त करते हैं। किन्तु यह वास्तविक शांति नहीं है।

हम इस तरह के ध्यान के अभ्यास से स्वभावतः मन को थोडा मृदु एवं नम्र होने के लिये राजी कर सकते हैं लेकिन तब भी यह वही क्षुद्र, निकृष्ट और दीन-हीन मन रहेगा जो वह पहले था। सामान्यतः ध्यान में मन को बलपूर्वक किसी स्थान पर केन्द्रित किया जाता है किन्तु जितना ही हम मन पर जोर-जबरदस्ती करते हैं, उतना ही वह संकीर्ण एवं जडवत् होता है। मन पर किसी तरह का नियंत्रण या दमन संघर्ष पैदा करता है। इसलिये नियंत्रण या बाहरी अनुशासन सही मार्ग नहीं है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम मन को मनमानी करने छोड दें, अनुशासित न करें, क्योंकि जो जीवन गहरे और वास्तविक अर्थों में अनुशासित नहीं है, उसका कोई मूल्य नहीं है। और यह केवल ध्यान से ही संभव है। ध्यान के लिये सीधा-सरल तरीका कृष्णमूर्ति बताते हैं, अपने अंदर उठने वाले एक-एक विचार, एक-एक भाव के प्रति सजग रहना। मन को केन्द्रित करने के बजाय यह भटककर जिन- जिन चीजों की ओर जाता है, जो-जो करता है, उसे केवल आप देखते रहिये, सजग और सचेत

होकर। ध्यान वस्तुतः एक ऐसे मन की माँग करता है, जो आश्चर्यजनक रूप से सतर्क हो, एकाग्र नहीं सतर्क। हमारे मन में निरंतर जो विचार आते हैं ध्यान के दौरान उनका विश्लेषण हमें नहीं करना है। विचार अच्छे हो सकते हैं, बुरे हो सकते हैं, किसी के प्रति प्रेम के हो सकते हैं, घृणा के भी हो सकते हैं। ध्यान में हमें एक साक्षी के समान केवल इन्हें देखंना है - मजा लेते हुये, दैनिक जीवन में हम जो कुछ करते हैं, सारी गतिविधियों का निरीक्षण करते हुये, 'जो है' उसे ध्यान-पूर्वक, प्रज्ञा-पूर्वक देखना। ''मन की जाँच-पडताल करो, इसको बदलने या इसको कोई मार्ग देने की इच्छा के बिना इसे ध्यान से देखो, इसके साथ एकाकी हो जाओ। स्वतंत्रता तभी आती है जब मन एकाकी हो जाता है। बिना किसी संघर्ष के सजग रहो तथा मन को निश्चल रहने दो।''

सभी निपुणताओं में अवलोकन महानतम् हैं। हमारा मन एक किताब समान है। अगर हम यह जानते हैं कि इस किताब को कैसे पढा जाये तो हमारा सारा द्वन्द्व सारा क्लेश समाप्त हो जायेगा। यहाँ एक जिज्ञासा होती है। अपने मन की किताब को पढने से अर्थात् जो कुछ भी मन में घटित हो रहा है, उसका मात्र अवलोकन करने से 'जो है' के साथ जीने से आखिर ऐसा क्या चमत्कार जायेगा कि हमारे हृदय में आमूल क्रांति घटित हो जायेगी और हमारा जीवन व्यवस्थित हो जायेगा, हम एक गहरे शांत धार्मिक मन को प्राप्त कर लेंगे ?

वस्तुतः यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारे मन में उठने वाले विचार जैसे, क्रोध, नफरत, भय, चिंता, पीडा आदि के प्रति हम यदि उसी समय सजग हो जाते हैं जब वे हमारे मन में उठते हैं, तब वे मन में डेरा जमाकर बैठे नहीं जाते। कृष्णमूर्ति के शब्दों में, अपने भीतर की नफरत और नापसंदगी को यदि आप साफ-साफ देखते हैं, पूरी गहराई में जाकर इनकी छानबीन करते हैं, तो यह तिरोहित हो जाती है। जाहिर हैं कि इससे मन हल्का रहेगा, मुक्त रहेगा। कृष्णमूर्ति तो यहाँ तक कहते है कि इस विधि से हम दिन भर ही नहीं, रात में, निद्रावस्था में भी शांत रह सकते हैं। निद्रावस्था में हमें अशांत करने वाले हमारे स्वप्न होते हैं जो दिन भर हमारे मानस हलचल मचाने वाले विचारों का ही प्रतीकों के माध्यम से प्रगट रूप होते हैं। अब जब दिन में हमारा मन मुक्त रहेगा तो रात में भी हम शांत रह सकेंगे और प्रगाढ निद्रा की प्राप्ति कर सकेंगे। वस्तुतः पूरे दिन मन् में जो कुछ घटित हो रहा है, उसके प्रति चौकसी रखने से मस्तिष्क अव्यवस्था में निद्रामग्न नहीं होता।

कृष्णमूर्ति कहते हैं, जब हम अपने मन में जो कुछ घटित हो रहा है उसके

प्रति सजग एवं सतर्क होते हैं, तो हमारा मन हमें धोखा नहीं दे सकता, तब वहाँ धोखा खाने वाला भी कोई नहीं होता। तब मन किसी चीज का मालिक नहीं होना चाहता। तब वह हावी होने की कोशिश नहीं करता। ऐसा मन असाधारण रूप से शांत, संवदेनशील, मौन, कोमल और एकाकी हो जाता है। ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार का धोखा, छ्लकपट संभव नहीं है। ऐसा धार्मिक मन एक वरदान है। वह पृथ्वी के समान है, असीम संभावनाओं से युक्त। यह एक प्यारी चीज है अनंत संभावनाओं का सामर्थ्य रखने वाली। कृष्णमूर्ति के धार्मिक मन का यह प्रत्यय निश्चय ही भारतीय प्राचीन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित जीवनमुक्त मन ही है किन्तु यह अकेला मुक्त होकर किसी अन्य लोक का वासी नहीं हो जाता न ही वह संसार को तुच्छ, निकृष्ट और मायामय कहते हुये स्वयं को उससे पृथक् कर लेता है। वह इसी लोक में रहता है तथा संसार के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सतर्क रहते हुये निभाते रहता है। निश्चय ही यह मनुष्य का अत्यन्त ही उत्कृष्ट एक अमूल्य चित्र है। ऐसे जीने को ही कृष्णमूर्ति आकाश में गरुड की तरह जीना कहते हैं।

प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-दर्शनशास्त्र, **डॉ शोभा निगम**
शाल. छ्त्तीसगढ महाविद्यालय,
रायपुर (छ्त्तीसगढ)

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति - ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे

अनु. प्रा. राजमल बोरा

सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है। इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

गांधी और अम्बेडकर : आत्मशुद्धि बनाम आत्मसम्मान

गांधी और अम्बेडकर दो महामानव ही नहीं, दो विचारधाराओं के प्रतिनिधि भी हैं, जिन्होंने भारतीय-चिन्तन को अपना महत्त्वपूर्ण अवदान दिया है। वे स्वतंत्रता पूर्व व उसके पश्चात् के दलित विमर्श के केन्द्र में हैं। यद्यपि समाज-चिन्तन की दृष्टि से दोनों दो छोर हैं किन्तु दोनों के बीच का विवाद महज अकादमीय नहीं है। इसमें कई बुनियादी सवाल हैं जो भारतीय समाज की संरचना को गहरे में छूते हैं और जिनका सरोकार सिर्फ अतीत से नहीं अपितु भविष्य से भी है। पूँछा जा सकता है कि दोनों की सोंच एक दूसरे की विरोधी थी या पूरक ? हमारी विरासत क्या होगी ? आज के दलित प्रश्न का उत्तर किसके पास है ? ऐसा क्यों है कि अछूतोद्धार आन्दोलन और हरिजन सेवक संघ के बावजूद आज दलित गांधीबाबा के स्थान पर बाबासाहेब के नाम पर गोलबन्द होते हैं ? क्या दलितों का अम्बेडकर को पूजना गांधी तथा गांधीवादियों की विफलता है ? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये यह जरूरी है कि हम दोनों के बीच ऐतिहासिक-वैचारिक मतभेद पर आज के सन्दर्भ में पुनर्विचार करें। प्रस्तुत लेख इसी दिशा में एक छोटा-सा प्रयत्न है।

-१-

पहले हमें कुछ बेबुनियाद मान्यताओं से छुटकारा पा लेना चाहिये। गांधी को सनातनी हिन्दु बताकर ब्राह्मणवादी घोषित करना वैसी ही भूल है जैसी कि अम्बेडकर को राष्ट्रीय नेता के स्थान पर सिर्फ दलित नेता के रूप में आँकना। गांधी मनुस्मृति, वेद, उपनिषदों को ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे और यदि अम्बेडकर की छवि मात्र दलित नेता की होती तो संविधान सभा की अध्यक्षता के लिये गांधी उनका नाम कभी न सुझाते और न वे संविधान निर्माता कहलाते।

गांधी और अम्बेडकर के बीच पहला अन्तर तो दृष्टिकोणों का है। जहाँ गांधी का प्राथमिक उद्देश्य अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध संघर्ष था, जिसके लिये वे विभिन्न भारतीय समुदायों के बीच एकता कायम करना चाहते थे, वहीं अम्बेडकर के लिये भारतीय समाज की अमानवीयता विदेशी शासन से भी ज्यादा भद्दी थी जिसका खात्मा

ब्रिटिश राज के खात्मे से ज्यादा महत्त्वपूर्ण था। इसीलिये जहाँ गांधी ने सवर्णों-अवर्णों के बीच खाई को पाटने का कार्य किया, वहीं अम्बेडकर सवर्णो-अवर्णों को स्थाई शत्रु मानते थे।

वर्णव्यवस्था को लेकर दोनों में मौलिक मतभेद था। जीवन के आखिरी वर्षों को छोडकर गांधी आजीवन वर्णव्यवस्था का समर्थन करते रहे। उनके अनुसार वर्णश्रम धर्म और अस्पृश्यता में कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये हिन्दु धर्म की अपनी उदारवादी परिकल्पना के भीतर ही समाज परिवर्तन के लिये उन्होंने अस्पृश्यों के लिये सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों का संघर्ष छेडने के स्थान पर, सवर्णों में पापबोध जगाने, आत्मशुद्धि द्वारा हृदय परिवर्तन पर जोर दिया। वे अछूतों के हिन्दू समाज से अलग होने की बात से सहमत नहीं थे और इसीलिये उन्होंने मुसलमानों और सिखों को तो अल्पसंख्यक होने के नाते विशेष अधिकार देना स्वीकार कर लिया किन्तु हरिजनों के लिये पृथक् निर्वाचन मंडल बनाने के विरोध में आमरण अनशन पर बैठ गये। इसके विपरीत अम्बेडकर हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के प्रबल विरोधी थे और जाँति-पाँति तोडने को सर्वोच्च वरीयता देते थे। इस लक्ष्य को पूरा करने में उन्हें अंग्रेज सरकार से भी सहयोग लेने में कोई हिचक नहीं थी। उनका आरोप ही यही था कि गांधीवादियों, उदार हिन्दुओं और मार्क्सवादियों ने जातीय अन्याय को कभी गम्भीरता से नहीं लिया। इसी कारण उन्हें अनुसूचित जातियों के लिये बाहरी विकल्प के रूप में बौद्ध धर्म का चुनाव करना पडा। गांधी जहाँ जाति आधारित वंशानुगत पेशे को खत्म करने के बजाय उसकी गरिमा बढाना चाहते थे, उन्हें जाति और पेशे के बीच परम्परागत सम्बन्धों का गठजोड पूरी तरह अटूट नजर आता था वहीं अम्बेडकर इस गठजोड को पूरी तरह तोड देना चाहते थे।

दलित समस्या के हल के लिये राज्य के इस्तेमाल को लेकर दोनों के चिन्तन म महत्त्वपूर्ण फर्क था। अम्बेडकर के चिन्तन में विज्ञाननिष्ठा, आधुनिक पश्चिमी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक अवधारणाओं की गहरी छाप थी। वे दलितों की समस्या का समाधान डेमोक्रेसी के दायरे में राज्य के प्रयोग में करना चाहते थे जबकि गांधी इन समस्याओं का हल राज्य की मदद के बगैर करना चाहते थे।

गांधी आधुनिकता के खिलाफ थे जबकि अम्बेडकर उसके पक्षधर। विकास का जो माडल गांधी ने सुझाया उसमें गांवों को एक स्वतंत्र, स्वायत्त ईकाई के रूप में भारतीय राज्य को आधारस्तंभ माना गया था जबकि अम्बेडकर लोकतांत्रिक,

आधुनिक राज्य की अवधारणा में विश्वास रखते थे और नागरिक समानता के आधार पर आधुनिक जनतंत्र के पैरोकर थे। इस मामले में वे नेहरू के ज्यादा करीब थे। उन्हें डर था कि यदि भारत में ग्रामों की स्थापित व्यवस्था को बरकरार रखा गया तो दलितों को अपमान, अन्याय और अमानुषिक व्यवहार से कभी मुक्ति न मिल सकेगी। दोनों की तुलना करते हुये यह ठीक ही कहा गया है कि ''गांधी के लेखन में जो स्थान सत्य एवं अहिंसा का है, अम्बेडकर के प्रतिपादन में वही स्थान स्वातंत्र्य, समता और बंधुभाव की त्रिपुटी का है।'' (गंगाधर बालकृष्ण सरदार; गांधी और अम्बेडकर; सुगावा प्रकाशन, पुणे, पृ. १०)

दलित-मुक्ति के उपायों और नेतृत्व के सम्बन्ध में दोनों में गहरा मतभेद था। गांधी के लिये दलित-मुक्ति एक नैतिक-सुधार-आन्दोलन था जबकि अम्बेडकर इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। वे प्रतीकात्मकता के स्थान पर स्थायी संस्थागत आधार तैयार करना चाहते थे। इसलिए उनका जोर शिक्षा, नौकरियों और राजनैतिक अधिकारों पर था। इसी तरह अम्बेडकर चाहते थे कि अनुसूचित जातियों में निर्भीक नेतृत्व उभरे जो जानकार, ईमानदार और स्वाभिमानी हो, न कि खुशामदी और भ्रष्ट, जैसा कि उनके विचार से काँग्रेस आन्दोलन में पैदा हो रहा था। निःसन्देह उनकी राजनैतिक और सांस्कृतिक नीति गांधी की विचारधारा से अलग थी। गांधी द्वारा हिन्दू प्रतीकों के इस्तेमाल के स्थान पर वैकल्पिक सांस्कृतिक मूल्यों को न सिर्फ एक दलित व्यक्ति के लिए बल्कि समूचे दलित आन्दोलन के लिए परिभाषित करने के बारे में चिंतित थे।

थोडी गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी के लिए अस्पृश्यता की समस्या 'स्व' की समस्या है, समूचे हिन्दु'स्व' की। उनके विचार से अस्पृश्य व्यापक 'स्व' का ही हिस्सा था। इसलिए आत्मशुद्धि अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए एक पवित्र रस्म की तरह है। उन्होंने 'हरिजन' (१५ अप्रैल, १९३३) में लिखा- ''अस्पृश्यता निवारण का आन्दोलन आत्म शुद्धि का आन्दोलन है।'' उनके लिए यह मूलतः धार्मिक सवाल था और वह भी हिन्दू धर्म का आन्तरिक मामला। वहीं अम्बेडकर इस समस्या के पीछे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सत्ता की संरचना देखते थे और दलितों के लिए एक स्वतंत्र राजनैतिक पहचान बनाने पर जोर देते थे। उनके लिये यह धार्मिक नहीं, नागरिक अधिकार का मामला था। सवर्णो की आत्मशुद्धि नहीं, अवर्णों के आत्मसम्मान का प्रश्न था।

-२-

अम्बेडकर द्वारा गांधी की तीखी आलोचना, उनके बीच वाद-विवाद-संवाद का परिणाम यह भी हुआ कि तीस के दशक के मध्य तक दोनों एक दूसरे से काफी प्रभावित हो चुके थे। गांधी की आलोचना करने से पूर्व यह ध्यान में रखना जरूरी है कि वे बराबर अपने विचारों को अपडेट करते रहते थे और पूर्व विचारों को खारिज कर देते थे।

यह सही है कि गांधी के लिए दलितों का सवाल एक नम्बर का सवाल नहीं था। औपनिवेशिक दासता में मुक्ति के लिए वे दलित प्रश्न के सुलझने का इन्तजार कर सकते थे। अम्बेडकर को यह बात अखरना स्वाभाविक था क्योंकि उनके लिए दलित प्रश्न ही सर्वप्रमुख था। किन्तु क्या दलित प्रश्न को देश का नम्बर एक प्रश्न न बनाकर गांधी ने कोई गलती की ? शायद नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व में उस समय उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष ही मुख्य मुद्दा था। यदि वे केवल दलित प्रश्न तक अपने को सीमित रखते तो आज उन्हें शताब्दी पुरुष कोई नहीं कहता। इसका मतलब यह नहीं है कि गांधी ने दलित प्रश्न की उपेक्षा की। जो भी सम्भव था उन्होंने किया, स्वयं भंगी का भी कार्य किया। किन्तु उनके लिए दलित प्रश्न व्यापक सामाजिक पुनर्निमाण का एक अंश मात्र था, अम्बेडकर की तरह एकांगिक प्रतिबद्धता का लक्ष्य नहीं। अम्बेडकर ने तो स्वतंत्रता-संघर्ष में विशेष हिस्सा नहीं लिया किन्तु गांधी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि अस्पृश्यता उनकी केन्द्रीय चिन्ताओं में से एक थी। हमें यह भी मानना होगा कि अस्पृश्यता को भारतीय राजनीति का अहम सवाल बापू ने ही बनाया, इतिहास इसका साक्षी है। गांधी दलितों के साथ-साथ सवर्णो, नारियों, सिखों, मुसलमानों आदि की मुक्ति चाहते थे। यह कोई एक दिन का कार्य नहीं है। एक नयी सभ्यता निर्माण का कार्य रातोरात सम्भव नहीं है।

अपनी राष्ट्रवादी संघर्ष की प्राथमिकता के साथ अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष की महत्ता कम न होने देने के बावजूद, अस्पृश्यता के प्रति गांधी का दृष्टिकोण मूलतः धार्मिक और आध्यात्मिक था जिसका निवारण 'आत्म' के आध्यात्मिक रूपान्तरण में निहित था। तीस के दशक तक, अम्बेडकर से भिडंत के पूर्व यही स्थिति थी। किन्तु दलितों की समस्या मात्र छुआछूत की समस्या नहीं है। अम्बेडकर की यह दृढ मान्यता थी कि जब तक जाति व्यवस्था का सफाया नहीं हो जाता, छुआछूत को मिटाया नहीं जा सकता। अम्बेडकर से वैचारिक संघर्ष के बाद जाति के प्रश्न

पर गांधी काफी बदल गये। १९३५ में उन्होंने घोषणा की कि जातिप्रथा को समाप्त होना ही होगा और अन्तर्जातीय विवाहों और भोजों को मान्यता दे दी। किन्तु वर्णव्यवस्था के विषय में चुप्पी साध गये। अपने इसी ढुलमुलपन के कारण गांधी, जिन्होंने ब्रिटिश शासन को शैतानी शासन कहा तथा अस्पृश्यता के लिए भी ऐसी ही जुबान का प्रयोग किया, हिन्दू जातिव्यवस्था के लिए उसी तरह की भाषा के इस्तेमाल से चूक गये। दरअसल भारत में जातिव्यवस्था सिर्फ सांस्कृतिक मूल्यों का एक ढाँचा नहीं है। यह जाति अनुक्रम के समानान्तर सत्ता और पूँजी के असमान वितरण की संरचना का भी मामला है। जातिव्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की आध्यात्मिक सुन्दरता के प्रशंसकों को भौतिकवादी माँगों की विरूपता भी स्वीकार करना चाहिए। गांधी ने इस विद्रोह की आध्यात्मिक सुन्दरता पर तो गहराई से प्रतिक्रिया जताई लेकिन जैसे ही उसके सांसारिक और लौकिक स्वरूप से उनका सामना हुआ, वे गहरी उलझन के शिकार हो गये। जातिव्यवस्था के अन्यायों पर ऐसी खंडित प्रतिक्रिया आज भी दलित आन्दोलन के उदारतावादी समर्थकों को प्रभावित करती रहती है। जातिव्यवस्था के सकारात्मक पहलुओं की ओर ध्यान दिलाते हुए अक्सर यह दलील दी जाती है कि जातियाँ अपने सदस्यों को एक पहचान की अनुभूति तो देती ही हैं। भूमण्डलीकरण से जिस एकरूपता की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला है, निःसन्देह उस संदर्भ में जातिव्यवस्था की यह सकारात्मक भूमिका उभरती है। लेकिन दलितों के दृष्टिकोण से यह तस्वीर बिल्कुल उलटी है। उन्हें यह पहचान देने और सुरक्षा प्रदान करने के स्थान पर लगातार उन पर तिरस्कार और अपमान थोपती रहती है। पहचान का मामला तो उनके लिए ऐसा कलंक है जिसे आसानी से मिटाया नहीं जा सकता। इस पृष्ठभूमि से देखने पर जातिव्यवस्था के बचाव या उसे सकारात्मक दिखाने का प्रयास दलित आन्दोलन की दृष्टि से संदिग्ध हो जाता है। गांधी शायद आधुनिक सभ्यता की अमानवीय प्रवृत्तियों के प्रति अपनी नापसंदगी के कारण जाति आधारित समाज की वैसी ही खतरनाक संरचनाओं के प्रति कुछ नरम पड गये थे। तभी तो उन्हें जातिव्यवस्था के 'संघटक नियमों' में कोई कमी नहीं दिखती थी। उनके अनुसार गडबडी उन्हें लागू करने में थी जिसे एक शक्तिशाली आन्दोलन सुधार सकता है, जिससे उसकी तेजस्विता लौटाई जा सके। किन्तु जातिव्यवस्था के 'संघटक नियम' और उनके अमल में अंतर को किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत ठहराया नहीं जा सकता। दलित-मुक्ति के लिए तो उनका प्रतिस्थापन और भी आवश्यक जान कर अम्बेडकर ने संघटक नियमों की गांधी की

परिभाषा ठुकरा दी किन्तु दलित संघर्ष बापू के बताये सत्याग्रह के नियम के अनुसार ही चलाया।

अस्पृश्यता निवारण के गांधी के माडल में कई मूलभूत दिक्कते थीं। आत्मशुद्धि को एक पवित्र रस्म के रूप में देखे जाने के कारण सवर्ण हिन्दू के 'स्व' पर एक बडी नैतिक जिम्मेदारी आ गयी थी। इस कारण अक्सर एक नैतिक प्रभामंडल बन जाता था जो हरिजनों को अभिभूत कर देता था। अपराध बोध से ग्रस्त हिन्दू 'स्व' को प्रायश्चित के लिए अछूतों की आवश्यकता थी। सवर्ण हिन्दू सुधारक के इस नायकत्व ने हरिजन के व्यक्तित्व को और बौना कर दिया। हिन्दू सुधारक और हरिजनों का रिश्ता अभिभावक-संरक्षक का होकर रह गया। हरिजनों में गांधी के इस अभियान से एक कृतज्ञ नेतृत्व जरूर उभरा लेकिन वह बेहद नरम, दब्बू और खुशामदी था, संघर्ष हेतु आत्मसम्मान उनके पास नहीं था। ऐसा नेतृत्व सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना को वास्तविक चुनौती नहीं दे सकता था। अम्बेडकर द्वारा की यह आलोचना उचित ही जान पडती है कि इस माडल ने हरिजनों को आत्मशुद्धि की एक रस्म के तहत वस्तुओं के रूप में बदल दिया था। इतिहास के रंगमंच पर ऐसी पटकथा वाले नाटक में अछूत लोग कभी अपने ढंग से नायक नहीं बन सकते थे। वे नायक के क्रोध, निराशा और महिमा को प्रतिबिंबित करने वाले आइने भर रहने के लिए अभिशप्त थे।

अपने हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त के बारे में गांधी ने स्वयं स्वीकारते हुए लिखा था कि हरिजनों का मंदिर प्रवेश उतने मायने नहीं रखता था जितना संकीर्णतावादियों को इस विश्वास की ओर प्रवृत्त करना कि हरिजनों को मंदिर में जाने से रोकना गलत है। किन्तु रेडिकल आलोचकों की इस टिप्पणी में सत्य के अंश के इन्कार नहीं किया जा सकता कि गांधी ने अछूतों के संसर्ग को पाप नहीं पुण्य और छुआछूत के पाप का प्रायश्चित माना किन्तु छुआछूत की सामाजिक, आर्थिक जडों की शिखाना करने से इनकार कर दिया। यह एक ऐतिहासिक सच है कि अधिसंख्य दलितों के लिए हिन्दुओं में हृदय परिवर्तन की सम्भावना कारगर साबित नहीं हुयी। अगर हृदय परिवर्तन ही भेदभाव खत्म करने का सशक्त हथियार होता तो कानून, न्यायालय और दंड संहिता की जरूरत ही क्यूं पडती ? हजारों सालों की मानसिकता को केवल धार्मिक-नैतिक उपदेशों से नहीं बदला जा सकता। केवल कानून भी इसका अंत नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यक है कि जिसके पक्ष में कानून बने हैं वह स्वयं सजग होकर उन्हें लागू करवाने का प्रयास करे। इस

दृष्टि से अम्बेडकर द्वारा दलितों को सशक्त और संघर्षशील बनाने का प्रयत्न उचित ही जान पडता है।

तो क्या गांधी-अम्बेडकर के इस वैचारिक संघर्ष में जीत अम्बेडकर की हुयी? ''इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि गांधीजी और अम्बेडकर ने एक दूसरे को रूपांतरित कर दिया था। गांधीजी ने हरिजनों के उत्थान की परिभाषा और उसके दायरे का विस्तार किया था। अब वह सिर्फ अस्पृश्यता का सवाल नहीं रह गया था। गांधीजी ने अम्बेडकर से आर्थिक स्थिति पर बल देने का मुद्दा लिया जबकि अम्बेडकर ने इस आन्दोलन में धर्म की महत्ता को अंगीकार किया। गांधीजी ने आर्थिक उत्थान की प्राथमिकता की स्वीकारा और उसे ग्रामीण भारत के कायाकल्प का सवाल बना दिया। (डी. आर. नागराज, 'द फ्लेमिंग फीट : ए स्टडी आफ दलित मूवमेंट)

गांधी और अम्बेडकर के वैचारिक संघर्ष के उपरोक्त विवेचन से हम उनके ऐतिहासिक अवदानों के बारे में कुछ नतीजे निकाल सकते हैं। दोनों अलग-अलग जाति-वर्गों को सम्बोधित कर रहे थे। जहाँ गांधी ने सवर्णों की पथराई हुयी अन्तरात्मा को झकझोरने का काम किया वहीं अम्बेडकर ने दलितों को जगाने का। सवर्णों में प्रायश्चित भाव व न्याय बुद्धि जगाने का गांधी का यह प्रयत्न देश में दलितों की कमजोर आर्थिक-सामाजिक-मानसिक स्थिति देखते हुए सही था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में दलितों के किसी आन्दोलन की सफलता के लिये खुले दिमाग वाले सवर्णों का सक्रिय सहयोग आवश्यक था। गांधी ने इसके लिये जमीन तैयार की जिसने दलित आन्दोलन को प्रारम्भिक दिशा दी। अम्बेडकर की देन यह कि वे दलितों को एक स्वतंत्र राजनैतिक शक्ति में तब्दील कर सके। उनके अन्य अवदान हैं- आरक्षण, अस्पृश्यता उन्मूलन कानून, हिन्दू धर्म में सुधार के प्रयत्न और भारतीय संविधान की रचना में योगदान। आरक्षण अम्बेडकर की स्वतंत्र अवधारणा नहीं है। उनका योगदान यह है कि उन्होंने इसे दलित उत्थान का एक कारगर हथियार बना डाला। आरक्षण के फलस्वरूप एक ग्रामीण भूदास का एक नौकरशाह में रूपान्तरण निश्चय ही एक भूकंपकारी परिघटना है जिससे भारतीय समाज में दूरगामी परिणाम हो रहे हैं। लेकिन अम्बेडकर का उद्देश्य तो जातिव्यवस्था का विनाश था। परवर्ती इतिहास ने यह साबित कर दिया कि जातियों की आधारभूत पहचान आज अस्पृश्यता भले न रही हो, किन्तु उसने नई पहचाने बना ली और आज भी भारतीय राजनीति पर जातिगत विग्रहों का भारी असर है। दरअसल उनका दर्शन एकांगी है और उसमें सामाजिक क्रान्ति के संबंध में स्पष्ट 'विजन' का अभाव है। इसीलिए उनके अनुयायी

जातिगत वैमनस्य से आगे जाकर सम्पूर्ण समाज के लिये कोई सकारात्मक भूमिका निभा पाने में असमर्थ रहे हैं। आरक्षण के लाभ दलितों के एलीट वर्ग द्वारा हथिया लिये जाने से दलित मुक्ति की उनकी रणनीति पर भी प्रश्न चिन्ह लग गया है।

दलित समस्या का पूरा समाधान तब तक सम्भव नहीं है जब तक गैर-दलित समाज का क्रान्तिकारी रूपान्तरण न हो। गांधी की उपयोगिता दलित समाज के लिये जितनी है (उसका काम सिर्फ गांधी से नहीं चल सकता) उसमें कहीं ज्यादा सवर्ण समाज के लिये है। गांधी के बताये आत्मशुद्धि के मार्ग पर चले बगैर उनके लिए सम्मान की कामना व्यर्थ है, तो दलितों को भी आत्मसम्मान को जातिगत अभिमान में बदलने से रोकना होगा। इस दृष्टि से दोनों महान् विचारक अपने तमाम मतभेदों के बावजूद पूरक भूमिका निभा सकते हैं किन्तु वर्तमान की सभी समस्याओं का हल उनमें खोजना बेमानी होगा।

५३, अशराफ टोला, **डॉ आलोक टण्डन**
हरदोई (उ. प्र.)

सांस्कृतिक उन्नयन में संगीत की भूमिका : भारतीय जीवन के विशेष सन्दर्भ में एक अध्ययन

हमारी मान्यता है कि दर्शन और संगीत गहरे रूप से अन्तः सम्बन्धित हैं। भारतीय संगीत मानव-जीवन एवं मूल्यों की स्थापना में अपनी अभिव्यक्ति से जुडता है और जैसे ही हम जीवन की चर्चा करने लगते हैं वैसे ही हम दर्शन की बात करते हैं। सभी तरह की सांगीतिक रचनाएँ मानव निर्मित हैं। सांगीतिक इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इसकी सभी विधाओं में, चाहे वह शास्त्रीय हो या लोक संगीत, पूर्वी हो या पश्चिम, दोनों के संकल्पनागत एवं श्रवणीय तत्त्वों में जितना योगदान संगीतज्ञों का है, उतना ही दार्शनिकों का भी है।

दार्शनिक चिंतन सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक होता है लेकिन चिंतक अपने देश और समय के परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। प्राचीन, अर्वाचीन तथा अधुनातन भारतीय वैचारिक ने न तो अनास्था पाली है और न ही पीढी दर पीढी किसी रुढि का अनुसरण किया है। भारतभूमि के चिंतन में एक तरफ परम्परा के प्रति श्रद्धा है तो प्रगतिशील विचारधारा तथा विचार स्वातंत्र्य[1] भी मौजूद है।

ज्ञान की उपलब्धि जिज्ञासा से होती है और दर्शन जिज्ञासा की अपेक्षा करता है। ऋग्वैदिक द्रष्टा इस अर्थ में दार्शनिक नहीं कहे जाते हैं, उपनिषदों की जिज्ञासा विश्व का मूल तत्त्व है। उपनिषदों की परमतत्त्व संबंधी जिज्ञासा का पर्यवसान आत्मजिज्ञासा में हुआ है। सूत्रकाल में सांख्य प्रकृति और भोक्ता पुरुष के विवेक को ही तत्त्वज्ञान ठहराते हैं। वैशेषिक दोनों के विशेष पर बल देते हैं। यहाँ तक बल देते हैं कि विशेषज्ञान ही तत्त्वज्ञान बन जाता है। योग दोनों का सहभाव पुरुषोत्तम में देखते हैं। अतः इनके लिए पुरुषोत्तम ज्ञान ही ज्ञान-विज्ञान है। इसके ज्ञान की विवेचना न्याय प्रमाण-विज्ञान में और मीमांसा कर्म-विज्ञान में करते हैं। वेदान्त आद्योपान्त आत्मज्ञान को सच्चा तत्त्वज्ञान कहते हैं, नव्य-न्याय इसी तत्त्वज्ञान को भाषा की तरफ मोड देते हैं।

जहाँ तक नास्तिक परम्परा की बात है तो बौद्ध-परम्परा प्रतीत्यसमुत्पाद को वह तत्त्व बताते हैं जिसे जानने से सभी तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। समन्वय

दृष्टि वाले जैनों का विश्वास है कि सर्वत्व विज्ञान होने पर ही एकत्व-विज्ञान संभव है। इन्होंने अनेकान्तवाद में तत्त्वज्ञान के विविध स्वरूपों को समाविष्ट किया है।

हमारी समझ से दर्शन समाज, सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य निधि है जिसे जानकर हम किसी देश की सभ्यता और संस्कृति को समझ पाते हैं। क्या है संस्कृति ? मोटे तौर पर मानव द्वारा सीखे हुए समस्त व्यवहार जो हमें सामाजिक परम्परा से प्राप्त होते हैं। उन गुणों का समुच्चय व्यक्तित्व को परिष्कृत और समृद्ध बनाता हैं। किसी देश की संस्कृति से वहाँ के जन-जीवन और जन-व्यक्तित्व के उन रूपों को हम समझ सकते हैं जिन्हें उस देश विशेष के मूल्य का प्रतिफलक हम समझें। प्रोफेसर राधाकृष्णन् ने कहा है, भारतीय संस्कृति में सदा के लिए और सभी तरह के मानव-व्यक्तित्व के विकास के विस्तृत निर्देश अन्तर्निहित हैं। संस्कृति को परिभाषित करते हुए Prof. E. B. Tylore ने लिखा है, "Culture is that complex whole which includes Knowledge belief, art, morals, laws, customs and other capabilities acquired by man as a member of the society."[2]

लेकिन अधुनातन मूल्यों का प्रतिफलन है संदेह और शंका। हमारी समस्त आस्थाएँ खंडित हैं, समस्त संस्थाएँ खंडनोन्मुख हैं, फिर भी नवीनतम परमाणु आयुधों की विश्वविखंडनी मारक शक्ति हाथों में थामे, खंडित भूत एवं संदिग्ध वर्तमान के सहारे हम भयावह भविष्य को रोकना चाहते हैं। आज के विखंडनवादी[3] द्रष्टाओं ने विखंडनमूलक अराजक्ता में आज की सच्चाई का अभिकथन किया है। इस परिस्थिति में दर्शन का इतिहास ढूँढने के बनिस्पत खंडन-विखंडन के क्रम को रोकने की पहल करना दार्शनिक कर्तव्य हो जाता है। सातत्य और परिवर्तन होते रहे हैं, होते रहेंगे। दार्शनिक मात्र इतना ही कर सकते हैं कि इसकी दशा और दिशा दोनों के को एक परिधि में नियंत्रित, निर्धारित करें। हमें बुद्ध की तरह संजय वेलट्ठी पुत्त का, सुकरात की तरह सोफिस्ट का तथा प्रतिक्रिया एवं नव जागरण की तरह ह्युमीय संशयवाद की चहुँ ओर बज रही दुंदुभी का उत्तर देना है।

वर्तमान भारतीय वैचारिकी के समक्ष सामान्य चुनौती यह भी है कि दर्शन का यथार्थ जगत् से कोई संबंध नहीं है। दर्शन का एक मात्र लक्ष्य विभिन्न वक्तव्यों की तर्कात्मक समानता अथवा एकार्थकता प्रकट करना है। यह सत्य है कि भाषा अभिव्यक्ति का स्थायी माध्यम है जिसमें हमारे भूत के ज्ञान भंडार सुरक्षित होकर संचित होते आये हैं। इस के अतिरिक्त भाषा में एक क्षमता होती है कि विविध

समय में होनेवाले समस्त परिवर्तनों के बावजूद अपना अस्तित्व वह बनाये रखती है, लेकिन हमें यह स्मरण रखना है कि लिखित भाषा की महान् उपलब्धियों के साथ-साथ नई समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं।

जहाँ तक भाषा से दार्शनिकों का तात्पर्य रहा है भारतीय दार्शनिक, अपने साहित्य की रचना में भाषा को अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम अवश्य बनाते हैं, फिर भी यहाँ विश्लेषण[४] उस तरह एकांगी और संकीर्ण नहीं देखा जाता है जैसा कि यह पाश्चात्य दर्शन के संबंध में है। बीती हुई उन्नीसवीं शती के उतरार्ध से बीसवीं शती तक भारत एवं भारत से इतर देश के दर्शनिक भाषा की समस्या, संप्रेषणीयता की समस्या, प्रतीकों एवं चिह्नों के कार्य जैसी चर्चाओं में अधिकाधिक रुचि लेते रहे हैं। इसी रुचि ने Semantics (अर्थविज्ञान) के विकास की ओर संभवतः हमें प्रेरित किया है। भारत भूमि में मीमांसा[५] (ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी से प्रारंभ तथा ईसवी सन की नौवीं शताब्दी तक की विवादास्पद विशाल परम्परा वाला सम्प्रदाय) ने वाक्य की परीक्षा वैज्ञानिक ढंग से की है, लेकिन भारतीय भक्त इस भाषा प्रत्यक्षवाद से संतुष्ट नहीं होते। इस तरह के गहन अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक आज के भाषा प्रत्यक्षवाद की कमी को बहुत पहले समझ चुके थे। साथ ही समझने के पश्चात् भक्ति को ही ज्ञान-विज्ञान मानते रहे। पुनः, यहाँ धार्मिक भक्ति से आगे ईश्वर तक जाते हैं लेकिन एकत्व-विज्ञान को सर्वज्ञान कह कर आत्मसात् भी करते हैं।

यहाँ विज्ञान की थोडी चर्चा समीचीन हो जाती है। विज्ञान और उच्च तक्नीकी ने हमारे दैनिक जीवन को सुविधाजनक बनाया है लेकिन कला और साहित्य हमें व्यक्तिगत भावों से ऊपर उठाकर हमारे आनन्द का कारण बनते हैं। जब हम निर्वैयक्तिकता, तटस्थता और अनासक्तता तक पहुँच कर इन्हें अपनी जीवन-दृष्टि बनाते हैं, अपनी चेतना के उस स्तर तक विस्तार देते हैं तभी हम सुसंस्कृत कहलाते हैं। ये भाव हमें दार्शनिक चिंतन के फलस्वरूप मिलते हैं। अपने चिंतन को उत्कृष्ट रूप देकर सिद्धान्त का कुशल प्रतिपादन करना दार्शनिक की सफलता है लेकिन कलाकार (संगीत, नृत्य, मूर्ति, वास्तु या अन्य कलाओं) की सफलता प्रदर्शित भाव में प्रभावोत्पादकता से लक्षित होती है। नूतन उपलब्धियों एवं विस्तार का अभ्यस्त मानव आज मशीन के समक्ष बौना नजर आता है। साथ ही प्रतिदिन की खोजों के साथ यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि ब्रह्माण्ड वह रहस्य है जिसकी पर्तें मानव द्वारा नित्य खोली जाने पर भी अधिक रहस्यमय होती जाती हैं। हम जैसे दर्शन के

छात्रों की मान्यता यह भी है कि प्राकृतिक वैज्ञानिक स्वयं एक नैतिक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति हैं भले ही धार्मिक आस्था और मान्यताएँ उनकी जैसी हों, निश्चित रूप से वे सुसंस्कृत हैं।

भारतीय संगीत प्रारम्भ से आज तक भारतीय दर्शन के संप्रेषण का माध्यम रहा है और संगीत द्वारा सम्पन्न दार्शनिक उपदेश जनसामान्य को हृदयंगम हुए हैं। अतः सांगीतिक तत्त्वों के विवेचन का कार्य दार्शनिक कर सकते हैं।

भारतभूमि में दर्शन की दो विभिन्न धाराएँ मिलती हैं -

१. वेद समर्थक विचारक निगम का निर्माण करते हैं और यह शाखा सम्प्रदाय कहलाती है।

२. Gnostic[६] एवं रहस्यवादी, बौद्ध, जैन, शाक्त, वैष्णव एवं वैयाकरणों की धर्मनिरपेक्ष परम्पराएँ, दण्डनीति, शिल्पशास्त्र, आयुर्वेद एवं कामशास्त्र ये सभी आगम के निर्मायक अंग हैं और यह शाखा आम्नाय[७] कहलाती है। भारतीय वैचारिकी दर्शन को सभी विद्याओं का आधार मानकर इसे अध्यात्मविद्या कहती है।

शब्द, ध्वनि की अनन्त शक्ति का अन्वेषण एवं शब्द-ब्रह्म की स्थापना भारतीय चिंतन के विकास के उदाहरण हैं। संगीत कला ''परनाद'' अथवा ''शब्दब्रह्म'' को प्रदर्शित करती है। 'ॐ' जो प्रणव है जिसे सभी मंत्रों का हेतु कहा जाता है - शब्द ब्रह्म है जिसके उच्चारण और श्रवण से अपार अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। उपनिषदों में वर्णित उद्गीय का अभिप्राय है- 'ओंकार का गान' उद्गीय का अर्थ कहीं-कहीं गाने योग्य[८] बताया गया है। उद्गीथः उद् + गै + थक् + (१) सामवेद के मंत्रों का गायन (उद्गाता का पद)...=(३) ''ओम'' जो परमात्मा के तीन अक्षरों का नाम है।[९] कहीं-कहीं भारतीय संगीतज्ञ दार्शनिक तथा दार्शनिक संगीतज्ञ संगीत को ईश्वरप्राप्ति का सुगम साधन मानते हैं। संगीतकला मानवी संस्कृति का वह ऊँचा शिखर है जिसमें मानवीय संस्कृति की महानता प्रतिफलित होती है। सांस्कृतिक अभिवृद्धि के लिए लोकचेतना की अभिवृद्धि एक आवश्यक शर्त है। वर्तमान युग मानवीय भाव-मूल्यों के प्रति जागरूकता का है। मानवीय भाव-मूल्यों की प्राप्ति हेतु हमें बुद्धि की विलक्षणता और चमत्कारिता के बदले हृदय की सहजता के आदर्श पर चलना होता है। यह आदर्श इस अभिव्यक्ति कला का मूल्यांकन करने से प्राप्त हो सकता है। भारत के सांगीतिक इतिहास में हम इस भूमि की हर संस्कृति के स्वर देखते हैं। हरेक संस्कृति की अभिव्यक्ति गायन में निहित रही है। यहाँ के सांस्कृतिक उन्नयन में संगीत की भूमिका प्रारंभ से अबतक बरकरार

रही है। इसके साथ हमारी स्पष्ट मान्यता है कि आज भी हमारे संगीत को कई तरह की राष्ट्रीय समस्याओं से निबटकर एक उन्नत समस्वरता की संस्कृति अपनी संतति को सतत देते रहना है। संस्कृति की सहचरी और विशिष्ट संवाहिका-संगीत-विद्या जो शिक्षा की मौखिक परम्परा से प्रारंभ हुई है, आज के विकसित तकनीकी युग में अधिक उपादेय हो गयी है। संगीत और दर्शन का अन्तःसंबंध 'नाद' एवं 'स्वर' की विवेचना से स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए योग में विवेचित नादानुसंधान का निरूपण संगीतशास्त्रों में औपनिषदिक आधार पर किया गया है। जहाँ तक दोनों के आंतरिक संबंध का प्रश्न है तो विस्तृत अध्ययन से हम देख सकते हैं कि भावनात्मक पक्ष को लेकर जितनी समस्याएँ संगीत में हैं वे वेदान्त, योग के सिद्धान्त पर अवस्थित हुई हैं। संगीत की पृष्ठभूमि दार्शनिक है तथा भक्ति की भावभूमि पर आधारित है। इनके अन्तःसंबंधात्मक अध्ययन मानव जीवन को सम्यक् विकास की दिशा दे सकते हैं। वर्तमान समय की सुप्रसिद्ध शास्त्रीय गायन शैली (ख्याल गायन) का प्रायोगिक सिद्धान्तपक्ष दर्शन के निकट है। संगीत की विशिष्टता वहाँ हम स्पष्ट देखते हैं जहाँ यह दर्शन को लयात्मक धरातल देती है। भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विवेचन स्पष्ट करता है कि यह हमारी संस्कृति के सभी अंग, उपांग और आंदोलनों से जुडे रहे हैं। संगीत सृजन और प्रदर्शन में महानतम अनुभूति का विषय बन जाता है। इसी वजह से संगीतकला धर्म के करीब आ जाती है।

डा. देवराज[१०] ने आज के संदर्भ में सांगीतिक स्वरात्मक ईकाईयों को दार्शनिक अनुचिंतन का विषय माना है। पुनः, प्रबुद्ध समसयामयिक भारतीय चिंतक डा. के. सच्चिदानन्द मूर्ति ने भी भारतीय वैचारिकी की विविध दार्शनिक अवधारणाओं में रहस्यवादी संतों के गीतों, स्तोत्रों को सम्मिलत किया है। "Philosophy is the intuitive network of views regarding man, his nature and destiny, Nature and the Ultimate Reality or God, explicit or implicit in the sayings, songs, hymns, talks and writings of mystics, sages and saints.[११]

न्याय-वैशैषिक दर्शन में सात पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। पंडित राजाराम द्विवेदी ने इन 'सप्त पदार्थों' के नृत्य को कलाओं का सार कहा है। चूँकि सप्त पदार्थ नृत्य कलाओं का सार है, इन पदार्थों का ज्ञान इनकी सम्मति में नृत्यकर्मियों के लिए आवश्यक है । वे कहते हैं, 'इन्ही सप्त पदार्थों से सृष्टि को सप्त-पदार्थ-पूर्ण माना जाता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें ये सप्त पदार्थ न हों, सप्त लोकों

की सृष्टि, सप्त सागर भूमि, सप्त स्वरों का गान, सप्त पदार्थो का नृत्य-यही कलाओं का सार है।'

हमारा चिन्तन किसी भी देश-काल में क्यों न हो गद्य, पद्य एवं गान (गायन) इन्हीं तीनों के द्वारा वह निष्पन्न होता है। फिर भी अभिव्यक्ति के इन तीनों माध्यमों में सर्वाधिक प्रभावी गान ही है क्योंकि गान का मानव मन पर विशेष प्रभाव पडता है। साथ ही शिक्षा और गायन विद्या का घनिष्ठ संबंध भी देखा जाता है। संगीत प्रस्तुति में संगीत विद्या के निष्णात कलाकार अपने गायन द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं वे साधारण होने के साथ ही 'प्राणिमात्र-हृदय-संवाद' लिये होते हैं। यही कारण है कि अधिकांश श्रोताओं की रजस्तमों निर्मित राग-द्वेष आदि की ग्रंथियों का विगलन एवं 'रस' का प्रवाह संगीत श्रवण में स्वमेव हो जाता है। संगीत की इसी शक्ति के कारण हरिण जैसे प्राणी में वह भय विलीन हो जाता है, जो भय लौकिक स्थिति में उसे साधारणतः चौकन्ना रखता है। दूसरों को कुछ सुनाकर आनन्दित करने की दृष्टि से राग की सृष्टि करते समय कोई कलाकार जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे वास्तविक भावों के अभिनय ही होते हैं लेकिन प्रतिफलन श्रोता और संगीत के एकात्मता के स्थिति की होती है। हम यही कहेंगे कि सांगीतिक स्वर भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, भावनाओं को व्यक्त करने के सशक्त माध्यम हैं, भावों के आदान-प्रदान में समर्थ हैं, साथ ही ये स्वर एक हृदय का संदेश दूसरे हृदय तक पहुँचाते हैं।

राग का पूरा अर्थ है - भावना। हमारा ज्ञान तभी सार्थक रूप से पूर्ण होता है जब वह अपने उद्गम तक पहुँचे। इसके लिए भाव का योग चाहिए जिसे देने वाली विद्या संगीत है।

राग पूर्वी में दाम्पत्य भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण-माधुरी के प्रति मोहिताभाव, प्रतीक्षाभाव का एक उदाहरण यहाँ लिया जा सकता है। इसका कही-कही कामोद राग में भी प्रयोग मिलता है -

आली री मेरी नैना बान पडी -पडी
नैना बान पडी -पडी
चित चढी मेरी माधुरी मूरत
उर बिच आन अडी
कब की ठाढी पंथ निहारूँ
अपने भवन खडी

आली री मेरी नैना बान पडी -पडी
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ
जीवन मूल जडी
मीरा गिरिधर हाथ बिकानी
लोग कहें बिगडी
आलीरी मेरी.........

प्रतीक्षाभाव का एक अन्य उदाहरण प्रसिद्ध गायिका किशोरी आमोणकर गाती हैं। राग मालव में - हे मेरो मन मोहना आयो नहीं सखी री

कै कहुँ काज किया सन्तन का,
कै कहुँ गैल भुलावना।
कहा करूँ कित जाऊँ मेरी सजनी,
लाग्यो है विरह सतावना।
मीरा दासी दरसण की प्यासी,
हरि चरणाँ चित लावना।

विचारों के ऐसे ही स्थलों पर डा. राधाकृष्णन् के दर्शन पर डी. एम.दत्त का अधिकृत ढंग से किया गया विचार सटीक लगता है, "...Every great work of art, literature or philosophy is touched by the spirit and is rooted in some intuitive apprehension of the spirit."[१२]

सुप्रसिद्ध गायक तथा आधुनिक संगीत शास्त्रकार पं. ओंकारनाथ ठाकुर विशिष्ट राग से विशिष्ट भाव या रसनिष्पत्ति की बात स्वीकार करते हैं। इस सत्य से हम अवगत हैं कि उपनिषद्काल आते-आते भारतीय दर्शन ने सूक्ष्म रूप लिया, जबकि इस समय हमारी संस्कृति प्रौढ रूप धारण कर चुकी होती है। उपनिषदों के साथ ही रस संज्ञा का प्रवेश दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत होता है और सांख्य दर्शन 'रस' को अपनी विचारप्रणाली में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। इन्होंने अपनी पद्धति में पंच महाभूतों की प्रकृति पर विचार करते हुए वस्तु-मात्र के लिए रस संज्ञा का प्रयोग किया है। राग प्रस्तुति अथवा नृत्य प्रस्तुति द्वारा कलाकार उत्साह, विनोद, मादकता, करुणा, चिंता, उत्सुकता एवं अन्य भावों को ऐसा उभार देते हैं जिसकी वजह से प्राणिमात्र में तन्मयता की स्थिति आ जाती है। किसी भी राग में प्रस्तुत की जाने वाली बंदिश के शब्दार्थ एवं भावार्थ क्या हैं, यह उस राग की प्रस्तुति से बहुधा स्पष्ट हो जाता है। जैसे राग भटियार में संत कबीर से इस पद की बानगी हम लें :

कौन मिलावे मोहि जोगिया हो, जोगिया बिन रहयो न जाये मोहि.....
हों हिरणी पिया पार धिहो मारे शबद के बाण मारे शबद के बाण
जाहि लगी सरे जान ही हो और दरद नहीं जान मैं प्यासी हौं पीव की हो,
रटत सदा पिय पिय, रटत सदा पिय पिय पिया मिलै तो जीव हैं, ना तो सहजै त्यागो जीव
पिय कारन पियरी भई हो, लोग कहे तन रोग, लोग कहे तन रोग
चह छह लाँघन मैं किया रे, पिया मिलन को जोग कहत कबीर सुनु जोगिनी हो,
तन में मनहिं मिलाव, तन में मनहिं मिलाव तुम्हरी प्रीति के कारने हो
बहुरि मिलहिंगे आय

इसका भावार्थ वियोग है। संसार में रहकर संसार में विरक्ति। संगीत में केवल रस और भाव की बात ही नहीं होती परन्तु विभिन्न ऋतुओं के विभिन्न राग भी यहाँ निर्धारित हैं। जैसे शिशिर ऋतु में श्री राग एवं इसकी रागिनियों का, बसंत ऋतु में बसंत राग एवं इसके परिवार का। वसंत ऋतु न होने पर भी इस परिवार का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

कगवा बृज देखने को चलोरी फगवे में मिलेंगे कुँवर कान्ह
जहाँ बाट चलत बोले कगवा फगवा..........
आई बहार सकल तन फूले रसीले लाल को ले अगवा फगवा........

ग्रीष्म ऋतु में भैरव एवं भैरव परिवार का, वर्षा ऋतु में मेघ तथा इसकी रागनियों का, मल्हार का विशेषतः गान किया जाता है। इसी परिवार की निम्न रचना विरह भाव जगाती है -

देखो सखी बरसन को आये बदरा रुमझुम बरसो मोरे अँगना
बेजुरी चमक-चमक डर पावे पपीहा पी पी शोर मचावे
चैन न आए पिया घर नाहिं देखो सखी.........

हेमन्त का विशेष राग मालकौंस माना जाता है। इसी तरह शरद ऋतु के साथ भी राग रागिनियों का बर्ताव का निर्देश है। उपर्युक्त विवेचन से हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि भावाभिव्यक्ति के साधनों में नाद का विशिष्ट स्थान है। नाद से भाषा तथा संगीत दोनों की सृष्टि हुई है। नाद-ब्रह्मवाद भारत के द्वैत-अद्वैत दोनों विचारधारा में विवेचित है। 'नाद', 'बिन्दु' जैसे तत्त्वों का भारतीय दर्शनों में वैयाकरणायों ने जैसा विवेचन किया है संगीताचार्यो ने भी वैसा ही अध्ययन किया है। संगीत साधना नादोपासना है। डा. यशदेव शल्य के शब्दों में कहें तो

संगीत में 'नाद-ब्रह्म' पद आत्मानुभूति[१३] के साक्षात्कार का वाचक है।

आत्मनुभूति का साक्षात्कार मानसिक क्षेत्र में उन्नति का सूचक है। इस साक्षात्कार के पश्चात् मानव की प्रत्येक 'सम्यक् कृति' संस्कृति का अंग बन जाती है। इस सम्यक् कृति में धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञान, कलाओं का, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का, प्रथाओं का समावेश हो जाता है।[१४] हम जानते हैं कि संस्कृति मानव की एक ऐसी उपलब्धि है जो भूत, वर्तमान और भविष्य को एक सूत्र में ग्रन्थित करती है। विश्व की समस्त संस्कृतियों में कुछ तत्त्व सार्वभौमिक होते हैं; फिर भी प्रत्येक देश की संस्कृति में कुछ तत्त्वों का प्राधान्य होता है। यह बात भारत के लिए लागू है। सच ही कहा गया है कि किसी देश की संस्कृति उसके निवासियों के चिंतन और क्रिया-कलापों से निर्धारित होती है। साथ ही यह कटु सत्य है कि सांस्कृतिक क्रिया-कलापों तथा अनुभूतियों, आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक चिंतन, कला, सौंदर्योपासना तथा नैतिक व्यवहार के मानदंडों का विश्लेषण तथा व्याख्या दर्शन करता है। भले ही दर्शन की जितनी शाखाएँ निर्मित हो गयी हैं फिर भी, समग्र रूप में इसका लक्ष्य है मानव जीवन से संबंधित चरम मूल्यों के स्वरूप का विश्लेषण करके उनकी स्थापना का प्रयत्न करना। स्वतंत्रता के आधे शतक से अधिक होने पर भी चहुँदिक् फैली मूल्यशून्यता की स्थिति को हम उन शाश्वत मूल्यों, आदर्शों की दुहाई देकर कतई पाट नहीं सकते जिसका आज के मानव जीवन से दूर-दूर का भी संबंध नहीं है। इस स्थल पर संगीत प्रेमी होने के कारण हम महसूस करतें कि भारतीय संस्कृति से अगर संगीत को पृथक् कर दिया जाए तो वह प्राणहीन नहीं तो वैभवहीन अवश्य हो जायगी। विवेक या बरतने की शिक्षा सदा से ही सांगीतिक प्रस्तुति में अन्तर्निहित रही है। मानव-जीवन और संगीत का संबंध विज्ञान और मानव-जीवन के संबंध से निश्चित ही भिन्न है, लेकिन यह तथ्य सच के निकट है कि विश्व की प्रत्येक गति या प्रवाह में संगीत के स्वर निरन्तर गुंजायमान हैं। भारत के सूफी-साधक परमेश्वर को साकार सौंदर्य मानते हैं और साधक को साकार प्रेम। सौंदर्य से प्रेम, प्रेम से मुक्ति के बाद सूफियों में संगीत की प्रधानता है। प्रधानता का कारण स्वीकारते हुए सूफियों ने कहा है कि संगीत में मन को केन्द्रित करके मन को ऊपर ले जाने की शक्ति होती है जिसका उपयोग समाधि[१५] के लिए सुगम है।

निष्कर्षतः हम कहना चाहते हैं कि भारतीय दर्शन और भारतीय संगीत का अन्तःसंबंध प्रारंभ से आज तक चलता आ रहा है। पूर्व पाषाण काल में आनन्द-प्रमोद का माध्यम संगीत उत्तर पाषाण काल में सामूहिक संगीत का रूप लेता है।

वेदकालीन समाज के निर्देशक द्रष्टा इस विद्या को एकता बढाने में सहायक मानकर ऋग्वेद की ऋचाओं को स्वरात्मक करके 'सामवेद' की रचना करते हैं। वेदकालीन ''साम'' बाद में ''समन'' बनता है। पौराणिक काल में यही ''समज्जा'' का रूप लेता है तथा भाष्य काल तक ''समज्जा' चलता रहता है। संगीत के धार्मिक पक्ष का दिग्दर्शन सूत्र-साहित्य में होता है तो इसके सामाजिक पक्ष का जातक साहित्य में। जहाँ तक वर्तमान समय की बात है इसके विवेचन से हम एकता का भाव बढा सकते हैं। अतः दर्शन वर्तमान समय में भी संगीत की समीक्षा का कार्य कर सकता है। इस सांस्कृतिक उन्नायक विद्या के पोषण और संवर्धन का कार्य दार्शनिक आधार पर करने की जरूरत है। दार्शनिक मनोवैज्ञानिक, समाज-दर्शन के धरातल पर ललित कला संगीत का अध्ययन मूल्यांकन एवं आधुनिक युग के अनुरूप दिशा-निर्देशन प्रदान करना हमारे इस शोध आलेख का उद्देश्य है। आध्यात्मिक अनुभूति जो व्यक्ति को रचनात्मकता प्रदान करती है और जिसकी विवेचना भारत के मनीषियों ने शुरू से ही की है, संगीत के बिना शायद इसमें कुछ कमी रह गयी है। यदि संगीत और दर्शन दोनों का अध्ययन साथ-साथ हो तो पूर्णता के समीप व्यक्ति पहुँच सकता है। पुनः, आज सम्पूर्ण राष्ट्र अलगाववादी प्रक्रिया से धिर गया है और आज ''हम एक हैं'' का ''राष्ट्रीय एकता'' का नारा हर स्तर पर दे रहे हैं तो यह नारा तभी तात्पर्यपूर्ण हो सकता है जब हम सच्चे अर्थों में एकीकरण की बातें करें, क्योंकि यह एकीकरण भावात्मक महत्त्व का है। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बद्ध है । सच्चे अर्थो में भावात्मक एकीकरण संगीत के माध्यम से ही संभव है। आज प्रत्येक देश का प्रशासन छात्र-अनुशासनहीनता से क्षुब्ध और त्रस्त है। इस संदर्भ में संगीत की सम्यक् शिक्षा (दार्शनिक आधार सहित) प्राचीन और अर्वाचीन के बीच हेतु का काम कर सकती है क्योंकि ''श्राव्य'' और ''दृष्य'' स्मृति के माध्यम से ये चिर नूतन रहते हैं। इस तरह संगीत हमारे जीवन में उत्कृष्ट गुणों को भरकर सांस्कृतिक उन्नायक विद्या बन जाती है।

शैलकुमारी

दर्शनशास्त्र विभाग
लंगट सिंह महाविद्यालय
बी. आर. ए. बी. यू. मुजफ्फरपुर

टिप्पणियाँ

१. Shastri. Dr. Dakshinaranjan. **A Short Hisory of Indian Materialism and Hedonism**. Book Land Private Limited.

Calcutta : Patna, 1930.

२. Tylore, E. B., **Primitive Cultures,** New York, 1874

३. विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, Derrida, **Post-structuralism**

४. Pandey, R. C., **The Problem of Meaning in Indian Philosophy,** Motilal Banarasidass, Delhi, 1963.

५. **A Synchronological Chart to the Global History of Philosophy**, John C. Plott and Paul D. Mays, Leiden: E. J. Brill, 1969.

६. प्रस्तुत आलेख में नॉसटिक का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न तथा नॉस्टिक सम्प्रदाय से लिया गया है। देखें, **बृहत् अंग्रेजी-हिन्दी कोश,** व्हॉल्युम-१ ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६९, पृ. ८१९

७. Pande, G. C., **Foundations of Indian Culture**, Vol. 1, Books & Books, New Delhi-110058, p. 1.

८. कौशिक अशोक, **उपनिषद् कथाएँ,** सुबोध पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, पृ. ४७

९. आपटे वा. शि., **संस्कृत-हिन्दी कोश,** मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, १९९३, पृ. १६५

१०. डा. देवराज, **दर्शन-स्वरूप समस्याएँ एवं जीवन दृष्टि एक मानवतावादी समग्र परिप्रेक्ष्य,** नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली ११०००२, १९९४

११. Murty, K. Satchidanand, **Philosophy in India : Traditions, Teaching Research**, I.C.P.R., New-Delhi-110067, Motilala Banarasidass, 1985, Preface p., VII-VIII.,

१२. Datta, D. M., **The Chief Currents of Contemporary Philosophy**, The University of Calcutta, Third Edition, 1970, p. 146

१३. शल्य, यशदेव, **मूल्य-तत्त्व-मीमांसा दर्शन,** दर्शन प्रतिष्ठान पी., जयपुर, प्रथम संस्करण, पृ. १३५

१४. वेदालंकार, हरिदत्त, **भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास**

१५. शर्मा, डा. सत्यवती, **ख्याल गायन शैली विकसित आयाम.** पंचशील प्रकाशन, जयपुर, १९९४, पृ.३

परिचर्चा में

-१-

परामर्श (हिन्दी) के खण्ड १९, अंक ३, जून १९९८, पृ. ६७-७९ में प्रकाशित मेरा लेख 'सामाजिक न्याय की अवधारणा - एक राजनीतिक संदर्भ और दार्शनिक विमर्श' पर परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२, अंक २, मार्च २००१, पृ. ९०-९३ में प्रकाशित 'परिचर्चा में' सुश्री संतोष चौहान, दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर की मर्यादित प्रतिक्रिया देखने को मिली है। सर्व प्रथम संतोषजी को उनकी प्रतिक्रिया के लिए धन्यवाद। संतोषजी ने लेख के संबंध में जिन समस्याओं को उपस्थित किया है, उनमें आपत्ति कम और जिज्ञासा अधिक है। 'सामाजिक न्याय' एक विवादस्पद विषय है और इस पर किसी सर्वजनीन निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। वस्तुतः संतोषजी ने लेख से सर्वजनीनता की अपेक्षा की थी और यही उनकी कुछ आपत्तियों का कारण भी रहा है। इस लेख में मैंने कभी सर्वजनीनता का दावा नहीं किया क्योंकि इस विषय पर अन्य दृष्टियों से भी विचार किया जा सकता है। इस लेख में मैंने अपने व्यक्तिगत मतों को भी एक सीमित परिधि में प्रस्तुत किया है और इसलिए अन्य व्यक्तियों से इस मत में मतभेद होना स्वाभाविक है। कदाचित यही कारण है कि संतोषजी ने अपनी प्रतिक्रिया के अनेक स्थलों पर 'व्यक्तिनिष्ठता' का आरोप लगाया है और इसे मैं विनम्र भाव से स्वीकार करता हूँ। इस लेख के माध्यम से मैं इस विषय पर पुनर्विचार के लिए एक दिशा की ओर इंगित करना चाहता था, जिसमें शायद मुझे कुछ हद तक सफलता भी मिली है क्योंकि संतोषजी जैसी विदूषी के विचारों से मैं अवगत नहीं हो पाता। संतोषजी की आपत्तियों और जिज्ञासाओं की क्रमिक चर्चा और अपेक्षित उत्तर की ओर अब मैं उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

लेख के प्रारम्भ में मैंने अवश्य लिखा है कि 'पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति हमें आनुभविक न्याय की ओर अग्रसर करती है' (मेरा लेख, पृ. ६८, पैरा २)। इस संदर्भ में संतोषजी ने यह प्रश्न किया है कि पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति से मेरा क्या तात्पर्य है ? (पृ. १०, पैरा २)। इस प्रश्न के उत्तर में ही संतोषजी द्वारा प्रस्तुत कुछ आपत्तियों और जिज्ञासाओं का समाहार निहित है। मैं यह मानता हूँ कि सामाजिक

न्याय के स्पष्ट बोध के लिए पारलौकिक न्याय एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि है। किसी भी अवधारणा को स्पष्ट करने का एक उपागम उसकी निषेधात्मकता को उद्घाटित करना हो सकता है और पारलौकिक न्याय कुछ इस प्रकार की मनोवृत्ति का परिचायक है। अब, अवधेय है कि मैंने पारलौकिक न्याय को अस्वीकार नहीं किया है। मैंने जिसे अस्वीकार किया है, वह है वर्तमानयुगीन परिवेश में पारलौकिक न्याय का विकृत प्रयोग। इस लेख में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वरीय न्याय की कल्पना जिस विशुद्ध रूप में की गई है उससे न तो मेरा विरोध है और न रहेगा। पर वर्तमान परिवेश में इस अवधारणा के विकृत प्रयोग इतने व्यापक और प्रचलित होते जा रहे हैं कि सम्पूर्ण समाज इससे दूषित होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति पर रोक लगाना मानवीय अपरिहार्यता है (मेरा लेख, पृ. ६८, पैरा १, पंक्ति १३-१७)।

अब मैं उस व्यक्तिगत सीमित परिधि की चर्चा करता हूँ जिसे मैं तो मानकर ही चलूँगा, पर शायद संतोषजी नहीं मानने को तैयार हों। संतोषजी ने प्रश्न उठाया है कि क्या सामाजिक न्याय की ओर अग्रसर होने के लिए पारलौकिक न्याय की अस्वीकृति अनिवार्य है ? यदि हाँ, तो उन व्यक्तियों की सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में क्या स्थिति होगी जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं ? (पृ. ६८, पैरा २)। मेरी दृष्टि से न्याय के साथ जैसे वैयक्तिक स्वार्थ युक्त हो जाता है, वह न्याय रह ही नहीं जाता है। व्यक्ति जब ईश्वर से न्याय की अपेक्षा करता है तो न्याय के इस रूप में सर्वजनीनता का नितान्त अभाव पाया जाता है। पुनःश्च ईश्वरीय न्याय पर पूर्णतः आश्रित होना व्यक्ति को निष्क्रिय बना देता है। व्यक्ति ईश्वर के न्याय में पूर्ण आस्था कर परिवर्तित परिस्थिति में भी कुछ करने को तत्पर नहीं दीखता है। यह अकर्मण्यता को प्रेरित करता है, जो मानव स्वभाव के साथ संगति नहीं रखता है। एक बात और है जिसे हमने लेख लेखन के समय ध्यान में रखा था और वह है मानवीय स्वतंत्रता। ईश्वरीय न्याय में अटूट आस्था मानवीय स्वतंत्रता में बाधक है। जब सब कुछ ईश्वर के द्वारा ही किया जाता है तो फिर मानव को स्वतंत्ररूप से करने के लिए कुछ नहीं रह जाता है। इस प्रकार के स्पष्ट संकेत मैंने लेख के प्रारम्भ में दिया है, जिस पर कदाचित संतोषजी की दृष्टि नहीं पडी है। (मेरा लेख पृ. ६७-६८, पंक्ति १६-३०)। मैंने पारलौकिक न्याय की चर्चा के माध्यम से सामाजिक न्याय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और इस न्याय के साथ युक्त कठिनाइयाँ हमें निःसंदेह ही सामाजिक न्याय के आनुभविक प्रसंग की ओर उन्मुख करती हैं। संतोषजी से मेरा विनम्र अनुरोध है कि विशुद्ध पारलौकिक न्याय और विकृत पारलौकिक न्याय में अन्तर के आलोक में पुनः इस बिन्दु पर विचार करें और आवश्यकतानुसार अपनी प्रतिक्रिया दें।

संतोषजी ने एक अन्य आपत्ति प्रस्तुत की है कि 'सामाजिक न्याय को एक वर्ग-विशेष के साथ जोडना उचित नहीं' और 'सामाजिक न्याय समस्त समाज को मिलना चाहिए' - इन कथनों में तार्किक संगति का अभाव है (पृ. ९१, पैरा २)। दो कथनों में तार्किक संगति का अभाव तभी मान्य हो सकता है जब इनमें व्याघात हो। सामाजिक न्याय को वर्गन्याय के साथ संयुक्त करना और समस्त समाज के न्याय के साथ संपृक्त करना विरोधपूर्ण है। वर्ग न्याय में समस्त समाज सन्निहित नहीं है। शायद इसी असंगति के आधार पर संतोषजी ने अपनी आपत्ति प्रस्तुत की है। वस्तुतः इस बिन्दु पर सामाजिक न्याय की चर्चा राजनीति के प्रसंग में की गयी है। इसमें भारतीय राजनीति के रंगमंच पर इस पद के गलत प्रयोग के प्रति ध्यान आकृष्ट करना मेरा मुख्य ध्येय रहा है। ऐसी बात नहीं कि न्याय को किसी वर्ग-विशेष के साथ नहीं जोडा जा सकता। उदाहरणार्थ सवर्णों के प्रति न्याय, अवर्णों के प्रति न्याय, दलितों के प्रति न्याय, निर्धनों के प्रति न्याय, असुरक्षितों के प्रति न्याय की चर्चा की जा सकती है। परन्तु देखा जा रहा है कि वर्ग-विशेष के न्याय की चर्चा नहीं की जा रही है बल्कि सामाजिक न्याय की चर्चा की जा रही है। वर्ग-विशेष के साथ सामाजिक न्याय को कभी नहीं जोडा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे द्वारा प्रस्तुत विचार और उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त पद के बीच संगति आवश्यक है। ऐसा नहीं होने पर हम जो कहना चाहते हैं और मेरे द्वारा प्रयुक्त पद जो संसूचक है उसके बीच एक अन्तहीन खाई पैदा हो जाती है। इस पद का अति प्रयोग हमें लक्ष्य से दूर ले जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त पद का चयन करें। (पृ. ७१, पैरा १)। ऐसा लगता है कि संतोषजी मेरे इस विचार से सहमत हैं क्योंकि वे कहती हैं कि आज वर्ग-न्याय को सामाजिक न्याय का नाम देकर उसे प्रयुक्त किया जा रहा है, यह हमें व्यापकता के स्थान पर अतिसंकीर्णता की ओर अग्रसर कर रहा है (पृ. ९१, पैरा २)। संतोषजी के इस मत को मैं सात्त्विक श्रद्धा के साथ स्वीकार करता हूँ और इसमें प्रतिवाद का कोई बिन्दु दृष्टिगत नहीं होता।

संतोषजी की तीसरी आपत्ति यह है कि न्याय की अनिवार्यता पर विचार करने के क्रम में हमने बाह्य आरोपित अनिवार्यता की बात की है। संतोषजी के मतानुसार इस प्रकार का दृष्टिकोण व्यक्ति के सम्बन्ध में ही दिया जा सकता है, समाज के सम्बन्ध में नहीं। मैं इससे पूर्णतः सहमत हूँ और मैंने अपने लेख में कहीं भी समाज के संदर्भ में इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रयोग नहीं किया, जैसा कि संतोषजी को आभासित हुआ है (पृ. १२, पैरा १)।

संतोषजी ने इन वाक्यों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की इच्छा प्रकट की है कि 'व्यक्ति के लिए कौनसी क्रिया न्यायसंगत होगी और कौनसी क्रिया अन्यायसंगत, इसका निर्णय व्यक्ति को ही लेना होगा' (मेरा लेख पृ. ७४, पैरा २) एवं 'न्याय का स्वरूप वैसा ही होगा, जैसा न्यायी चाहेगा' (पृ. ७५, पैरा ३)। इस स्थल पर व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में मेरा अभिमत पृष्ठभूमि में कार्यशील रहा है। मेरी दृष्टि से व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में विचार करते हुए व्यक्ति को ही प्रधानता दी जानी चाहिए। समाज व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति समाज के लिए। समाज की संरचना वैसी ही होगी, उसके मूल्य वैसे ही होंगे, जैसा व्यक्ति चाहेगा। न्याय या अन्याय का सीधा संबंध व्यक्ति से है और समाज व्यक्ति की इन अवधारणाओं से प्रभावित कर्मों से प्रभावित होता है। अतः समाज में व्यक्ति ही न्यायी या अन्यायी होगा। किस परिस्थिति में कौन सी क्रिया न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण है, इसका निर्णय तो व्यक्ति को ही करना होगा। मैं इस कथन पर आपत्ति नहीं करता कि न्याय की यह अवधारण आत्मनिष्ठ है। किसी परिस्थिति-विशेष में जो क्रिया एक व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण होगी वही अन्य व्यक्तियों के लिए अन्यायपूर्ण हो सकती है। न्याय में स्वतंत्रता की भावना निहित है। जो कर्म व्यक्ति अपने स्वतंत्र निर्णय के आधार पर करता है, उसी के लिए उसे उत्तरदायी माना जा सकता है। किसी भी प्रकार के बाह्य दबाव के कारण जब व्यक्ति कोई निर्णय लेता है तो वह अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। न्याय एक नैतिक अवधारणा है और इसलिए कर्मों की स्वतंत्रता इसके लिए एक महत्त्वपूर्ण उपाधि है।

संतोषजी ने इस कथन के संबंध में भी स्पष्टीकरण चाहा है कि "व्यक्ति या समाज को न्यायी इसलिए होना चाहिए कि यह उसके अन्तःकरण की माँग है।" (मेरा लेख पृ. ७५, पैरा ३, पंक्ति ४)। अन्तःकरण से मेरा तात्पर्य स्वविवेक से है। स्वविवेक के आधार पर जो भी निर्णय लिए जाते हैं, उसमें एक विवशता है, पर यह विवशता आत्मारोपित है। ऐसी परिस्थिति में जब व्यक्ति कार्य करता है तो उस कार्य के सम्पादन के प्रति वह पूर्ण रूपेण उत्तरदायी होता है। व्यक्ति यह सोचता है कि यदि मैं अन्य के प्रति न्यायी नहीं रहूँगा तो अन्य भी हमारे प्रति न्यायी नहीं रहेंगे, इसलिए मुझे न्यायी होना ही चाहिए । जब इस प्रकार के विचार अपने मन में रखकर व्यक्ति कार्य करता है तो उसके व्यवहार से सामाजिक संगति उत्पन्न होती है। न्यायी व्यक्ति जब क्रिया करता है तो उसका प्रभाव समाज पर पडता ही है (मेरा लेख पृ. ७४-७५, पैरा ३)। जब व्यक्ति न्यायी की अवधारणा के आलोक में कोई क्रिया करता है तो उसके मन में वैयक्तिक हित तो रहता ही है साथ-ही-साथ अन्य व्यक्तियों के हितों को भी वह

ध्यान में रखता है। न्याय सामाजिक समरसता को उत्साहित करता है और यह तभी संभव है जब व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में उपयुक्त संतुलन हो। व्यक्ति जब कोई क्रिया अन्तःकरण के आधार पर करता है तो उसमें सामाजिकता का भाव स्वतः अनुस्यूत होता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति कोई भी कर्म करने के पूर्व समाज पर पडने वाले प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। व्यक्ति यह कभी नहीं चाहता कि वह कोई ऐसा कर्म करे जिसके लिए वह उत्तरदायी हो और उसमें सामाजिक स्वीकृति न हो। अतः न्याय की अवधारणा में सार्वभौमिकता की खोज व्यर्थ है क्योंकि इसके संबंध में निर्णय व्यक्ति ही लेता है।

हम एक लोककल्याणकारी राज्य में अधिष्ठित हैं। लोककल्याणकारी राज्य में राज्य का व्यक्ति के प्रति कुछ कर्तव्य होता है। संतोषजी ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को उसका देय मिलना ही चाहिए' (मेरा लेख पृ, ७७, पैरा १), मेरे इस कथन में देय का निर्धारण कौन करेगा और देय का आधार क्या होगा ? (पृ. १३, पैरा २) वास्तव में, इस प्रश्न को नागरिकों के प्रति राज्य का जो कर्तव्य है उसके आलोक में यदि समझा जाय तो कहीं कोई परेशानी नहीं होगी। देय का निर्धारण राज्य या समाज करेगा और देय के आधार के रूप में मैं शिक्षा को एक कसौटी मानता हूँ। एक भी पद के लिए जो अर्हता है, यदि व्यक्ति में है तो उसे उसका देय मिलना ही चाहिए। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाना चाहिए। इसमें अवसर की समानता जैसे संप्रत्यय भी सन्निहित हैं और इसी आलोक में इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

मैंने संतोषजी की आपत्तियों और जिज्ञासाओं की बिन्दुवार चर्चा कर, अपेक्षित समाधान की ओर संकेत दिया है। मैं आशा करता हूँ कि संतोषजी मेरे उत्तर से संतुष्ट होंगी एवं अपनी प्रज्ञा के आधार पर यदा-कदा मेरे आलेखों को और समुज्ज्वल बनाने के प्रति यत्नरत रहेंगी। आपकी जिज्ञासा, विषय की अभिनिविष्टता, सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि और मौलिक उद्भावना हेतु साधुवाद।

हीरा-कुंज

डा. अरुण कुमार प्रसाद

३०७, अनुग्रहपुरी कॉलनी, गया - ८२३००१

-२-

परामर्श (खंड २२, सित.-अक्तू.-नव. २००१) के अंक में डा. सुधा चौधरी का 'विज्ञान, अध्यात्म का निषेध अथवा पूरक' शीर्षक से एक लेख प्रकाशिता हुआ है। इस लेख में विज्ञान की प्रगति एवं दर्शन के इतिहास का सुंदर विवेचन हुआ है।

विज्ञान-अध्यात्म के तुलनात्मक अध्ययन में लेखिका का निष्कर्ष, 'विज्ञान अध्यात्म का निषेध है' ऐसा प्रतीत होता है।

इस लेख में वैचारिक असहमति के अनेक स्थल हैं। मैं इनमें से केवल एक का (ईश्वर सम्बन्धी विचार का) उल्लेख करना चाहता हूँ। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के इतिहास का प्रगत विवेचन प्रस्तुत करते हुए लेखिका लिखती हैं : 'दीगर बात है कि ईश्वर को अभी तक हम प्रमाणित नहीं कर पाये हैं इसलिए एयर के दर्शन में ईश्वर - विचार अर्थहीन है।' इसके आगे वे अध्यात्म का विवरण करते हुए मानवव्यक्तित्व के आंतरिक पक्ष शुचिता, आत्मबोध, आत्मसाक्षात्कार आदि के प्रति जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखती हैं फिर इन आध्यात्मिक स्थितियों को वे केवल मानव के संवेगात्मक जगत् से जोड देती हैं। अध्यात्म में आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति उनको भ्रामक प्रतीत होती है। इसी क्रम में बढते हुए वे भारतीय समाज की विसंगतियों के लिए अध्यात्म को जिम्मेदार बताते हुए स्थापित करती हैं : '.....नीत्शे द्वारा 'ईश्वर मर चुका है' की घोषणा कर देने पर भी मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व को लेकर ऊहापोह में रहता है। ...अन्यथा ईश्वर की अवधारणा को जिन दो कारणों - एक ब्रह्माण्ड का उत्पन्नकर्ता एवं दूसरा मनुष्य का कर्मफलदाता के रूप में लाया गया था, वे चूँकि स्पष्ट हो गए हैं इसीलिए अब इसे जीवन से निकल जाना चाहिए।'

मैं 'ईश्वर' शब्द की धारणाओं जैसे कि वह जगत् का उत्पन्नकर्ता, शासनकर्ता है या कि वह निर्गुण बह्म है आदि की छानबीन में नहीं जाऊँगा। इस चर्चा में मैं केवल इस पवित्र शब्द के संरक्षण पर जोर देना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करने से इससे जुडे हुए पवित्र भावों का स्वतः ही रक्षण हो जाएगा। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए मैं भारतीय मनीषी स्वामी विवेकानंद का इस संदर्भ में मन्तव्य प्रस्तुत करता हूँ। विवेकानंद कहते हैं- "मुझसे अनेक बार पूछा गया है क्यों तुम पुराने शब्द ईश्वर का प्रयोग करते हो ? (उनका उत्तर) क्योंकि हमारे उद्देश्य के लिए यह सर्वोत्कृष्ट शब्द है... क्योंकि इस शब्द में मानवता की समस्त आकांक्षाएँ और सुख केन्द्रित कर दिये गये हैं। अब इस शब्द को बदलना असंभव है। ...अनंतकाल से ईश्वर शब्द समष्टि बुद्धि और वह सब महान् तथा पवित्र जो इनसे जुडा है, के लिए प्रयुक्त होता रहा है। यदि हम इसे त्यागते हैं, तो प्रत्येक मनुष्य पृथक् शब्द देगा जिसका परिणाम होगा भाषा की भ्रांति और कोलाहल।.... ऐसे शब्द अपनी अर्थवत्ता में अत्यन्त भव्य और शक्तिशाली विचारों से जुडे हैं, वे लाखों मानवीय आत्माओं द्वारा प्रयुक्त और पूजित हुए हैं और उनके द्वारा, जो सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ है, जो सब तर्कसंगत और प्रिय है, जो मानव स्वभाव में महान और भव्य है, उन सबके साथ जुडे हैं।" (विवेकानंद

की जीवनी, रोमां रोलां, अद्वैत आश्रम, २००१)

आधुनिक काल में भौतिक विज्ञान ने कल्पनातीत प्रगति की है। आज का औसत मानव अपेक्षाकृत अधिक तार्किक है। वह ईश्वर सम्बन्धी विचारों और विश्वासों पर प्रश्नचिन्ह लगाता रहा है। भारतीय संदर्भ में ईश्वर की ऐसी धारणाओं का जिनमें कि वह जगत् का उत्पन्नकर्ता, कर्मों का फलदाता है, इनमें बहुत प्राचीन काल में ही विकास हो चुका है। और जैसे-जैसे मानव सभ्यता आगे बढेगी वैसे-वैसे ईश्वर सम्बन्धी हमारा विचार भी अधिक सूक्ष्म होता जाएगा। किन्तु ध्यातव्य है कि ईश्वरविषयक हमारी धारणा में ही विकास संभव होगा, स्वयं ईश्वर इन सभी विचारों से अपरिवर्तित रहेगा। गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज के पूर्व घटित होनेवाली प्राकृतिक घटनाएँ, इस नियम के प्रकाश में आने के बाद भी, ठीक वैसे ही घटित होती हैं। अंतर हमारे ज्ञान में हुआ है। भौतिक जगत् सम्बन्धी इस ज्ञान का प्रयोग मानव अपने विवेक से सृजन या विध्वंस में करता है। यही धर्म या अध्यात्म की भूमिका उजागर होती है। मानवीय व्यवहार का नियमन करने वाला तत्त्व, मानव का आंतरिक पक्ष, उसका मन है। यदि यह विवेकी है तो उसका व्यवहार भी सृजनात्मक होगा। अध्यात्म मानव के इसी आंतरिक पक्ष को निर्मल, दृढ तथा उज्ज्वल करता है।

अस्तु, ईश्वर का विचार या धारणा ही केवल ईश्वर नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह ईश्वर न होकर विचार द्वारा निर्मित काल्पनिक ईश्वर होता। ईश्वर सम्बन्धी धारणा या विचारों का महत्त्व केवल इस बात में नहीं है कि वे कितने उच्च या निम्न हैं- यह विचार के इतिहास, परम्परा का विषय है; इस परम्परा से स्वतंत्र, मानव सभ्यता के प्रत्येक सोपान पर इन शब्दों में निहित सत्य की अभीप्सा के अत्यंत पवित्र भावों का ही अधिक मूल्य है। हमें इन्हीं भावों का संरक्षण करना है। इस ईश्वर शब्द को त्यागने से एक तो हम पूर्वजों की सच्ची निष्ठा के प्रति अकृतज्ञ ठहरेंगे, दूसरे, इस शब्द के माध्यम से जुडी चिंतन की एक सामान्य भूमि को भी खो देंगे जिसके परिणामस्वरूप वैचारिक अव्यवस्था उत्पन्न होगी। अतः इसी शब्द का सच्ची निष्ठा से प्रयोग करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। अन्तःकरण में विकसित हुई शुचिता और शांति के द्वारा इस निष्ठा का मूल्य पहचाना जा सकता है।

पुनर्जन्म जैसे विचारों को गणित या प्राकृतिक विज्ञान की भाँति प्रमाणित तो नहीं किया जा सकता किंतु ऐसे विचारों के बिना वर्तमान जीवन और जन्म की समुचित व्याख्या करना भी संभव नहीं है। दो व्यक्तियों के नैतिक-बौद्धिक सामर्थ्य में विभेद की व्याख्या केवल पुनर्जन्म के विचार द्वारा ही सम्भव है। पुनर्जन्म एवं भाग्यवाद के विचार वर्तमान जीवन से पलायन नहीं हैं, वरन् वह तो व्यक्ति के ऊपर ही समस्त

उत्तरदायित्व डालकर उसे पूर्ण कर्म-स्वातंत्र्य देते हैं। ''कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाए, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे हमारे द्वारा नष्ट भी किए जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है, उसका नाश हम से कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लो - यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ लो।'' (**विवेकानंद साहित्य,** द्वि. खंड, अद्वैत आश्रम, तृतीय संस्करण, पृ. १२०-१२१)

मैंने अपनी भाषा में अपने विचार एवं भाव व्यक्त कर दिए हैं। इसमें मेरा उद्देश्य नितान्त खंडन-मंडन का नहीं है। इस लेख में अपने दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने में लेखिका पूर्णतः सफल हुई हैं। जगत् की ओर देखने में, विज्ञान और अध्यात्म का जो मौलिक भेद- पदार्थ और चेतना का - है; यह उल्लेख बहुत ज्ञानवर्धक है। लेखिका ने विज्ञान और अध्यात्म का बहुत ही रोचक, व्यवस्थित एवं तथ्यात्मक द्वन्द्व प्रस्तुत किया है। इस कार्य के लिए वे बधाई की पात्र हैं। धन्यवाद !

३४, जानकीनगर मेन, **नवीन दीक्षित**
इन्दौर ४५२००१ (म. प्र.)

-३-

प्रस्तुत टिप्पणी का सन्दर्भ परामर्श (हिन्दी) खण्ड २२, अंक ३, जून-अगस्त २००१ में प्रकाशित 'अद्वैत वेदान्त में साक्षी' विषयक मेरे लेख पर परामर्श, खण्ड २२, अंक ४, सित-नव में प्रकाशित डा. धमेन्द्र गोयल की वैचारिक टिप्पणी से है। डा.गोयल ने परामर्श में प्रकाशित मेरे इस लेख को आद्योपान्त पढा और उस पर अपनी महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की, एतदर्थ में उनका आभारी हूँ। अपनी टिप्पणी के अन्त में डा. गोयल ने कुछ महत्त्वपूर्ण जिज्ञासायें शंकायें उपस्थापित की हैं। इन जिज्ञासाओं को मैं स्वयं अपने लेख के बजाए समूची अद्वैत परम्परा को सम्बोधित जिज्ञासा के रूप में देखता हूँ। पुनश्च डा. गोयल द्वारा उठायी गयी जिज्ञासाओं का मैं प्रश्न से अधिक उसके संभावित समाधान के रूप लेता हूँ, क्योंकि इनके द्वारा डा. गोयल बडे ही विनम्रता से समूची अद्वैत परम्परा को नए रूप में देखने का सुझाव देते हैं।

डा. गोयल अपनी टिप्पणी के अन्त में प्रश्न उठाते हैं- क्या साक्षी आत्मा

और ब्रह्म के प्रत्यय पर्यायवाची समानार्थक न होकर भिन्न हैं ? या केवल व्याख्या के लिए अद्वैती ऐसी परिच्छिन्न चर्चा करते हैं ? (डा. गोयल, पृ. ९३, आखिरी पंक्तियाँ)। वस्तुतः यदि एकमात्र अद्वितीय परमतत्त्व ब्रह्म की ही सत्ता है तो फिर ईश्वर, साक्षी, ईश्वर-साक्षी, जीव-साक्षी, कूटस्थ जैसी सत्ताओं का विवेचन किसी न किसी रूप में 'परिच्छिन्न चर्चा' का ही अंग है। देखा जाए तो एक तरह का व्यवहार और परमार्थ का भेद शांकर चिन्तन में हमेशा बना रहता है। अतः अद्वैत के समीक्षकों को हमेशा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अद्वैत परम्परा में कौन सी बात व्यवहार को आश्रित करके कही गयी है और कौन सी बात परमार्थ के स्तर पर । 'परमार्थ' के स्तर पर तो अखण्ड चैतन्यघन मात्र है, वहाँ 'केन कं पश्येत्' की स्थिति है। परमार्थतः कूटस्थ नित्य निर्विभाग चैतन्य मात्र है- यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। श्रुति कहती है- यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूतत्केन कं पश्येत्। वस्तुतः परमार्थ अवस्था में समस्त व्यवहार का अभाव होता है।[1] फलस्वरूप व्यवहार का कल्पक, अधिष्ठाता ईश्वर भी व्यावहारिक ही है। परमार्थतः ब्रह्म मात्र है, ईश्वर भी पारमार्थिक नहीं।[2] यह कि ईश्वर लोकों का - प्राणियों का स्रष्टा है, कर्मफल का अधिष्ठाता है, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः अज्ञान से, ज्ञान के आवृत होने से जीव मोह में बंधते हैं। शंकराचार्य गीता के उपर्युक्त कथन का उद्धरण देकर ईश्वर की पारमार्थिकता का खण्डन करते हैं।[3] शंकराचार्य वहीं आगे कहते हैं कि ईश्वर की व्यवहार दशा में स्थिति तो युक्ति और श्रुति दोनों को स्वीकार है। यही स्थिति साक्षी की भी है। अज्ञान की अपेक्षा से ही मूलभूत चेतना साक्षी के रूप में है। यदि साक्ष्य न हो तो साक्षी कैसे ? ब्रह्म साक्षी से भी परे कोई तुरीय ही है। वह निर्विशेष चेतना है। वहाँ न तो किसी तरह का अज्ञानकृत प्रपंच है और न स्वयं अज्ञान ही है। तत् पृथक् कुछ भी साक्ष्य या भास्य न होने से ब्रह्म को साक्षी नहीं कहा जा सकता। साक्षी तो अज्ञान का भासक है, द्रष्टा है। सुषुप्ति में यद्यपि समस्त प्रपंच अन्तःकरण समेत अविद्या में लीन हो जाता है, फिर भी अविद्या या अज्ञान तो रह ही जाता है। यह सही है कि यहाँ चेतना अविद्या से विशिष्ट नहीं है, फिर भी उसके साक्षी के रूप में तो है ही। अतः साक्षी को ब्रह्म नहीं कहा जा सकता है। अविद्या रूप उपाधि से वह पूर्णतः मुक्त नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठता है कि यदि साक्षी और ब्रह्म समानार्थक पर्याय नहीं हैं तो फिर मेरे लेख में प्रस्तुत विचारों से इसका विरोध होगा, क्योंकि मैंने दोनों को बहुशः पर्याय के रूप में लिया है। वस्तुतः मेरे सामने समस्या भिन्न थी। मैंने अपने लेख में अनुभव के विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्ट की थी कि अनुभव का तथ्य एक नित्य, स्थायी अनुभविता तत्त्व की सत्ता को आपादित करता है जो नित्य

ज्ञानस्वरूप है और स्वयंप्रकाश है। बिना इस प्रकार के स्वयंप्रकाश आत्मचैतन्यरूप साक्षी को माने अनुभव की व्याख्या नहीं हो सकती। यही स्वयंप्रकाश साक्षीतत्त्व ब्रह्म है। इस स्वयंप्रकाश साक्षीतत्त्व के प्रकाश से ही प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण का सम्पूर्ण संकुल प्रकाशित होता है और समस्त ज्ञानव्यापार संभव हो पाता है। वस्तुतः उपनिषदों में इस बात की पर्याप्त अन्वीक्षा की गयी है कि किसके प्रकाश से समस्त वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं और अन्ततः निष्कर्ष रूप में यह पाया जाता है कि आत्मचैतन्य रूप साक्षीतत्त्व के प्रकाश से ही यावत् वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। सारे उपनिषद् इस हृदयान्तर्गत ज्योति की चर्चा करते हैं तथा उसे ऐसा स्वयंप्रकाश तत्त्व बतलाते हैं जो हमारी एक-एक अनुभूति में प्रकाशित होता है, जो प्रतिबोधविदित तत्त्व है। अतः अनुभव का विश्लेषण साक्षी की सत्ता को सिद्ध करता है और यह साक्षी वस्तुतः ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म तक पहुँचने का रास्ता अनुभव या प्रतीति का विश्लेषण है। ज्ञानमीमांसा अद्वैतियों के लिये तत्त्वविद्या और मोक्षशास्त्र है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस तरह हम जिस स्वयंप्रकाश साक्षीचैतन्यतत्त्व पर पहुँचते हैं वह ब्रह्म न होकर ब्रह्म जैसा है, क्योंकि कहीं न कहीं अज्ञान का लेश वहाँ भी है।

यह समस्या 'ईश्वर' को लेकर भी उठती है। जब हम अनुभूयमान बाह्य जगत् के विश्लेषण पूर्वक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारणरूप में परमतत्त्व ब्रह्म तक पहुँचते हैं तो वहाँ भी यह समस्या खडी हो उठती है कि क्या जगत् कर्तृत्वादि वस्तुतः ब्रह्म में हैं ? क्या ईश्वर और ब्रह्म समानार्थक हैं? पर, जैसा कि पीछे हमने संकेत किया है, अद्वैत परम्परा में 'ईश्वर' का परमार्थतः कोई स्थान नहीं बनता। देखा जाए तो बाह्य जगत् के तत्त्वानुसंधान द्वारा हम जिस **जन्माद्यस्य यतः** स्वरूप वाले ब्रह्म तक पहुँचते हैं अथवा आन्तर अनुभूति के विश्लेषण से जिस **साक्षीचैतन्य** रूप परमतत्त्व तक पहुँचते हैं, वे वस्तुतः अभिन्न हैं। जगत्तत्त्वानुसंधान और अनुभूतितत्त्वानुसंधान या कहिये कि ईश्वरतत्त्वविश्लेषण और साक्षीतत्त्वविश्लेषण अन्ततः ब्रह्मतत्त्वानुसंधान के ही विभिन्न मार्ग हैं। 'ईश्वर' हो या 'साक्षी' विशुद्ध परमार्थ भले ही न हो, व्यवहार में संभव उपलब्ध यह सर्वथा अविशुद्ध परमार्थ है। अतः यावत् व्यवहार हम कह सकते हैं कि वे ब्रह्म ही हैं।

साक्षी की सत्ता की स्वीकृति द्वारा अद्वैत परम्परा में यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है कि देहान्तःकरणादि से विशिष्ट होने के बावजूद चैतन्य का अकलुषित, अविकृत, सर्वभासक और स्वतःप्रकाशमान स्वरूप सर्वदा वर्तमान रहता है। अतः जीवत्व के अतिक्रमण का जो आदर्श या श्रेय वेदान्त मनुष्य के सम्मुख रखता है वह वस्तुतः उसे सर्वदा उपलब्ध ही है, आवश्यकता मात्र इसके साक्षात्कार

की है। यह आत्मा किस तरह स्वयं सत् है और स्वयं परममूल्य है, यह साक्षी के स्वरूपविवेचन से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। सांसारिक जीव के विपरीत जो कि कर्ता, भोक्ता व प्रमाता है, उसका अधिष्ठानभूत साक्षी न तो कर्ता है, न भोक्ता और न प्रमाता ही। वह तो शुद्ध द्रष्टा मात्र है- तटस्थ और उदासीन द्रष्टा। जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के विपरीत साक्षी के असंगत्व, उदासीनत्व तथा सर्वसाक्षात्कारित्व रूप की व्याख्या इन दोनों के लक्षणों से की जा सकती है। जीव को जहाँ अन्तःकरण अवच्छिन्न चैतन्य कहा गया है, वहाँ साक्षी को अन्तःकरण उपहित चैतन्य बताया गया है। एक ही अन्तःकरण जीव को जिस प्रकार व्यावर्तित करता है उसी प्रकार साक्षी को भी। प्रश्न है तब उनमें भेद कैसे ? इस सम्बन्ध में वेदान्त की परम्परा में विशेषण और उपाधि के भेद की ओर ध्यान दिलाया जाता है। विशेषण उसे कहते हैं जो वस्तु के साथ रहते हुए उसे अन्य वस्तुओं से अलग करता है जबकि उपाधि वस्तु के साथ रहे बिना ही उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् कर देती है।[४] उदाहरणतः नील घट में घट का नीलत्व उस घट के साथ रहते हुए उसे अन्य पीतादि घटों से पृथक् करता है जबकि घटाकाश में उपाधि घट आकाश को किञ्चित् भी विकृत किये बिना उसे शेष आकाश से पृथक् करता है। अतः साक्षी वह शुद्ध चेतना है जो जीव के विभिन्न अनुभवों का बोध रखते हुए भी उनसे भिन्न है जबकि जीव उस चेतना एवं अन्तःकरण के बीच एक तादात्म्यभाव है। अन्तःकरणविशिष्ट होने से जीव में अन्तःकरण के गुणों का प्राधान्य है, तद्गुणसारत्व ही जीवत्व है। जीव अविद्या या अन्तःकरण से विशिष्ट होने से कर्ता एवं भोक्ता है जबकि साक्षी अन्तःकरण या अविद्याविशिष्ट चैतन्य न होकर तद् उपहित चैतन्य है, फलतः अन्तःकरणकृत व्यापार-धर्म से वह तनिक भी विकृत नहीं होता है। जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व की परिधि से वेष्ठित है, कारण कि वह जागतिक प्रपञ्चों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किये हुए है, जबकि साक्षी इन प्रपञ्चों से असम्पृक्त रहते हुए अनासक्त भाव से सत्य-असत्य, ज्ञान-अज्ञान सभी बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों को देखता रहता है। प्रपञ्च के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण जीव राग-द्वेष, सुख-दुःखादि का अनुभव करता है और उस अनुभव को आत्मार्पित करते हुए आत्मस्वरूप से विमुक्त होकर बन्धनग्रस्त रहता है, जबकि साक्षी न तो प्रपञ्च के साथ बँधा है और न सुख-दुःख का अनुभव करता है, कारण उसका अन्तःकरण से तादात्म्य नहीं है। वह तो निरपेक्ष भाव से जीव के कर्तृत्व एवं कृत्यों तथा नानात्व एवं प्रपञ्च को तटस्थ होकर केवल देखता रहता है। जीव एवं साक्षी को लक्ष्य करके श्रुति कहती है-[५] दो पक्षी एक साथ वृक्ष पर बैठे हुए हैं, इनमें एक उस वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का भोग करता है जबकि दूसरा केवल देखता हुआ बैठा है।

जीवन एवं जगत् में रत जीव है जबकि उनको देखता हुआ विरक्त उदासीन साक्षी है।

अब जीव यदि परमार्थतः निर्गुण, निष्क्रिय, असंग, चैतन्यस्वरूप है तो व्यवहार में जो उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व दिखायी देता है, वह आविद्यक ही होना चाहिए। क्योंकि यदि जीव का संसारित्व एवं जीवत्व वास्तविक स्वरूप हो तो इससे मुक्ति असंभव होगी। अतः 'व्यवहार में रत', 'स्वाद लेने में मग्न' होने के बावजूद जीव को कहीं न कहीं ऐसा होना चाहिए कि वह इनसे विरत भी हो, अन्यथा जीव का बन्धन वास्तविक हो जाएगा। साक्षी की सत्ता की स्वीकृति द्वारा अद्वैती यही सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं कि देहान्तःकरणादि से विशिष्ट होने के बावजूद चैतन्य का अकलुषित, अविकृत, सर्वभासक और स्वतःप्रकाशमान स्वरूप सर्वदा वर्तमान रहता है।

दर्शनशास्त्र विभाग | डा. आनन्द मिश्र
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी २२१००२

टिप्पणियाँ

१. परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, २/१/१४.

२. परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते।
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, २/१/१४.

३. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्याचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (**गीता**, ५/१४-१५)
शंकराचार्य द्वारा उद्धरित, **ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य**, २/१/१४ में।

४. कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम् ।
कार्यानन्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वमुपाधित्वम् ।

५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ **मुण्डकोपनिषद्**
३/१/१. **श्वेताश्वतर उपनिषद**, ४/६

संपादकीय

आजकल शिक्षानीति के विषय में बहुत विमर्श हो रहा है । हमारे देश में आज भी शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछडापन है ! बहुत सारे लोग शिक्षा से वंचित हैं और उन्हें शिक्षा देना एक चुनौती है । इस चुनौती के लिए जिम्मेदार कौन है ? क्या शासन तथा शासनयंत्रणा की यह जिम्मेदारी है ? प्रत्यक्ष व्यवहार में न तो शासन तथा न ही शासनयंत्रणा दिलोजान से इस कार्य में जुटे हुए नजर आते हैं । क्या विविध शैक्षिक संस्थान इस चुनौती के लिए जिम्मेदार हैं ? शैक्षिक संस्थान किसी तात्त्विक चुनौती में विश्वास करते नजर नहीं आ रहे हैं । इस कार्य में वे मानते हैं कि उनके हाथ-पैर बँधे हुए हैं । तो फिर क्या समाज इस चुनौती के लिए जिम्मेदार है ? लेकिन इस देश में किसी रचनात्मक कार्य में जुट जाने के लिए समाज की न कोई पहचान बन पाती है, न उसे कोई अखंडता और समग्रता प्राप्त होती है । अतः इस देश में समाज केवल शब्दमात्र ही रह चुका है, उस का कोई ठोस अस्तित्व अभी तक बन नहीं पाया है । फलतः इस देश के उन्नयन के लिए कोई भी रचनात्मक कार्यक्रम चलाने के लिए कोई भी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है । जिस देश की अतिप्राचीन संपन्न परंपरा की तारीफ के पुल बाँधते हमारा सारा समय गुजर जाता है उस देश की यह हालत है । इस देश की संस्कृति में अगर जो भी चीज उगती है तो वह आपततः उगती है, उसके पिछे न कोई व्यवस्था होती है, न कोई मूल्य-परंपरा । अतः इस संस्कृती में जो भी उगता है वह अपने अधुरेपन में ही मिट जाता है ।

शिक्षा के बारे में जो कुछ भी बातें हो रही हैं, वे शिक्षा के सभी स्तरों के बारे में हो रही हैं । अगर हम उसमें उच्चस्तरीय शिक्षा के बारे में देखना चाहें तो बहुतसी बातें हमारे ध्यान में आती हैं । उच्चशिक्षा के बारे में पहली बात बतायी जाती है उस के संख्यात्मक विस्तार की । संख्यात्मक विस्तार के आकर्षक रूप को सामने फैलाकर एक लुभावना दृश्य पैदा किया जाता है । देश की आबादी तथा जरुरतों की तुलना के मुताबिक इसे कभी भी प्रस्तुत नहीं किया जाता । संख्यात्मक विस्तृत शिक्षाव्यवहार में जो धनराशि की लगत आती है उसे सामने रख कर आँखे चौंधिया दी जाती हैं । जब जब धनराशि का विषय निकलता है तो उसे मात्र मुनाफे की दृष्टि से ही नपा-तुला जाता है। वास्तव में इस तरह का विचार एक जानबूझकर की गई साजिश है ।जब कोई साजिश की जाती है तो उसे साजिश मानने से इन्कार ही किया जाता है । और स्वतंत्र देश के कुछ लोग, चाहे वे शासनवर्ग के हों, शासनयंत्रणा के हों, संस्थाओं या संस्थानों से जुडे हों, जब किसी साजिश में जुटे रहतें हैं तब उनकी साजिश साबित करना करीब-करीब असंभव होता है क्यों कि लोकतंत्र के नाम से उन्हें सुरक्षा मिलती है । यह लोकतंत्र भी ऐसा बहुआयामी तंत्र है जिसका उपयोग किसी की चोरी, चालबाजी, बेईमानी तथा नादानी को छिपाने या वैधरूप से प्रतिष्ठित बनाने के लिए बडी आसानी से किया जाता है ।

उच्चशिक्षा के स्तर के बारे में केवल निर्देश दिये जा सकते हैं । उन्हें मूल्यांकित करना कठीन है । फिर भी पानी की मछली दूसरी मछलियों को ठीक पहचान लेती है, भले ही वह दूसरी मछली को ना पकडे या ना बतावे । पानी में रहकर एक मछली दूसरी मछली से बैर लेना संभव नहीं बना पाती है । अत: सभी का स्तर हमेशा के लिए ऊँचा ही रहता है जिस में सुधार या विकास की कोई गुंजाईश नहीं रहती है । जहाँ सुधार की गुंजाईश नाकाम है वहाँ गति मंद होती जाती है । पूर्ण विकसित फूल को उस के बाद मुरझा जाना है । इस तरह स्तर की बात पूरी होने के पहले ही विनिष्ट हो जाती है। लोकतंत्र ने व्यक्ति को स्वतंत्रता की पहचान दी है । इस स्वतंत्रता से व्यक्ति को अधिकार भी प्राप्त होते हैं और व्यक्ति अपने को सार्वभौम मानने लगता है । व्यक्ति का सार्वभौम होना तवतक कोई सवाल नहीं पैदा कर सकता जबतक अधिकार के साथ आयी जिम्मेदारियों को भी उसी विश्वास से पूरा किया जाता है । लेकिन समाज में बहुतसी समस्याएँ इन जिम्मेदारियों को लेकर ही आती हैं। अपने को सार्वभौम स्वतंत्र माननेवाला व्यक्ति अपनी जिम्मेदारियों में उतनी निष्ठा नहीं दिखाता जितनी अपने अधिकारों में दिखाता है। वह अपने को सार्वभौम मानता है इसलिए उसे जिम्मेदारियों की याद दिलाने से वह उसे अपने सार्वभौमत्व पर आक्रमण समझकर उस का प्रतिवाद करता है। इस तरह का व्यवहार तो पूरे समाज में ही दिखाई देता है, शिक्षाक्षेत्र इस का कोई विशेष उदाहरण नहीं है। अत: स्तर को ऊँचा उठाये रखने की कोशिश के लिए आत्मपरीक्षण, परस्पर आलोचना एवं आपसी संवाद जैसी गतिविधियाँ आवश्यक होती हुई भी संभव नहीं बन पाती हैं। इस में अगर परिवर्तन होना है तो स्वयं को इन हालतों से ऊँचा उठाना होगा। यह जिम्मेदारी प्राय: अध्यापकों की ही होती है कि वे इस परिवर्तन के मोड को शिक्षाक्षेत्र में लाएँ। समाज में व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता एवं सार्वभौमता बनाए रखने के लिए दूसरे की स्वतंत्रता एवं सार्वभौमता का सम्मान करना चाहिए तथा खुद को समाज के अधीन करना चाहिए। इस से अहं का विलय होकर झूठमूठ की करतूतों पर प्रतिबंध आएगा। लोकतंत्र में सहभागी व्यक्ति को दूसरों से स्वयं का परीक्षण करवाना होगा ताकि वह लोक का समुचित अंश बन जाए; अन्यथा वह मात्र व्यष्टितंत्र ही होकर रहेगा। लोकतंत्र की आधारभूमि व्यक्तियों से बनने के बावजूद भी लोकतंत्र की पहचान किसी भी व्यक्ति से नहीं बनती है, वह बनती है केवल 'लोक' से, जो व्यक्तियों का ऐसा समूह है जहाँ व्यष्टिगत इच्छा-आकाक्षाएँ नहीं होती हैं। शिक्षाक्षेत्र के सहभागी घटकों की यह शिक्षा प्राथमिक आवश्यकता है। तभी उस में कोई ठोस भूमिका लेने का आत्मबल उन घटकों को प्राप्त होगा और वे विधायक दिशा से शिक्षा के बढते संख्यात्मक रूप को स्तर से ऊपर उठाने में सफल हो पाएँगे। शिक्षाक्षेत्र की समस्या जटिल है और उसे अध्यापकों ने गंभीरता से न लेने के कारण वह नुक्कड की चर्चा जैसे बन गयी है। इस में परिवर्तन करना होगा और समय की सीमा में ही करना होगा नहीं तो कहना पडेगा अब पछताए क्या होत है जब चिडियाँ चुग गयीं खेत !

- सुभाषचंद्र भेलके

भौतिक विद्या तथा अध्यात्मविद्या का समन्वय

कठोपनिषद् में दो तरह की विद्याओं का उल्लेख किया गया है : भौतिक जगत् में सफलता (प्रेय) दिलाने वाली लौकिक विद्या तथा आध्यात्मिक कल्याण (श्रेय) दिलाने वाली पारलौकिक विद्या। इस तरह हमारे पूर्वजों ने जीवन के दो भेद बताये - आंतरिक जीवन और बाह्य जीवन। हमारे पूर्वजों का स्वाभाविक रुझान आंतरिक जीवन की उन्नति की ओर रहा। उन्होंने इस आध्यात्मिक जीवन जीने की कला सिखाने वाली विद्या के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसे गूढ विद्या या रहस्य विद्या कहा। परिणामतः इसे सदैव छुपाकर रखा गया। जिज्ञासु के लिए प्राथमिक अर्हताओं के तौर पर कठिन संयम की साधनायें निर्देशित की गईं। पूर्वजों की यह सारी आयोजना बहुत ही गंभीर, तर्कसंगत और सुन्दर थी किन्तु एक तो उन्होंने इस विद्या को सभी के लिए सुलभ नहीं होने दिया। दूसरे, इस पर अत्यधिक जोर देने के कारण भौतिक जगत् की समृद्धि पर से पूरा ध्यान हटा। यही सही है कि बाजार में बैठकर अध्यात्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती, इसके लिए श्रद्धा, समर्पण और गांभीर्य की आवश्यकता होती है। साधन-चतुष्टय, यम-नियम जैसे शिष्यलक्षण निश्चय ही आवश्यक हैं परन्तु आध्यात्मिक साहित्य को जन-साधारण में सुलभ न करने में, अवश्य ही त्रुटि होनी चाहिए।

आधुनिक मनीषियों विशेषकर स्वामी विवेकानंद और श्रीअरविंद ने इस त्रुटि को पहचाना। स्वामी विवेकानंद पुरातन ऋषियों की शिक्षापद्धति पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए कहते हैं - ''पुराकाल के ऋषियों के प्रति मेरी असीम श्रद्धा होते हुए भी मैं उनकी लोक-शिक्षापद्धति की आलोचना किये बिना नहीं रह सकता। ...यदि तुम किसी मनुष्य को इन शिक्षाओं को ग्रहण करने में असमर्थ समझते हो, तब तो तुम्हें उसे और भी परिश्रम से सिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए न कि कम, ताकि वह अपनी बुद्धि का विकास कर सके और इस तरह सूक्ष्मतर विषयों और समस्याओं को समझने में समर्थ हो सके।''[१]

यह दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा कि इस आध्यात्मिक शिक्षाओं को औसत आदमी

की समझ से बाहर माना गया। साधारण जनमानस के लिए तो केवल कुछ नियमों के पालन का आदेश दे कर इतिश्री समझ ली गई। ऐसी दशा में, धर्म का अर्थ एक यांत्रिक जीवन के कुछ नियत क्रिया-कलापों से किया जाने लगा। तब धर्म, जीवनी-शक्ति न रहकर, एक आदत रह गया। भाव उड गया, केवल यांत्रिक क्रियाओं का ऊपरी आवरण ही शेष रह गया।

स्वामी विवेकानंद जैसे आधुनिक महापुरुषों ने इस दोष का निवारण आम जनमानस में वेदांत की शिक्षाओं का प्रचार करके किया।[२]

बाह्य जगत् के प्रति उदासीन रहना, पूर्वजों की दूसरी गलती रही। बाह्य जगत् के अपने अनुसंधान में ऋषियों ने यहा अवश्य जाना कि बाह्य संसार के निरीक्षण की कोई सीमा नहीं है और वे अंतर जगत् की ओर झुके। उन्हें वहाँ समाधान भी मिला परंतु भौतिक उन्नति की ओर सदैव निम्न दृष्टि रखने से भारतीयों का बाह्य संसार में पर्याप्त वैज्ञानिक विकास नहीं हुआ। स्वामी विवेकानंद ने अपने जीवन के मिशन के रूप में इसे अपनाया। उन्होंने पश्चिम के भौतिक विज्ञान तथा प्राच्य के आध्यात्मिक ज्ञान में परस्पर आदान-प्रदान की बात कही।[३]

पराविद्या और अपराविद्या या भौतिक ऐश्वर्य और आध्यात्मिक कल्याण में भेद करके पूर्व और पश्चिम का जो एकांगी विकास हुआ उसका दिग्दर्शन श्री अरविंद ने भी कराया। उन्होंने लिखा है - ''युरोप में जडवादी के निषेध ने और भारत में संन्यासी के निषेध ने एकमात्र सत्य के रूप में अपनी-अपनी प्रस्थापना करने का प्रयत्न किया है और जीवन की धारणा पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा है। भारत में यदि इसके परिणामस्वरूप आत्माकी संपदाओं का, या उनमें से कुछ का ढेर लग गया है, तो साथ ही जीवन के क्षेत्र में बडा दिवालियापन भी आया है।''[४] श्री अरविंद ने जीवन जीने की दोनों शैलियों को अपूर्ण मानते हुए एक को 'जडवादी का नकार' तथा दूसरे को 'संन्यासी का इंकार', ऐसी संज्ञाएँ दीं। अपने दिव्य जीवन के दर्शन में, उन्होंने इन दोनों का समन्वय किया - ''हम भौतिक विज्ञान के सत्यों और उसकी वास्तविक उपयोगिताओं को अंतिम सामंजस्य में संरक्षित रखेंगे, भले ही उसके वर्तमान रूपों में बहुतों को या सबों को तोडना या छोडना पडे।''[५]
१९वीं और २०वीं शती की भौतिकविज्ञान की प्रगति ने, दुनिया की संस्कृतियों को पास ला दिया। ऐसे में, पश्चिम का पूर्व पर तथा पूर्व का पश्चिम पर प्रभाव

पड़ना स्वाभविक था। दोनों ओर की संस्कृतियाँ एक दूसरे की अपूर्णताओं को दूर करने में सहायक हो सकती हैं, ऐसा सार उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में निहित है किंतु दोनों जीवनशैलियों में केवल एक के चयन करने की बात रखी जाय तो इन समकालीन मनीषियों का रुझान किस ओर रहेगा, यह देखना रुचिकर रहेगा।

स्वामी विवेकानंद ने पश्चिम के भौतिक विज्ञान और भारत के आध्यात्मिक ज्ञान के परस्पर आदान-प्रदान की बात पर जोर दिया किंतु वे भौतिकवादी सभ्यता की वास्तविकता से भी भली-भाँति परिचित थे। उनके मन में जब कभी भी दोनों को लेकर द्वन्द्व उठता, वे भारत की आध्यात्मिक जीवन प्रणाली को ही चुनते। बाह्य जीवन के विकास से तात्पर्य भौतिक ऐश्वर्य से है। भौतिक विज्ञान की प्रगति ने ही जीवन की सुख-सुविधाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। अतः विज्ञान का स्वरूप जानना जरूरी हो जाता है। विज्ञान का कार्य घटनाओं के कारणों की खोज करना है। जिन घटनाओं की व्याख्या उनके कारणों के आधार पर की जा सकती है, वे ही विज्ञानसम्मत कहलाती हैं। विज्ञान का संबंध घटना-जगत् से है। वह एकसमान घटित होने वाली घटनाओं का प्रेक्षण लेकर, उनके कारणों की खोज करता है। ठीक इन्हीं परिस्थितियों में कारणों के आधार पर किसी घटना की भविष्यवाणी या पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। विज्ञान समरूप घटनाओं के आधार पर व्याख्या तो प्रस्तुत करता है, किंतु अपवादों के बारे में वह निरूपाय है। वस्तु जगत् की ऐसी व्यक्तिनिरपेक्ष तटस्थ व्याख्या ने विज्ञान को एक प्रभुता प्रदान कर दी है। युक्तिसंगत प्रतीत होनेवाली इन व्याख्याओं ने, लोगों के मन में रूढि उत्पन्न कर दी है। हर मामले में विज्ञान और वैज्ञानिकों की ही बातें प्रामाणिक मानने का एक अन्धविश्वास प्रचलित हो गया है। विवेकानंद इस पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं - ''पहले था धर्म का अन्धविश्वास अब है विज्ञान का अन्धविश्वास; फिर भी पहले के अन्धविश्वास में एक जीवनप्रद आध्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक अन्धविश्वास के भीतर से तो केवल काम और लोभ ही आ रहे हैं। वह अन्धविश्वास था ईश्वर की उपासना को लेकर और आजकल का अन्धविश्वास है महाघृणित धन, यश और शक्ति को लेकर। बस, यही भेद है।''[६] ऐसा नहीं है कि विवेकानंद ने धर्म के अन्धविश्वास को प्रश्रय दिया बल्कि वे तो भौतिक विज्ञान की अन्वेषण पद्धतियों को, धर्म के

क्षेत्र में प्रयोग करने को उत्सुक रहे, किंतु वे विज्ञान के नाम पर होने वाली भ्रान्तियों के लिए भी सावधान कर गये हैं।[७] श्री अरविंद ने भी न केवल विज्ञान, वरन् धर्म की अपूर्णताओं को भी स्वीकार करते हुए दोनों का समन्वय किया है।[८]

भारत में विज्ञान के व्यापक अनुप्रयोग को लेकर गांधी-विनोबा का मत निषेध का है; हालाँकि दोनों ही विज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। गांधीजी को तो इस बात का पक्का निश्चय था कि भारत को पश्चिम से बहुत कम सीखना है। उनका यह मानना था कि हमारे पूर्वजों ने आंतरिक और बाह्य जीवन के सारे प्रयोगों के उपरांत ही बाह्य जगत् में आत्मसंतोषी प्रवृत्ति को अपनाया - ''ऐसा नहीं था कि हमें यंत्र वगैरा की खोज करना ही नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग यंत्र वगैरा की झंझट में पडेंगे तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीति को छोड देंगे।''[९] फिर भी वे यंत्रों की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं - ''मैं मशीन का विरोधी कैसे हो सकता हूँ, जबकि मैं यह जानता हूँ कि यह शरीर भी एक यंत्र ही है। मैं मशीन के खिलाफ न होकर मशीन के पीछे चल रहे पागलपन के खिलाफ हूँ।''[१०] विनोबा ज्यादा खुला नजरिया रखते हुए विज्ञान और आत्मज्ञान के समन्वय की बात करते हैं।[११] वे बिजली को अपर्याप्त मानकर, आण्विक ऊर्जा के प्रयोग की वकालत करने की हिम्मत करते हैं, क्योंकि उनका मानना था कि शक्ति के विकेन्द्रीकरण की सामर्थ्य बिजली से कहीं अधिक आण्विक ऊर्जा में है। यह तो रही दोनों के प्रगतिशील विचारों की बात, परन्तु जनता ने जैसा इनके विचारों को समझा है, उसमें तो ये दोनों ही तकनीकी ज्ञान के खिलाफ नजर आते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति पूर्व और पश्चिम, परा विद्या और अपरा विद्या जैसे भेद अर्थ नहीं रखते। उनके लिए जीवन अविभक्त है, उसे खण्डित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः तथ्य यही है कि जीवन, भौतिक अथवा आध्यात्मिक न होकर केवल जीवन होता है, जिसमें दोनों पक्ष सम्मिलित रहते हैं। दोनों का सामंजस्य ही जीवन जीने की वास्तविक कला है, पर चूँकि एक पक्ष पर अधिक जोर देने के फलस्वरूप दूसरे पक्ष की अवहेलना होती रही, इसलिए उपर्युक्त मनीषियों को, समन्वय की बात कहनी पडी।

कृष्णमूर्ति के विचार से, परम्परा जहाँ मनोवैज्ञानिक अर्थों में

विनाशकारी है, वहीं विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र में इसका सृजनात्मक मूल्य है। परम्परा से प्राप्त तकनीकी ज्ञान, मानव की धरोहर है। कृष्णमूर्ति के समक्ष विज्ञान और अध्यात्म दोनों में किसी एक को चुनने की दुविधा उपस्थित नहीं हो सकती। फिर भी, उनके लिए भी आन्तरिक जीवन ही बाह्य जीवन का नियमन करने वाला है।

अब, प्रत्यक्ष ही विज्ञान और दर्शन की तुलना की जाए। विज्ञान और दर्शन की दृष्टियों में अंतर है। विज्ञान की दृष्टि वस्तुमूलक है। उसका अवलोकन सीमित क्षेत्र के लिए है। इसके विपरीत, दर्शन मूल प्रश्नों की व्याख्या करने की कोशिश करता है। कार्यों (घटनाओं) के कारण की खोजबीन करते हुए, दर्शन की दृष्टि, व्यक्तिमूलक हो जाती है। जगत्, जगत् में मानव का अस्तित्व, उसका प्रयोजन जैसे प्रश्न दर्शन के लिए अधिक महत्त्व के हैं। अपनी शोध-यात्रा में दर्शन ने इन प्रश्नों का समाधान भी कर लिया है। मानव-अस्तित्व की प्रयोजन-सिद्धि ही जगत् के अस्तित्व की सार्थकता है। इसे ही सभी दर्शन या अध्यात्म व्यक्ति के मोक्ष या मन की निश्चल शांति के रूप में घोषित करते हैं। ठीक यहीं, दर्शन या धर्म का विज्ञान से मुख्य भेद है। जहाँ धर्म के पास लक्ष्य है, वहीं विज्ञान इसे रिक्त। बाह्य संसार की कुशलतापूर्ण व्याख्या मानव की भौतिक सुख-सुविधाओं को तो बढाती है, पर वह मानव के मानसिक पक्ष के लिए कुछ नहीं देती। प्रेम, करुणा, नीति और सदाचार के रूप में मानव के पास जो आंतरिक जीवन का वैभव है, वस्तुतः वही व्यक्ति के कर्म-व्यवहार के लिए जिम्मेदार है। आंतरिक जीवन में इन तत्त्वों की दरिद्रता, विज्ञान की शुभ-अशुभ से निरपेक्ष शक्ति को विध्वंसकारी गतिविधियों की ओर ले जाती है। ठीक इसी स्थल पर आकर धर्म-अध्यात्म की भूमिका उजागर होती है। केवल अध्यात्म ही मानवीय मन को विवेकशील बनाने का कार्य कर सकता है। आधुनिक महापुरुषों यथा स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविंद, जे. कृष्णमूर्ति और विनोबा आदि ने, इस तथ्य को समझा और अध्यात्म और विज्ञान या पराविद्या और अपराविद्या के समन्वय में ही भावी सभ्यता का कल्याण देखा।

शोध छात्र
३४, जानकी नगर मेन,
इन्दौर (म. प्र.) ४५२००१

नवीन दीक्षित

टिप्पणियाँ

१. **विवेकानंद साहित्य**, खंड-१, तृतीय संस्करण, १९९३, अद्वैत आश्रम, पृ. ३२६
२. **विवेकानंद साहित्य**, खंड-२, तृतीय संस्करण, १९९३, अद्वैत आश्रम, पृ. ४२
३. देखिए रोमां रोलां कृत **विवेकानंद** नवम संस्करण, १९९६, लोकभारती प्रकाशन, पृ. ७३
४. **श्री अरविंद साहित्य**, खंड-७ (दिव्य जीवन), प्रथम संस्करण, १९७०, श्री अरविंद सोसायटी, पृ. ११
५. वही, पृ. २९.
६. वि. सा. खं - २ तृ. सं., अद्वैत आश्रम, पृ. ७
७. वही, पृ. २७८
८. देखिए पूर्व उद्धृत उद्धरण ५
९. गांधीजी कृत **हिन्द स्वराज्य**, १९९४, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, पृ. ५६
१०. वही, पृ. १४
११. देखिये विनोबा भावे कृत **आत्मज्ञान और विज्ञान**, छठा संस्करण, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, पृ. १३७

लेश्या और रंग

लेश्या

लेश्या जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। उत्तराध्ययन सूत्र का चौंतीसवाँ अध्ययन लेश्या के सम्बन्ध में ही है। इस अध्ययन की ६९ गाथओं में लेश्याओं का स्वरूप बतलाया गया है। कर्म के साथ आत्मा (जीव) श्लिष्ट हो जाए (या चिपक जाए) उसे लेश्या कहा गया है। स्पिनोजा जिसे उद्वेग कहता है, उसी को जैन दर्शन में लेश्या कहा गया है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में लेश्याओं का योगदान रहता है। लेश्याओं की पहचान बढ़ेगी तो व्यक्ति के व्यक्तिमत्व को पहचाना जा सकेगा। इन लेश्याओं का वर्णन अनेक रूपों में किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है -

नामाइं वण्ण-रस-गन्ध-फास-परिणाम-लक्खणं।
ठाणं ठिंइ गइं चाऊं लेसाणं लु सुणेह मे ॥२॥३४॥[१]

अर्थात् इन लेश्याओं का (वर्णन) नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य (इन द्वारों के माध्यम से) मुझ से सुनो।

लेश्याओं का वर्णन ग्यारह द्वारों के आधार पर किया गया है। उन द्वारों में वर्ण (रंग) भी है। वर्ण से पहले नाम है। नामकरण में वर्णों के नाम है। चौतीसवें अध्ययन की तीसरी गाथा -

किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठाउ नामाइं तु जहक्कमं॥३॥३४[२]

अर्थात् लेश्याओं के नाम इस प्रकार है - (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजस् (५) पद्म और (६) शुक्ल।

चौथी गाथा से लेकर नौवीं गाथा तक प्रत्येक के वर्ण (रंग) का विवेचन है। विवेचन इस प्रकार है -

चौथी गाथा : कृष्ण लेश्या वर्ण की अपेक्षा से, स्निग्ध (सज

ल काले) मेघ के समान, भैंस के सींग एवं रिष्टक (अर्थात् - कौए या अरीठे) के सदृश, अथवा खंजन (गाडी के ओंगन), अंजन (काजल या सुरमा) एवं आँखों के तारे (कीली) के समान काली है।

पाँचवीं गाथा : नील लेश्या वर्ण की अपेक्षा से नील अशोक वृक्ष के समान, चास-पक्षी की पाँख जैसी, अथवा स्निग्ध वैडूर्य रत्न-सदृश (अतिनील) है।

छठी गाथा : कापोत लेश्या वर्ण की अपेक्षा से अलसी के फूल जैसी, कोयल की पाँख सरीखी तथा कबूतर की गर्दन (ग्रीवा) के सदृश (अर्थात् कुछ काली और कुछ लाल) है।

सातवीं गाथा : तेजो लेश्या वर्ण की अपेक्षा से - हींगलू तथा धातु - गैरु के समान, तरुण (उदय होते हुए) सूर्य के सदृश्य तथा तोते की चोंच या (जलते हुए) दीपक के समान (लाल रंग की) है।

आठवीं गाथा : पद्म लेश्या वर्ण की अपेक्षा से हडताल (हरिताल) के टुकडे जैसी, हलदी के रंग सरीखी तथा सण और असन (बीजक) के फूल से समान (पीली) है।

नौवीं गाथा : शुक्ल लेश्या वर्ण की अपेक्षा से शंख, अंक रत्न (स्फटिक जैसे श्वेत रत्नविशेष) एवं कुन्द के फूल के समान है, दूध की धारण के सदृश तथा रजत (चाँदी) और हार (मोती की माला) के समान (सफेद) है।

इन छः लेश्याओं में तीन अशुद्ध तीन शुद्ध मानी गई हैं। क्रम इस प्रकार है -

अ	कृष्ण लेश्या	—	अशुद्धतम	—	क्लिष्टतम
शु	नील लेश्या	—	अशुद्धतर	—	क्लिष्टतर
भ	कापोत लेश्या	—	अशुद्ध	—	क्लिष्ट
	तेजोलेश्या	—	शुद्ध	—	अक्लिष्ट
शु	पद्मलेश्या	—	शुद्धतर	—	अक्लिष्टतर
भ	शुक्ल लेश्या	—	शुद्धतम	—	अक्लिष्टतम

कहने को ये छः प्रधान हैं किन्तु तस्तम में इनकी संख्याओं का विस्तार अधिक है।

तरंगदैर्घ्य और आवृत्ति

त्रिपार्श्व कांच से जब सूर्य का प्रकाश गुजरता है तो उससे रंगों का विभाजन होता है। वे रंग क्रमशः लाल/नारंगी/पीला/हरा/नीला/जामुनी और बैंगनी होते हैं। सब रंगों की अपनी-अपनी तरंगदीर्घता होती है। तरंगों की दीर्घता और कम्पन की आवृत्ति को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। प्रकाश तो तरंगरूप होता है। लाल रंग की तरंगदीर्घता सब से अधिक होती है और बैंगनी रंग की सब से कम। इसी तरह लाल रंग की कम्पन आवृत्ति सबसे कम होती है और बैंगनी रंग की सब से अधिक।

लेश्या सिद्धान्त का विवेचन करते हुए डॉ. शान्ता जैन ने लिखा है -

"लेश्या सिद्धान्त में तरंगदैर्घ्य और आवृत्ति संबंधी रंग से वैज्ञानिक सिद्धान्त की झलक देखी जा सकती है। कषायों के तीव्र और अल्प प्रकम्पनों के आधार पर लेश्या प्राणिमात्रा के अच्छे बुरे व्यक्तित्व को निर्धारित करती हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक 'आभामण्डल' में लिखा है कि कृष्ण-लेश्या में आवृत्ति ज्यादा और तरंगें छोटी होती हैं। नील लेश्या में तरंग की लम्बाई बढ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। कापोत लेश्या में तरंग की लम्बाई और बढ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। तेजो लेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो जाता है। पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या में पहुँचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लम्बाई मात्र रह जाती है। इस लेश्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है।"[३]

मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण को पहचानने में रंग सहायक हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. शान्ता जैन आगे लिखती हैं -

"मनुष्य और रंग दोनों आन्तरिक स्तर पर एक-दूसरे से बहुत अधिक जुडे हुए हैं। आज के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि व्यक्ति के अवचेतन स्तर को और मस्तिष्क को सब से अधिक प्रभावित करनेवाला तत्त्व है — रंग। रंग मनुष्य का स्वभाव बतला देता है। यह रहस्यवादी तथा विकृत मनवाले लोगों से प्रत्युत्तर निकलवा लेने की क्षमता रखता है। यह अन्दर के अवरोधकों को समाप्त कर आन्तरिक संवेगों को बाहर आने देता है।"[४]

लेश्याओं से सम्बन्धित रंगों को समझने में कठिनाई हो सकती है। इसका कारण लेश्याओं के ये रंग स्थूल आँखें देख नहीं सकतीं। लेश्याओं का विवेचन सहज और स्थूल रूप में प्रस्तुत करना कठिन है।

लेश्या और उद्वेग

लेश्या और उद्वेग दोनों का सम्बन्ध मनुष्य की क्रियाशक्ति से है। लेश्याओं का सम्बन्ध जैसे भावों (मावजगत्) से है, वैसे ही उद्वेगों का सम्बन्ध भी भावों से है। बात इतनी ही है कि उद्वेग व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं, इस तुलना में भाव वैयक्तिक होने पर भी वे सामाजिक अधिक हैं। इसी तरह लेश्याएँ भी व्यक्ति से अधिक सम्बन्ध रखती हैं।

लेश्या और उद्वेग दोनों ही परिवर्तनशील हैं । ये स्थिर नहीं रह सकते। इसलिए इस परिवर्तन और गति को पहचानने की आवश्यकता है। लेश्याएँ बदलती हैं तो उनसे सम्बन्धित रंग भी बदलते रहते हैं। दोनों का सम्बन्ध मनुष्य की क्रियाशक्ति के बढने और घटने से है। मनुष्य की क्रियाशक्ति बढती है तो वह सुख का अनुभव करता है और क्रियाशक्ति घटती है तो दुःखका अनुभव करता है। लेश्या और उद्वेग को तुलनात्मक रूप में स्पष्ट करने को लिए नीचे रेखांकन प्रस्तुत कर रहा हूँ। उद्वेग का स्वरूप स्पिनोजा के आधार पर प्रस्तुत कर रहा हूँ और लेश्याओं का स्वरूप जैनदर्शन के आधार पर।
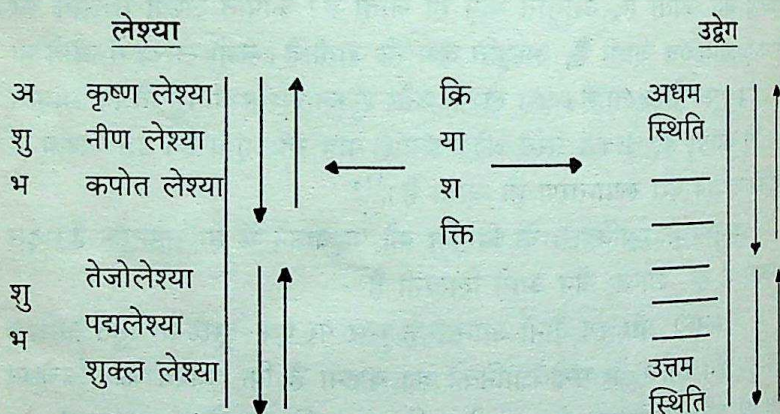
लेश्या : क्रियाशक्ति घटती है और घटने के क्रम में है तो मनुष्य की लेश्याएँ शुभ से अशुभ की ओर बढती हैं और ठीक इसके विपरीत क्रियाशक्ति बढती है या बढने के क्रम में है तो लेश्याएँ अशुभ से शुभ की ओर अग्रसर होती हैं।

उद्वेग : क्रियाशक्ति घटती है और घटने के क्रम में है तो मनुष्य के

उद्वेग उत्तम स्थिति से अधम स्थिति की ओर बढते हैं और ठीक इसके विपरीत क्रियशक्ति बढती है और बढने के क्रम में है तो उद्वेग अधम से उत्तम की ओर अग्रसर होते हैं।

उद्वेगों को व्यावहारिक स्तर पर समझाने का प्रयास स्पिनोजा ने जैसा किया है, उस तरह से लेश्याओं का विवेचन जैन दर्शन में नहीं मिलता। लेश्याओं का जो विवेचन उपलब्ध है, वह प्रतीकात्मक पद्धति का है और शास्त्रीय अधिक है। अन्य शास्त्रों से लेश्याओं का सम्बन्ध तो बतलाया जाता है किन्तु लेश्याओं का स्वतंत्र स्वरूप बतलानेवाला ग्रंथ हमें जैन दर्शन में नहीं मिलता है। अलग-अलग संदर्भों में शास्त्रीय पद्धति से लेश्याओं की परिभाषाएँ भी अलग-अलग प्रसार से की गई हैं। लेश्याओं पर स्वतंत्र पुस्तक व्यावहारिक पर (शास्त्रीय पद्धति से युक्त) नहीं मिलती। स्वयं डॉ. शान्ता जैन की पुस्तक सैद्धान्तिक अधिक है।

स्पिनोजा का चिन्तन अद्वैतवाद की ओर झुका हुआ है। इस अर्थ में भारतीय दर्शन के निकट है। लेश्याओं का चिन्तन द्वैतवादी चिन्तन है। पुद्गल (जीव) को आधार मानकर लेश्याओं का विवेचन किया गया है।

शुभ लेश्याएँ-अशुभ लेश्याएँ - ऐसा विभाजन न कर स्पिनोजा ने सीधे अधम स्थिति और उत्तम स्थिति कह दिया है। क्रियाशक्ति बढती है तो हम उत्तम स्थिति की और बढते हैं और क्रियाशक्ति घटती है तो हम अधमस्थिति की ओर बढते हैं।

लेश्याओं में ऊर्जा बतलाई गई है

सूर्य में विपुल ऊर्जा पाई जाती है। वह ऊर्जा विकीर्ण होते रहती है। सूर्य के प्रकाश का सम्बन्ध रंगों से है। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी ऊर्जा होने के कारण उससे भी प्रकाश विकीर्ण होता रहता है। शास्त्रीय और वैज्ञानिक पद्धति से इसका विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मनुष्य में जो ऊर्जा है, वह लेश्याओं के कारण है। लेश्याओं के जैसे रंग होंगे उसी हिसाब से उनमें ऊर्जा होगी। इन ऊर्जाओं के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

लेश्याएँ स्थिर नहीं रहतीं

लेश्याएँ स्थिर नहीं रहतीं, इनमें परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है। चित्त स्थिर हो तो लेश्याओं

में परिवर्तन नहीं होगा। यह सब मनुष्य की क्रियाशक्ति पर निर्भर है। क्रियाशक्ति बढेगी तो अशुभ लेश्याओं से शुभ लेश्याओं की ओर गमन होगा और इसके विपरीत भी।

बिहारी का एक दोहा है —

बढत बढत संपत्ति सलिलु मन सरोजु बढि जाइ।
घटत घटत सु ज फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ॥३३१॥

बिहारी रत्नाकर

अर्थात् सम्पत्ति-रूपी जल के बढते बढते मन-रूपी कमल बढता जाता है। किन्तु वह जिस क्रम में बढते बढते बढता है, उस क्रम में घटते घटते नहीं घटता। प्रत्युत् मूलसहित कुम्हला जाता है।

कहना यह है कि क्रियाशक्ति के बढते बढते हम सुख की ओर जैसे अग्रसर होते हैं, वैसे घटते-घटते नहीं घटते—मूल में ही कुम्हला जाते हैं।

मानस को बल प्रदान करना और क्रियाशक्ति को सजग कर पुनः उत्तमस्थिति की ओर बढना कठिन है।

अशुभ लेश्याओं की ओर अग्रसर होने पर पुनः शुभ लेश्याओं की ओर अग्रसर होना कठिन है। इसके लिए आत्मबल चाहिए। ये लेश्याएँ ही मनोविकारों से सम्बद्ध रहती हैं। मनोविकारों का परिष्कार करने से ही लेश्याओं की दिशा को बदला जा सकता है।

स्पिनोजा उद्वेग को उद्वेग ही कहता है, उसका कहना है कि उद्वेग का स्वरूप ठीक ठीक ज्ञात होगा तो उसके परिष्कार की मानसिक तैयारी भी होगी। उद्वेगों को घृणा का या निन्दा का पात्र न समझा जाए। स्पिनोजा लिखता है—

"जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक किसी ने उद्वेगों की प्रकृति और शक्ति को निश्चित नहीं किया, न यह बताया है कि मन उन्हें शासन में रखने के लिए उनके विरोध में क्या कर सकता है ? ... जो उद्वेगों और क्रियाओं को समझने की अपेक्षा उन्हें निन्दा और हँसी का विषय बनाना पसन्द करते हैं। इन लोगों के लिए यह बहुत अजीब बात होगी कि मैं मनुष्यों की बुराई और त्रुटियों का रेखागणित की विधि के अनुसार वर्णन करने का यत्न करने लगा हूँ और उन चीजों को यथार्थ युक्ति से सिद्ध करना चाहता हूँ जिन्हें वे बुद्धि के प्रतिकूल असार, अर्थहीन और घृणित समझकर फटकारते हैं। इस पर भी मेरा वह आयोजन है।"

स्पिनोजा अपने आयोजन में सफल हुआ है। उद्वेगों की पहचान बढाकर नीति का स्वरूप उसने स्पष्ट किया है। उद्वेगों के शासन का वह अनकहे ही इस तरह समर्थन कर देता है जिससे नीति-निर्धारण में सहायता मिलती है।

उद्वेगों का विवेचन जैसे स्पिनोजा ने स्पष्ट किया है, वैसे लेश्याओं का विवेचन किसी एक ग्रंथ में पूरी तरह नहीं मिलता। परम्परा से इसका विवेचन और चिन्तन हो रहा है और इस चिन्तन में शास्त्र का विवेचन ही अधिक है। और मूल बात यह कि स्थिरता और अस्थिरता के कारणों की मीमांसा नहीं मिलती।

लेश्या का स्वरूप

डॉ. शान्ता जैन ने अपनी पुस्तक **'लेश्या और मनोविज्ञान'** के उपसंहार में लेश्या का शास्त्रीय स्वरूप उजागर करने का प्रयत्न किया है। वह इस प्रकार है —

''जैनाचार्यों ने लेश्या की ज़ो परिभाषा की, उसमें निम्नांकित दृष्टिकोण मुख्य रहे हैं —

लेश्या योग परिणाम

लेश्या कषायोदयरंजित योग प्रवृत्ति है।

लेश्या कर्म निष्पद है।

लेश्या सर्मण शरीर की भाँति कर्मवर्गणा निष्पन्द कर्म द्रव्य है।

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि लेश्या का जीव और कर्म से गहरा सम्बन्ध है। लेश्या के मुख्य भेद हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या पुद्‌गलात्मक होती है और भाव लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है। मन के परिणाम शुद्ध-अशुद्ध दोनों होते हैं और उनके निमित्त भी शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार से होते हैं। निमित्त को द्रव्य लेश्या और मन के परिणाम को भाव लेश्या कहा गया है। इसीलिए लेश्या के भी दो कारण बतलाए हैं निमित्त कारण और उपादान कारण। उपादान कारण हैं — कषाय की तीव्रता और मन्दता। निमित्त कारण है — पुद्‌गल परमाणुओं का ग्रहण।

पुद्‌गल परमाणु में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सभी होते हैं। ल़ेश्या के प्रतिपादन में मुख्यता वर्ण की है। चूँकि वर्ण/रंग का मन पर सीधा प्रभाव पडता है। रंगों की विविधता के आधार पर मनुष्य के भाव,

विचार और कर्म सम्पादित होते हैं। इसलिए रंग के आधार पर लेश्या के छः प्रकार बतलाए गए हैं।

लेश्या आचरण और व्यवहार की नियामिका है। आचारण पक्ष जुडा है कषाय से और व्यवहार पक्ष जुडा है योग से। योग यानी मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। कषाय यानी आरमा के निषेधात्मक भाव। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि योग लेश्या की भूमिका बनाता है और कषाय उस पर रंग चढाता है।''[६]

डॉ. शान्ता जैन का कहना है कि लेश्या को समझने समझाने के लिए 'मनोविज्ञान' का ज्ञान सहायक है। वह यह भी कहती है कि फ्राय्रड ने जिस अर्थ में काम (sex) को प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्ति माना है, उसी अर्थ में जैन-दर्शन राग की व्याख्या करता है।

डॉ. शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में कुछ अध्याय लिखे हैं और अन्तमें उपसंहार है । अध्यायों के शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं- १. लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष, २. मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या, ३. रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, ४. लेश्या और आभामण्डल, ५. व्यक्तित्व और लेश्या, ६. संभव है व्यक्तित्व बदलाव, ७. जैन साधना पद्धति में ध्यान और रंगध्यान और लेश्या। इन आठ अध्यायों में तीन अध्याय रंग से सम्बन्धित हैं। वे हैं रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, 'लेश्या और आभामण्डल'-और 'रंगध्यान और लेश्या।'

कहा गया है कि मनुष्य के अवचेतन को प्रभावित करनेवाले तत्त्वों में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है — रंग। अवचेतन से रंग का सम्बन्ध होने के कारण रंगों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरसे है। सूक्ष्म शरीर रंगों से प्रभावित होता है।

कहा गया है कि रंगध्यान से हमारा तैजस शरीर जागता है। उसके स्पन्दन स्थूल शरीर में आते हैं। रंगध्यान के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार बतलाए गए हैं —

आध्यात्मिक गुणों का विकास, एकाग्रता की शक्ति का विकास

निषेधात्मक शक्तियों का अन्त, स्वचिकित्सा की क्षमता उपयोग में सहयोग, विचार संप्रेषण की शक्ति का जागरण।

ये रंगध्यान की परम्परा को बहुत पुरानी बतलाया गया है। जैनधर्म के महामंत्र में भी वर्णों का उल्लेख है और वह रंगध्यान का द्योतक है। महामंत्र में पाए जाने काले रंगों की तालिका इस प्रकार है[७]

पद	केन्द्र	वर्ण	निष्पति
णमो अरिन्ताणं	ज्ञान केन्द्र	श्वेत वर्ण	ज्ञान चेतना का जागरण
णमो सिद्धाणं	दर्शन केन्द्र	लाल वर्ण	शारीरिक सामर्थ्य एवं अन्तर्दृष्टि का जागरण
णमो आयरियाणं	विशुद्धिकेंद्र	पीलावर्ण	आवेग उपशमन
णमो उवज्झायाणं	आनन्द केन्द्र	नीला वर्ण	शान्ति, समाधि
णमो लोएसव्व-साहूणं	शक्ति केन्द्र	श्याम वर्ण	ग्राहक शक्ति का विकास

लेश्याएँ और साधना पद्धतियाँ

लेश्याओं का सम्बन्ध साधना पद्धतियों से है। चेतन और अचेतन, या अवचेतन के स्वरूप को समझने-समझाने में लेश्याओं की साधना आवश्यक है। लेश्याएँ अपने आपमें मनुष्य में शक्ति के केन्द्र हैं। इनको जाग्रत रखने और इनका समुचित उपयोग करने के लिए साधना पद्धतियों को जानना उपयोगी होगा। इन साधना पद्धतियों में ध्यान भी है और ध्यान में रंगध्यान विशेष है।

महामंत्र का जाप अपने आप में साधना है और उसकी महिमा के सम्बन्ध में यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

साधना से अशुभ लेश्याओं को शुभ लेश्याओं में परिणत किया जा सकता है। लेश्याएँ वशीभूत हों तो आत्मबल बढता है और व्यक्ति का विकास होता है।

लेश्याएँ अपने आप में मनोविकारों की द्योतक भी हैं और इनके आधार पर नीति-निर्धारण में सहायता मिलती है।

साधना से सिद्धि मिलती है। सिद्धि प्राप्त व्यक्ति में चमत्कृत कृत्तियाँ देखी गई हैं। सहज में इन पर विश्वास न भी करें तब भी साधना के लाभ साधक को मिलते ही हैं।

हमारा प्रयत्न लेश्याओं को समझने का हो तो धीरे-धीरे अन्य ग्रंथियाँ अपने आप खुलती जाएँगी।

५, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा
औरंगाबाद ४३१००५

राजमल बोरा

टिप्पणियाँ

१. **उत्तराध्ययन सूत्र**, डॉ. राजेंद्र मुनि, श्री तारकगुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर, पृ. ६१०

२. वही पृ. ६११

३. **लेश्या और मनोविज्ञान**, डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्वचभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण १९९६, पृ. ८४

४. वही पृ. ६५

५. **स्पिनोजा : नीति** अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९६४, ई. पृ. १०४-१०५

६. **लेश्या और मनोविज्ञान**, डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्वभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण १९९६, पृ.२०९-२१०

७. वही, पृ.२०९-२१०

वाद एवं अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास निरास

प्रस्तावित निबन्ध का उद्देश्य हेत्वाभास की न्यायसम्मत् अवधारणा का वादविधान एवं अनुमान के सन्दर्भ में शून्यवादी माध्यमिक दृष्टि से खण्डनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करना है। इस समीक्षा को हम नागार्जुन प्रणीत "वैदल्यसूत्रम्" नामक ग्रन्थ के आधार पर विवेचित करने का प्रयास करेंगे। "वैदल्यसूत्रम्" नागार्जुन प्रणीत ७२ सूत्रों में निबद्ध एक लघु ग्रन्थ है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य न्यायशास्त्र सम्मत् षोडश पदार्थों का साङ्गोपाङ्ग खण्डन है। नागार्जुन की रचनाओं में आगमपरक एवं युक्तिपरक नामक दो प्रकार की व्याख्यापद्धतियों का अनुप्रयोग देखा जाता है। सूत्रसमुच्चय ६६ प्रश्नों के साथ ६९ सूत्रों में आगमपरक व्याख्यापद्धति को प्रस्तावित करता है। वहीं, मूलमाध्यमिक कारिका आदि छः ग्रन्थों का परिवार युक्तिपरक व्याख्यापद्धति की शैली में प्रणीत हुए हैं। युक्तिपरक व्याख्यापद्धति का अनुप्रयोग साध्य एवं साधन निषेध नामक द्विविध रूप से हुआ है। मूलमाध्यमिक कारिका में जहाँ साध्यगत विप्रतिपत्तियों की प्रधानता है, वहीं वैदल्यसूत्र एवं विग्रहव्यावर्त्तनी जैसे ग्रन्थों में मुख्य रूप से साधनगत विप्रतिपत्तियों की उद्भावना की गई है। नागार्जुन द्वारा उठाये गये साधनगत विप्रतिपत्तियों को भी द्विविध सन्दर्भों में देखा जा सकता है। विग्रहव्यावर्त्तनी जैसे ग्रन्थों में सामान्य रूप से पूर्वपक्ष को विशुद्ध तार्किक प्रारूप में उठाया गया है। वहीं, "वैदल्यसूत्रम्" में विशेष रूप पूर्वपक्ष को ऐतिहासिक रूप में उठाया गया है। उदाहरण के लिए, वैदल्यसूत्र के आरम्भिक पंक्तियों[१] में ही यह कहा गया है कि तर्क और ज्ञान के अभिमान से जो वाद करना चाहते हैं, उनके अहंकार नाश के लिए मैं (नागार्जुन) वैदल्यसूत्र की रचना कर रहा हूँ। इसे प्रतिज्ञावचन में "यः" पद से निश्चित रूप में न्यायसूत्रकार गौतम एवं उनके अनुयायियों को लक्षित किया गया है, क्योंकि इसके बाद सम्पूर्ण ग्रन्थ न्यायसम्मत् षोडश पदार्थों के क्रमशः खण्डन में प्रणीत हुआ है। अतः वैदल्यसूत्र का महत्त्व इस बात में निहित है कि माध्यमिक सम्प्रदाय का यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें परयुथ्य खण्डन के लिए विप्रतिपत्तियों को

ऐतिहासिक पूर्वपक्ष के रूप में उठाया गया है। वैदल्यसूत्रकार के समक्ष कितने न्यायसूत्र उपस्थित थे, इस सन्दर्भ में यह ग्रन्थ न्यायसूत्रों की रचना प्रक्रिया एवं इतिहास पर भी कुछ एक गम्भीर एवं ऐतिहासिक प्रश्नों को उत्थापित करता है। प्रसंगवश यह समस्या यहाँ विचारणीय नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में हम अपनी विवेचना को वैदल्यसूत्रानुसारी न्यायसम्मत् षोडश पदार्थों के खण्डन तक विस्तृत न करते हुए केवल 'हेत्वाभास' नामक पदार्थ के खण्डन तक अपने को सीमित रखेंगे। न्यायदर्शन में हेत्वाभास की अवधारणा का वादप्रक्रिया एवं प्रमाण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रमाण दृष्ट्या अनुमिति के सन्दर्भ में हेत्वाभास असद् हेतु के रूप में वैध अनुमान के फलन को दूषित करता है, वहीं वाद के प्रसंग में हेत्वाभास निग्रहस्थान है, जो वादी या प्रतिवादी के समक्ष पराजय प्रसंग को उपस्थापित करता है। ध्यातव्य है कि न्यायसम्मत् सभी हेत्वाभास वाद विधान के अन्तर्गत ''निग्रहस्थान'' भी स्वीकार किये गये हैं। अतः एक ही हेत्वाभास को वाद प्रक्रिया एवं अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में दो प्रकार से दोष माना जा सकता है। प्रश्न उठता है कि हेत्वाभास जिस रूप में अनुमान का दोष है, उसी रूप में वह निग्रहस्थान भी होता है या निग्रहस्थानीय हेत्वाभास कुछ विशिष्टताओं को लिए रहता है। यद्यपि न्यायदर्शन में परम्परागत रूप से इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है, क्योंकि प्रमाण के सन्दर्भ में और वाद के सन्दर्भ में हेत्वाभास इसीलिए दोष रूप में प्रसक्त होता है कि इसके होने से यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः यहाँ केवल सन्दर्भ भेद है, स्वरूप भेद नहीं। तथापि यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक दोषयुक्त हेतु अनुमान को दूषित कर देता है, लेकिन प्रत्येक दूषित अनुमान असद् हेतु के साथ वाद को भी दूषित कर दे, यह आवश्यक नहीं, क्योंकि वाद प्रक्रिया से पृथक् रूप में भी अनुमान प्रमाण का विनियोग सम्भव है। यदि अनुमान को वाद का अंग बना कर प्रयुक्त किया जाय तो आवश्यक रूप से हेत्वाभास से दूषित अनुमान वाद को भी दूषित कर देगा। इस तरह यदि वादी और प्रतिवादी में कोई एक दूषित अनुमान को प्रयुक्त करता है, और दूसरा पक्ष इस बात को घोषित कर दे, तभी हेत्वाभास से दूषित अनुमान को वाद प्रक्रिया में निग्रहस्थान कहा जा सकता है। वादी या प्रतिवादी के द्वारा घोषित न होने पर यह एक प्रकार से छल हो जायेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त बातों को केवल हेत्वाभास के सन्दर्भ में भेद होने

से उचित कहा जा सकता है, लेकिन दोनों प्रसंगों में हेत्वाभास का स्वरूप समान ही होता है। इसीलिए न्यायसूत्रकार गौतम ने ''हेत्वाभासाश्च यथोक्ता''[३] कहकर अनुमान और निग्रहस्थान के रूप में हेत्वाभास का पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं किया है। उनके अनुसार अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास जिस रूप से स्वीकार किये गये हैं, उसी स्वरूप में वे सभी निग्रहस्थान भी हैं। अतएव नागार्जुन द्वारा हेत्वाभास का खण्डन, अनुमान एवं निग्रहस्थान दोनों के सन्दर्भ में हेत्वाभास का निराकरण करता है। **अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास के खण्डन से सद् और असद् हेतु का विवेक सम्भव नहीं** और तब वाद प्रक्रिया में हेत्वाभास बताकर वादी या प्रतिवादी को निग्रहीत नहीं किया जा सकता। ऐसा इसलिए सम्भव है, क्योंकि नागार्जुन ने न्यायसम्मत् हेत्वाभास की अवधारणा पर संशोधनात्मक रूप से विचार नहीं किया है, जैसा कि दिङ्नाग, धर्मकीर्ति इत्यादि बौद्ध नैयायिक करते हुए प्रतीत होते हैं, बल्कि नागार्जुन हेत्वाभास का स्वरूपतः और स्वभावतः खण्डन करते हुए हेत्वाभास की सम्भावना का ही निराकरण करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार हेतु का लक्षण न घटने पर जब वस्तुतः अहेतु ही हेतुसादृश्य के कारण हेतु के समान आभासित होते हैं, तो ''हेत्वाभास'' कहलाते हैं।[४] नागार्जुन के अनुसार ऐसे सभी हेत्वाभास जिनकी गणना पाँच[५] प्रकारों में की गई है, उन पर विचार तभी सम्भव है, जब साधर्म्य, वैधर्म्य और उनका अधिकरण स्वभावतः मान्य हों। ये ही आधारभूत तत्त्व हेत्वाभास की सम्भावना को सुनिश्चित कर सकते हैं, परन्तु परीक्षा करने पर इनकी स्वभावतः सिद्धि नहीं होती। अतः हेत्वाभास का विचार ही विचारासह्य है।

नागार्जुन हेत्वाभास के खण्डन से पूर्व स्वयं अपने विरुद्ध एक रोचक पूर्वपक्ष का अध्याहार करते हुए कहते हैं कि कोई प्रतिवादी यह कह सकता है कि आपके सभी हेतु हेत्वाभास मात्र हैं। इस पूर्वपक्ष को यदि वैदल्यसूत्रों की अन्विति में देखा जाय तो ४१वें एवं ४२वें सूत्र में हेतु का निषेध करते हुए सभी हेतुओं को हेत्वाभास कहा गया है। पुनः कोई भी खण्डन स्वयं हेतुपूर्वक ही सम्भव है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो खण्डन ही आधारविहीन हो जायेगा। अतः नागार्जुन हेतु का खण्डन करते हुए कम से कम हेत्वाभास नामक एक तार्किक कोटि को स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ही हेत्वाभास की अवधारणा का सम्पूर्ण खण्डन निहित है। नागार्जुन के अनुसार हेत्वाभास सम्भव नहीं, क्योंकि तथाकथित सद् हेतु और असद् हेतु के मध्य साधर्म्य एवं वैधर्म्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[६] दूसरे शब्दों में हेत्वाभास की दो स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो वह सद् हेतु के सदृश्य होगा या असदृश्य होगा, परन्तु उभयविध विकल्प सिद्ध नहीं किये जा सकते।

यदि प्रथम विकल्प को लिया जाय कि हेत्वाभास तथाकथित हेतु के सदृश हुआ करता है तो वह उन सभी गुण-लक्षणों से युक्त होगा जो वस्तुतः एक हेतु में होते हैं। ऐसी स्थिति में उसे किस प्रकार हेत्वाभास की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है ? वास्तव में हेतुत्व का आत्मलाभ होने से जो हेतु है, वह कभी हेत्वाभास नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए परीक्षित सुवर्ण कभी भी सुवर्णाभास नहीं होता है।

यदि दूसरे विकल्प को लिया जाय कि हेत्वाभास तथाकथित हेतु से विसदृश होता है तो उसमें हेतु के गुण-लक्षणों का सर्वथा अभाव होगा। ऐसी स्थिति वह हेतु ही नहीं होगा और तथाकथित हेतु से किञ्चित् भी सादृश्य के अभाव में उसे किस प्रकार हेत्वाभास कहा जाना सम्भव होगा। उदाहरण के लिए मृत्तिका जो सुवर्ण नहीं है, वह सुवर्णाभास नहीं हो सकता। अतः स्वभाव से प्रच्युत हेतु कभी हेतु के समान नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों विकल्पों के अतिरिक्त नागार्जुन एक तीसरे विकल्प को भी हेत्वाभास खण्डन के लिए प्रस्तावित करते हैं। यह कहा जा सकता है कि हेतु के स्वभाव में रूपान्तरण से कोई हेतु हेत्वाभास रूप हो सकता है। यदि इस विकल्प को विवेचित किया जाय तो इसके भी दो पक्ष हो सकते हैं।

यदि प्रथम पक्ष को लिया जाय तो कहा जा सकता है कि रूपान्तरित होकर तथाकथित हेतु अपने स्वभाव से विसदृश कुछ विरोधी धर्मों को अवाप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति रूपान्तरित हेतु वह नहीं रह जायेगा जो वह था, बल्कि कुछ और ही हो जायेगा, जो वह नहीं था। अतः विसदृश धर्मों को अवाप्त कर कोई हेतु हेत्वाभास रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता है।

यदि दूसरे पक्ष को लिया जाय कि रूपान्तरित हेतु कुछ अपने स्वभाव से सदृश धर्मों को अवाप्त कर हेत्वाभास रूप में प्रस्तुत होता है, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि ऐसी स्थिति में रूपान्तरित हेतु रूपान्तरित होकर भी

वही रहेगा जो वह पहले से था। अतः सदृश धर्मों में तथाकथित हेतु का रूपान्तरण, उसे हेत्वाभास रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता है।

इस प्रकार नागार्जुन के इस सूत्र की व्याख्या से दो बातें सामने आती हैं। प्रथम यह कि सद् हेतु सिद्ध नहीं है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी हेतुओं को हेत्वाभास स्वीकार कर लिया जाय। दूसरा यह कि हेतु और हेत्वाभास में साधर्म्य या वैधर्म्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इसके पश्चात् नागार्जुन अनेकान्तिक या सव्यभिचारी हेत्वाभास का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिसमें व्यभिचार का अभाव है, वही अव्यभिचारी होता है।[७] तात्पर्य यह है कि यदि हेतु के स्वभाव में व्यभिचार नहीं है तो वह कभी भी सव्यभिचारी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता। यदि वह स्वभाव का परित्याग कर देता है तो वह हेतु ही नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में उसका सव्यभिचारी होना असम्भव है। अतः हेतु और अ-हेतु नामक दो ही विकल्प सम्भव हैं, और दोनों ही विकल्पों में सव्यभिचार नामक हेत्वाभास की सम्भावना नहीं बनती है।

यदि पूर्वपक्षी सव्यभिचार की सम्भावना को प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि सव्यभिचार से युक्त होना किसी हेतु का स्वभाव ही होता है। अर्थात् सव्यभिचारी हेतु होते हैं[८] जैसे 'अमूर्तत्व' सव्यभिचारी हेतु है, क्योंकि वह नित्य आकाश और अनित्य कर्म आदि दोनों में रहता है। इसी तरह सामान्य और विशेष भी सव्यभिचारी हैं, क्योंकि वे नित्य परमाणु और अनित्य घट आदि में विद्यमान होते हैं।

नागार्जुन पूर्वपक्ष के प्रस्ताव का खण्डन करते हुए कहते हैं कि न तेषां तदन्यत्वात्। तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरण उचित नहीं हैं। वस्तुतः उनमें एक ही और समान हेतु नहीं बल्कि दो भिन्न हेतुओं का निर्देश किया गया है। आकाश की भाँति अनुत्पन्न धर्मों में विद्यमान अमूर्तत्व और कर्म आदि उत्पन्न धर्मों में विद्यमान अमूर्तत्व को समान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उत्पन्नता और अनुत्पन्नता परस्पर विरोधी गुण हैं। कर्म आदि का अमूर्तत्व कर्म के उत्पन्न और विनष्ट होने के साथ-साथ उत्पन्न और विनष्ट होता है, परन्तु आकाश में रहने वाला अमूर्तत्व ऐसा नहीं है। आकाश की अमूर्तता आकाश के नित्य होने से नित्य है, जबकि कर्म की अमूर्तता ऐसी नहीं है। अतः प्रतिवादी के पक्ष से सव्यभिचार को बताने वाला

उदाहरण वास्तव में सव्यभिचारी हेतु को सिद्ध नहीं करता है। यदि एक ही और समान अमूर्तत्व आकाश के सन्दर्भ में नित्यता को सिद्ध करता और वही कर्म के सन्दर्भ में अनित्यता को सिद्ध करता, तभी ऐसे अर्मूतत्व हेतु को सव्यभिचारी हेतु कहा जा सकता था, लेकिन प्रकृत में यहाँ दो अलग-अलग प्रकार की अमूर्तताएँ हैं, जिनसे दो भिन्न प्रकार के साध्य का साधन हो रहा है। परमाणु और घट के सन्दर्भ में दिया गया सामान्य और विशेष हेतु के सव्यभिचार में भी उपयुक्त प्रकार का भेद ही विवक्षित है।

नागार्जुन एक दूसरी युक्ति ''सर्व क्षणिकम्''[९] के आधार पर भी सव्यभिचारी हेतु का खण्डन करते हैं। इस युक्ति के अनुसार तर्कतः साधन या दूषण को उस वस्तु के लिए प्रयुक्त ही नहीं किया जा सकता, जिसका साधन या दूषण किया जाना है, क्योंकि क्षणिकता की दृष्टि से वस्तु जिस क्षण उत्पन्न होती है, उसी क्षण उसका नाश भी हो जाता है। साधन और दूषण के लिए प्रयुक्त हेतु और साध्य तथा दृश्य का सहावस्थान हुए बिना साधन और दूषण दोनों ही व्यर्थ हैं। क्षणिकवाद में ऐसा सहवस्थान सम्भव नहीं होने के कारण किसी हेतु को सव्यभिचारी भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

नागार्जुन द्वारा सव्यभिचारी हेत्वाभास के उपर्युक्त खण्डन के प्रति पूर्वपक्ष की ओर से यह कहा जा सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि सव्यभिचारी हेत्वाभास सम्भव नहीं, लेकिन स्वयं नागार्जुन कृत सव्यभिचार के खण्डन से ही ''विरुद्ध'' नामक हेत्वाभास की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए हम नैयायिक सव्यभिचार हेत्वाभास को स्वीकार करते हैं और नागार्जुन यह कहते हुए उसका खण्डन करते हैं कि यदि हेतु की परिभाषा ''साध्यसाधनं हेतुः'' है तो वह सव्यभिचारी नहीं हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी नैयायिक और प्रतिपक्षी नागार्जुन के अभ्युगम में ही विरोध होने से ''विरुद्ध हेत्वाभास'' की सिद्धि होती है।[१०]

नागार्जुन इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ''पूर्व'' और ''अपर'' भाव होने से विरुद्धत्व दोष की सम्भावना ही नहीं बनती है।[११] तात्पर्य यह है कि पक्ष और प्रतिपक्ष में पूर्वापर भाव होता है। क्षणिकवादी दृष्टि से जब पूर्व के समय पर नहीं और पर के समय पूर्व नहीं तो पूर्व और अपर में विरोध प्रतिपादित होने के लिए अवसर ही कहाँ है ? इस युक्ति को हेतु और प्रतिज्ञा के परस्पर सम्बन्ध पर भी प्रयुक्त किया जा सकता है। हेतु की स्थिति या

तो प्रतिज्ञा के पूर्वक्षण में हो सकती है या उसकी क्षणस्थायी स्थिति उत्तर क्षण में हो सकती है। दोनों ही स्थितियों में हेतु और प्रतिज्ञा का सम्बन्ध ही नहीं बनता है तो किस प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता कि हेतु प्रतिज्ञा का विरोधी है? हेतु और प्रतिज्ञा का तुल्यकाल में सहवस्थान क्षणिकवादी दृष्टि से सम्भव नहीं है। अतः विरुद्ध नामक हेत्वाभास सम्भव नहीं है।

नागार्जुन कृत हेत्वाभास (विरुद्ध) के प्रति पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि आपके खण्डन से ही "कालातीत" नामक हेत्वाभास की स्वीकृति परिलक्षित होती है। आपके खण्डन का निहितार्थ यह है कि यदि कोई हेतु प्रतिज्ञा के पूर्वकाल में उपस्थित होता है और उपस्थित होते ही विनष्ट हो जाता है, तो ऐसे हेतु के द्वारा उस प्रतिज्ञा का साधन या दूषण नहीं हो सकता, क्योंकि उसका काल बीत चुका है, अर्थात् वह कालात्यय से युक्त हो गया है। ऐसा हेतु ही हमारे (नैयायिक) मत में "कालात्ययापदिष्टः कालातीत" हेत्वाभास कहा गया है। अतः पूर्व-अपर काल की दृष्टि से जो विरुद्ध हेत्वाभास का खण्डन किया गया है, उससे कालातीत नामक हेत्वाभास की सिद्धि होती है।[१२]

नागार्जुन पूर्वपक्ष के द्वारा प्रस्तावित कालातीत नामक हेत्वाभास की परीक्षा करते हुए कहते हैं कि आत्मभाव से प्रच्युत धर्म ही अतीत कहलाता है। ऐसा धर्म, चाहे वह काल हो, चाहे हेतु, उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती है। प्रतिपक्षी की विचार-योजना में किसी वस्तु से ही सम्बन्धित होकर काल भूत, वर्तमान और भविष्य में विभाजित होता है और प्रागभाव, भाव और प्रध्वंसाभाव के रूप में वस्तु तीनों कालों से सम्बन्धित रहती है। घट का घटरूप में भाव वर्तमान काल है। घट का मृत्तिका रूप में भाव भूत काल है। भग्नावशेष रूप घट भविष्यत् काल है। प्रश्न उठता है कि क्या तीनों कालों की सत्ता निरपेक्ष है ? वास्तव में मृत्तिका पिण्ड (भूत) और घट (वर्तमान) के सन्दर्भ में ही भग्नावशेष घट को भविष्य कहा जा सकता है। इसी तरह भग्नावशेष घट के सन्दर्भ में ही मृतिका पिण्ड एवं घट को भूत कहा जा सकता है। अतः भूत, वर्तमान एवं भविष्य की सत्ता एक-दूसरे के सापेक्ष हैं। परन्तु विचार करने पर विदित होता है कि जब घट का भग्नावशेष रहता है तो मृतिका और घट नहीं होते हैं, अविद्यमान् मृत्तिका और घट के

सन्दर्भ में भग्नावशेष को भविष्य नहीं कहा जा सकता है। अतः भविष्य की सत्ता नहीं है, क्योंकि जिनके सन्दर्भ में भविष्य को भविष्य कहा जाना सम्भव है, अर्थात् भूत और वर्तमान, वे ही वहाँ नहीं होते हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि भूत और वर्तमान की सत्ता है, क्योंकि एक ओर भूत और वर्तमान की सत्ता परस्पर एक-दूसरे के सापेक्ष ही सम्भव है तो दूसरी ओर जब भूत है तो वर्तमान नहीं और जब वर्तमान है तो भूत नहीं। इस प्रकार जब भूत की सत्ता ही तर्कतः असंगत है तो अनस्तित्ववान् भूत से सम्बन्धित कोई कालातीत हेतु की अवधारणा ही कैसे की जा सकती है, जिसे पूर्वपक्षी ''कालातीत'' हेत्वाभास कहता है।

वस्तुतः नागार्जुन की परीक्षा का निहितार्थ यह है कि अतीत हेतु और अतीत काल, जो बीत चुका है, की सत्ता नहीं है।[१३] वास्तव में इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कानों के द्वारा हेतु सुने जाते हैं लेकिन सुनाई पड़ते ही वे विगत हो जाते हैं, और उनका विगत हो जाना ही आत्मभाव से प्रच्युत हो जाना है। यहाँ ध्यातव्य है कि काल सदैव किसी वस्तु के सम्बन्ध में ही निर्देशित होता है। वस्तु से निरपेक्ष काल का विधान नहीं किया या सकता। इस प्रकार अतीत काल और कालातीत हेतु की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार नागार्जुन हेत्वाभास की अवधारणा की ऐसी परीक्षा करते हैं, जिससे वाद एवं अनुमान दोनों ही सन्दर्भों में हेत्वाभास का वैय्यर्थ फलित होता है। ध्यातव्य है कि नैयायिकों के लिए सद् हेतु की तरह हेत्वाभास भी ''तत्त्वनिर्णय'' तथा ''विजय'' का प्रयोजक है।[१४] अनुमान के सन्दर्भ में हेत्वाभास का निराकरण करते हुए नागार्जुन एक ऐसी स्थिति को प्रस्तावित करते हैं, जिसमें सद् हेतु और असद् हेतु का विवेक ही अनिर्धार्य हो जाता है। एतद्विषयक अनिर्धार्यता अनुमान के द्वारा तत्त्वनिर्णय को असम्भव बना देता है। पुनः जब सद् हेतु और असद् हेतु का विवेक करते हुए हेत्वाभास को निश्चित रूप से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता तो वाद प्रक्रिया में किस प्रकार हेत्वाभास बताकर किसी वादी या प्रतिवादी के समक्ष पराजय प्रसंग को उपस्थापित किया जाना सम्भव होगा ? इस तरह नैयायिकों का निग्रहस्थान ही स्वयं निग्रहीत हो जाता है। इस पूरी परीक्षा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात

यह है कि नागार्जुन कोई अपना पक्ष नहीं रखते। वस्तुतः पक्षहीनता ही तो प्रसज्यप्रतिषेधवादी शून्यता की निष्पक्षता है।

डा. अम्बिका दत्त शर्मा

रीडर, दर्शनशास्त्र,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. **वैदल्यसूत्रम्,** सैम्बा दोरजे (तिब्बती से पुनर्रचित) तिब्बती हिन्दी केन्द्र वाराणसी, १९७४ - तर्कज्ञानाभिमानेन वादं यः कर्त्तुमिच्छति। तस्याहंकारहानाय वच्मि वैदल्यसूत्रकम्॥

२. यद्यपि परम्परागत रूप से वैदल्यसूत्र को नागार्जुन की कृति के रूप में स्वीकार किया जाता है, तथापि फरनेन्डो टोला एवं कारमेन ड्रैगोनेट्टी ने अपने वैदल्यसूत्र के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में वैदल्यसूत्र को नागार्जुन की रचना होने पर कतिपय प्रश्नचिह्नों को खडा किया है। दृष्टव्य **वैदल्य प्रकरण,** अंग्रेजी अनु. मोतीलाल बनारसीदास - १९९५.

३. **न्यायसूत्र,** ५/२/२५ - हेत्वाभासाश्च यथोक्ता॥

४. **न्यायभाष्य,** १/२/४ - हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतु-वदाभासमानाः।

५. **न्यायसूत्र,** १/२/४ - सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्य समकालातीता हेत्वाभासाः।

६. **वैदल्यसूत्रम्,** वही - ५७ - - सन्ति हेत्वाभासाः, साधर्म्यवैधर्म्या-भावात्।

७. वही - ५८ - व्यभिचाराभावेऽव्यभिचारित्वम्।

८. वही - ५९ - सव्यभिचारी हेतुर्भवतीति चेत्। न तेषां तदन्यत्वात्।

९. वही - ६० - क्षणिकत्वात्।

१०. वही - ६१ - त्वदुक्ताः सर्वेहेतुवो विरुद्धाः, न तु सव्यभिचाराः।

११. वही - ६२ - न विरुद्धत्वं, पूर्वापरभावात्।

१२. वही - ६३ - अतीतस्त्वतीताः, अतीतन्यातीतत्वात्। नास्त्यतीता नामतीतत्त्वम्।

१३. वही - ६५ - अतीतो हेतुः कालो वा नास्ति, असम्भवात्।

१४. **तत्त्वचिन्तामणि,** गंगेश उपाध्याय - अथ हेत्वाभासस्तत्त्वनिर्णय-

विजयप्रयोजकत्वान्निरूप्यन्ते।

हम प्रो. दयाकृष्ण जी के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करते हैं कि उन्होंने न्यायसूत्र एवं वैदल्यसूत्र के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करने के लिए प्रेरित किया और सामग्री भी उपलब्ध करायी। यह निबन्ध उन्हीं की प्रेरणा का फलित है।

प्राण की यज्ञरूपता

यजुः ऋक् और साम - इन तीनों वेदों की सन्निविष्टि से यज्ञ का स्वरूप बनता है। ये तीनों वेद वाक् हैं। यज्ञ प्राणप्रधान है। प्राण और वाक् सर्वदा साथ में संयुत रहते हैं। ये दोनों अयुतसिद्ध[1] हैं। यजुरादि तीनों वेद यज्ञ का प्रत्रवस्थान एवं कर्मस्थान हैं। यज्ञ के त्रिवेद स्वरूप होने के कारण उसे 'त्रिधातु' कहा जाता है। इस सृष्टि में दृष्टिगोचर हो रहे समस्त पदार्थ प्राणस्वरूप हैं। प्राण मन के प्रकाश में विद्यमान् है और इन प्राणों के आधार पर तेजस्वरूप वाक् रहता है। मन, प्राण और वाक् की समष्टि ही प्रजापति कहलाता है। प्रजापति के मन का प्राण में जाना, प्राण का वाक् में जाना और पुनः वाक् का मन में जाना ही यज्ञ कहलाता है। क्रियास्वरूप प्राण मुख्य है तथा मन और वाक् उस प्राण के सदा पार्श्व में रहने वाले दो स्थायी तत्त्व हैं।

प्राण का स्वरूप

प्राण प्रतिपल क्रियाशील है। जागतिक क्रिया प्राण के कारण होती है। प्राण ही एक वस्तु का अन्य वस्तु से सम्बन्ध करवा कर उसमें कम्पन अर्थात् क्रिया उत्पन्न करवाता है। जिस वस्तु में क्रिया होती है उस से कुछ प्राण का भाग निकल जाता है। हम लोगों द्वारा काफी देर तक कार्य करने के पश्चात् शिथिल होना प्राण की न्यूनता के कारण होता है। इस प्रकार समस्त क्रियाएँ प्राण का विकार ही सिद्ध होती हैं। परस्पर टकराने पर वस्तुओं में शब्द उत्पन्न होता, स्पर्श का अनुभव होना, रक्त पीतादि रंगों का बोध होना इत्यादि पञ्चभूतों के लक्षण प्राण में घटित नहीं होते। प्राण विघरणंशक्ति अथवा आसञ्जनशक्ति (आकर्षणशक्ति) के द्वारा परमाणुओं को बांध कर वस्तु को स्थूल आकार प्रदान करता हैं। प्राण मूलमात्रा के बिना कभी नहीं रहता। प्राण के कारण ही मन प्राणियों के शरीर में बन्धा हुआ रहता है। प्राण विसारी धर्म वाला होने के कारण अल्पप्रदेशव्यापी होकर भी बहुप्रदेशव्यापी हो जाता है। प्राण का प्रत्येक कार्य मन की आज्ञा से होता है। मन के सो जाने पर भी प्राण कभी भी नहीं सोता। प्राण न तो कभी थकता है और न ही विश्राम

करना चाहता है। संक्रमण करता हुआ प्राण एक वस्तु से दूसरी वस्तु में चला जाता है। वह चलते-चलते रुक जाता है और थोडी देर बाद पुनः चलने लगता है।

प्राणसृष्टि

प्राण मन की इच्छा से नाना जाति वाले असंख्य रुढतत्त्व के रूप में उद्‌भूत हुआ है। प्रत्येक रूढतत्त्व, जो कि दूसरे रुढतत्त्व से बिना मिले पृथक् रूप धारण करते हैं, इन सबको ऋषि कहते हैं। यद्यपि प्राण ही ऋषि कहलाते हैं, तथापि प्राण की दो अवस्थाएँ हैं रूढ और यौगिक। इनमें रूढप्राण को ही ऋषि कहते हैं। यौगिक अवस्था होने पर इन्हीं रूढ रूपी ऋषियों का स्वरूप परिवर्तन होता है। ऋषियों के योग से पितर उत्पन्न होते हैं, फिर पितृप्राण के योग से देव और असुर उत्पन्न होते हैं, उनके पश्चात् मनुष्य और गन्धर्व उत्पन्न होते हैं। समस्त ऋषि, पितर, देव, असुर, मनुष्य और गन्धर्व ये सब प्राण के ही भेद हैं।

इन्द्रियों में प्राण की श्रेष्ठता

प्राण आशा से बढकर है। प्राण पिता है।[२] प्राण ही सब कुछ है।[३] वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये पांचों भिन्न-भिन्न देवता होने पर भी पांचों ही अग्नि रूप से प्रज्ञा में स्थित हैं। प्रज्ञा और इन पाँचों देवताओं के मेल से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की उत्पत्ति में एक प्रज्ञा और दूसरा पांचों देवताओं में से एक देवता - ये दोनों ही सहकारी हैं। वाक् आदि पाँचों इन्द्रियों में प्राणेन्द्रिय ही श्रेष्ठ है।[४] मन इन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों का आयतन है। चक्षु इन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। वागिन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों में वरिष्ठ है और श्रोत्रेन्द्रिय शेष चार की सम्पति है। सामान्यतया समस्त इन्द्रियाँ प्राण कहलाती हैं।[५]

तात्पर्य यह है कि पांचों इन्द्रियों में प्रत्येक इन्द्रिय शेष चारों इन्द्रियों से उपयोग रखती है और सहकारिणी होती है, क्योंकि ये पाँचों ही इन्द्रियाँ कुछ न कुछ क्रिया करती हैं अर्थात् कतिपय व्यापार के अनन्तर ही ज्ञान का उत्पादन करने में समर्थ होती हैं। यह क्रिया करना प्राण के सम्बन्ध से होता है, ज्ञान अक्रिय है। यदि इन पाँचों में प्राण का सम्बन्ध हटा दिया जाय तो किसी भी इन्द्रिय से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि पाँचों ही इन्द्रियाँ प्राण पर आश्रित हैं। इसलिए प्राण को समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ माना जाता है।

समस्त इन्द्रियाँ प्राणबन्धन से बद्ध हैं। श्रुति भी यही कहती है -

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहृयः षड्वीशशङ्कून्संखिदेदे-वमितरान्प्राणान्समखिदत्तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति।[६]

प्राण और उद्गीथ रूप ओङ्कार का तादात्म्य

प्राणविषयक एक रोचक आख्यान छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में उद्धृत है। एक बार देवताओं ने असुरों को परास्त करने के लिये, नासिका में रहने वाले प्राण रूप में, उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार अक्षर की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे पापविद्ध कर दिया, इसलिए नासिकाप्राण पाप सन्निविष्ट होने के कारण सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों को सूँघता है। पुनः देवताओं ने मुख्य प्राण की उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार अक्षर के रूप में उपासना की। मुख में रहने वाला प्राण ही 'मुख्यप्राण' कहलाता है।[७] उस मुख्यप्राण के समीप पहुँच कर असुर गण ठीक उसी प्रकार ध्वस्त हो गये जिस प्रकार दुर्भेद्य पाषाण के पास पहुँच कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार मिट्टी का ढेला दुर्भेद्य पाषाण को प्राप्त होकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह व्यक्ति नाश को प्राप्त हो जाता है जो प्राणोपासक पुरुष के प्रति पापाचार की कामना करता है अथवा उसको कोसता है या मारता है, क्योंकि यह प्राणोपासक अभेद्य पाषाण ही है - स एषोऽश्माखणः।[८]

लोक इस मुख्यप्राण के द्वारा न तो सुगन्ध को जानता है और न दुर्गन्ध को जानता है, क्योंकि यह पाप से पराभूत नहीं है। अतः यह जो कुछ खाता-पीता है उससे अन्य प्राणों (इन्द्रियों) का पोषण होता है। अन्तकाल में इस मुख्यप्राण को प्राप्त न होने के कारण ही घ्राणादि पापसमूह उत्क्रमण करता है और इसी कारण अन्तकाल में पुरुष मुख फाड देता है।

इस मुख्यप्राण की अनेक ऋषियों ने उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार रूप में उपासना की है। अङ्गिरा ऋषि ने इस मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार की उपासना की थी, अतः इस प्राण को ही आङ्गिरस कहा जाता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गों का रस है।[९] ऋषि बृहस्पति ने इस मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ संज्ञक ओङ्कार की उपासना की है। लोग इस प्राण को ही बृहस्पति मानते हैं, क्योंकि वाक् ही बृहती है और यह उसका पति है।[१०] ऋषि आयास्य ने इस मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ रूप ओङ्कार की उपासना की है। लोग इस

प्राण को ही आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह आस्य अर्थात् मुख्य से निकलता है।[११] दल्भ के पुत्र बक ने प्राणमय उद्गीथ रूप ओङ्कार की उपासना की। वह नैमिषारण्य में जाकर यज्ञ करने वालों का उद्गाता हुआ और उसने उनकी कामनापूर्ति के लिए उद्गान किया। इस प्राणमय उद्गीथ रूप ओङ्कार को जानकर जो पुरुष उपासना करता है वह कामनाओं का आगान करने वाला होता है। इसे ही अध्यात्म-उपासना कहते हैं -

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम्।[१२]

प्राण और सूर्य परस्पर समान ही हैं। प्राण उष्ण है और सूर्य भी उष्ण है। प्राण और सूर्य का अभेद मानने पर प्राण को 'स्वर प्राण' कहा जाता है और सूर्य को 'प्रत्यास्वर' कहा जाता है। अतः साधक को प्राण और सूर्य की उद्गीथ रूप में उपासना करनी चाहिये। व्यानदृष्टि से भी उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। पुरुष द्वारा की जा रही प्राणनक्रिया प्राण कहलाती है और अपश्वासक्रिया अपान कहलाती है। प्राण और अपान की सन्धि 'व्यान' कहलाती है।[१३] व्यान ही वाक् कहलाती है। वाक् से ही पुरुष प्राण और अपानक्रिया न करते हुए ही वाणी बोलती है। वाक् ही ऋक् है। ऋक् से पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ ऋक् का उच्चारण करता है। ऋक् ही साम कहलाता है। साम से ही पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ सामगान है। साम ही उद्गीथ कहलाता है। उद्गीथ से प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ पुरुष उद्गान करता है। अग्निमन्थन प्रभृति वीर्ययुक्त कर्मों को भी पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ ही करता है। इसलिए व्यानदृष्टि से ही पुरुष को उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये। 'उद्गीथ' शब्द में प्राण ही 'उत्' है, क्योंकि प्राण ही उठता है। वाणी ही 'गी' है, क्योंकि वाणी को 'गिरा' कहते हैं। अन्न ही 'थ' है, क्योंकि अन्न में ही यह सब स्थित है -

उद्गीथ इति प्राण एवो प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचाचक्षतेऽन्नं धमन्ने हीदं सर्वं स्थितम्।[१४]

उद्गीथ और प्रणव एक ही तत्त्व है। इन दोनों में परस्पर कोई भेद नहीं है। आदित्य, उद्गीथ और प्रणव में भी परस्पर कोई भेद नहीं है, क्योंकि आदित्य 'ओऽम्, का उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है।[१५] साधक को मुख्यप्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये, क्योंकि यह मुख्यप्राण

'ओ३म्' इस प्रकार अनुज्ञा करता हुआ गमन करता है -

य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति।[१६]

हृदयस्थ प्राण तथा ब्रह्मपुरुष

शरीरस्य हृदय के पाँच देवसुषि हैं। देवसुषि का अर्थ है देवताओं के स्वर्गलोक प्राप्ति के द्वारभूत छिद्र।[१७] हृदय का प्रथम छिद्र पूर्वदिशावर्ती है। वही प्राण है, वही चक्षु है, वही आदित्य है, वही तेज है और वही अन्नाद्य है - इस बात का ज्ञाता तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। हृदय का द्वितीय छिद्र दक्षिणदिशावर्ती है। वही व्यान है, वही श्रोत्र है, वही चन्द्रमा है, वही श्री है और वही यश है - इस बात का ज्ञाता श्रीमान् और यशस्वी होता है। हृदय का तृतीय छिद्र पश्चिमदिशावर्ती है। वही वाक् है, वही अग्नि है, वही ब्रह्मतेज है और वही अन्नाद्य है - इस बात का ज्ञाता ब्रह्मतेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। हृदय का चतुर्थ छिद्र उत्तरीय है। वही समान है, वही मन है, वही मेघ है, वही कीर्ति है और वही व्युष्टि (देहलावण्य) है - इस बात का ज्ञाता कीर्तिमान् तथा व्युष्टिमान् होता है। हृदय का पञ्चम छिद्र ऊर्ध्व है। वही उदान है, वही वायु है, वही आकाश है, वही ओज है और वही महः है - इस बात का ज्ञाता बलवान् और तेजस्वी होता है। ये पञ्च छिद्र रूप पञ्च ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जो व्यक्ति स्वर्गलोक के द्वारपाल रूप इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को जानता है उसके कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है तथा वह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है -

य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकम्।[१८]

प्राण का अन्न

मुख्यप्राण का अन्न वही है जो कुत्तों और पक्षियों से लेकर सब जीवों का अन्न हैं। सर्वान्नभक्षी प्राण का प्रत्यक्ष नाम 'अन' भी है - इस बात को जानने वाले के लिए कुछ भी अनन्न ((अभक्ष्य) नहीं होता।[१९] प्राणदर्शन करने वाला पुरुष यदि इस प्राण का शुष्क स्थाणु के पास खडा होकर नाम ले तो उसमें शाखा उत्पन्न होकर पत्ते फूट आते हैं-

यद्यप्येतंच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्ञायेरन्नवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि।[२०]

जो अन्न प्रथमतः आवे उसका हवन करते हुए भोक्ता को प्रथम आहुति

'प्राणाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये। इस प्रकार प्राण तृप्त होता है। प्राण के तृप्त होने पर नेत्रेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय की तृप्ति से सूर्य, सूर्य की तृप्ति से द्युलोक और द्युलोक ही तृप्ति से आदित्याधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को द्वितीय आहुति 'व्यानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे व्यान तृप्त होता है। व्यान की तृप्ति से श्रोत्रेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय की तृप्ति से चन्द्रमा, चन्द्रमा की तृप्ति से दिशाएँ और दिशाओं की तृप्ति से चन्द्रमाधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को तृतीय आहुति 'अपानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये जिससे अपान तृप्त होता है। अपान की तृप्ति से वागिन्द्रिय, वाक् की तृप्ति से अग्नि, अग्नि की तृप्ति से पृथिवी तथा पृथिवी की तृप्ति से अग्न्यधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को चतुर्थ आहुति 'समानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे समान तृप्त होता है। समान की तृप्ति से मन, मन की तृप्ति से पर्जन्य, पर्जन्य की तृप्ति से विद्युत् और विद्युत् की तृप्ति से पर्जन्याधिष्ठित लोक तृप्त होता है। भोक्ता को पञ्चम आहुति 'उदानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिये, जिससे उदान तृप्त होता है। उदान की तृप्ति से त्वचा, त्वचा की तृप्ति से वायु, वायु की तृप्ति से आकाश और आकाश की तृप्ति से वाय्वधिष्ठित लोक तृप्त होता है और उसकी तृप्ति के पश्चात् स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज तथा ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है -

तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेन।[२१]

प्राण की आदिमूलकता

स्वयम्भूमण्डल, परमेष्ठीमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और पृथिवीमण्डल इन पांचों मण्डलों में भिन्न-भिन्न प्राण रहते हैं। स्वयम्भू में रहने वाले तत्त्व का नाम 'प्राण' है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द रहित जो एक मौलिक तत्त्व है उसी का नाम प्राण है। इस मैथुनी सृष्टि के पहले इस प्राणतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है -

असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदीति ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा ऋषयस्ते यत्पुरास्मात्सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः।[२२]

प्राण में प्राण नहीं रहता अतएव इसको 'असत्' शब्द से व्यवहृत किया गया है। यह असत् प्राणतत्त्व उस अव्यय मन पर प्रतिष्ठित रहता है। इस मन पर प्रतिष्ठित रहता है। इस मन और प्राण की समष्टि को ही आत्मा कहते हैं।

इस आत्मा की परमेष्ठी आदि प्रजाएँ हैं, अतएव स्वयम्भू को प्रजापति कहा जाता है। इस प्रजापति से सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है इसलिए इस मैथुनी सृष्टि में पहली सृष्टि पानी ही है। अतएव कहा जाता है -

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविद्याः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।।[23]

डा. मंगलराम बिश्नोई

४५, नव दुर्गास्कीम
शिवाजी स्कूल के सामने
झालामण्ड चौराहा, जोधपुर ३४२००५

टिप्पणियाँ

१. तावेवायुतसिद्धो द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपरानितमेवावतिष्ठते।।
केशवमिश्र, तर्कभाषा, प्रमाणप्रकरण

२. प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवास्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यःप्राणो ब्राह्मणः। छान्दोग्योपनिषद्, ७.१५.१

३. प्राणो ह्ये वैतानि सर्वाणि भवति। वही, ७.१५.४

४. यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। वही, ५.१.१

५. न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनासीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। वही, ५.१.१५

६. वही, ५.१.१२

७. य एवायं प्रसिद्धो मुखे भवो मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। छान्दोग्योपनिषद्, शाङ्करभाष्य, १.२.७

८. छान्दोग्योपनिषद्, १.२.८

९. एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः। वही, १.२.१०

१०. वाग्धि बृहती तस्या एष पतिः। वही, १.२.११

११. एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्यादयते। वही, १.२.१२

१२. वही, १.२.१४

१३. अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः। वही, १.३.३
१४. वही, १.३.६
१५. असौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति। वही, १.५.१
१६. वही, १.५.३
१७. एतस्यानन्तरनिर्दिष्टस्य पञ्च पञ्चसंख्याका देवानां सुषयो देवसुषयः स्वर्गलोकप्राप्ति द्वारच्छिद्राणि देवैः प्राणादित्यादिभी रक्ष्यमाणानीत्यतो देवसुषयः। छान्दोग्योपनिषद्, शाङ्करभाष्य, ३.१३.१.
१८. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१३.६
१९. एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवं विदि किञ्चिन्नान्नं भवति। वही, ५.२.१
२०. वही, ५.२.३
२१. वही, ५.२३.२
२२. शतपथब्राह्मण, ६.१.१.१
२३. मनुस्मृति, १.८

इक्कीसवीं शताब्दि का भारतीय चिन्तन : संभावना एवं अपेक्षा

बहुत महत्त्व न होने पर भी अभारतीय परम्पराओं के अविचारित अनुकरण का अभ्यस्त भारतीय प्रबुद्ध वर्ग इक्कीसवीं शताब्दि का स्वागत कर रहा है। शताब्दि संख्या जो भी हो, विगत सौ वर्ष भारतीय समाज में द्रुत परिवर्तन का काल रहा है। इसलिए नई शताब्दि में समाज के हर क्षेत्र में कुछ संभावनाएँ, कुछ अपेक्षाएँ ढूँढी जा रही हैं। इसी क्रम में दार्शनिक चिन्तन का भी सिंहावलोकन और तदाश्रित भावी दिशा भी चिन्तनापेक्षी है। इस अपेक्षा की पूर्ति की दृष्टि से ही यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, इस निवेदन के साथ कि पाठकों से वैचारिक संवाद हो और कुछ निष्कर्ष निकले।

बीसवीं शताब्दि में - भारतीय समाज दो विरोधी अवस्थाओं में रहा है। लगभग आधी शताब्दि राजनैतिक परतंत्रता में और शेष आधी उसने स्वतंत्रता में व्यतीत किया है। इसलिए इस शताब्दि के चिन्तन में जहाँ परतंत्रता के लक्षण स्पष्टतः व्यक्त हुए हैं वहीं स्वतंत्रता के उत्साह की भी अभिव्यक्ति हुई है। इस सदी के चिन्तन की पृष्ठभूमि में जहाँ मैकाले योजना और अंग्रेजी भाषा सक्रिय रही है, जिसने दार्शनिक चिन्तन को विश्वविद्यालयों में प्राध्यापकीय प्रवृत्ति रूप में प्रस्तुत किया, वहीं परम्परा के संरक्षण की प्रवृत्ति भी सक्रिय रही है। प्रगतिवाद के नाम पर मार्क्सवाद भी कहीं-कहीं पल्लवित होता रहा।

इन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में वेदान्त, विशेषकर अद्वैतवेदान्त और बौद्ध परम्परा ही प्रायः रही है। विश्वविद्यालय अध्ययन केंद्रों में अधिकांशतः अंग्रेजी में पढे-लिखे, और पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्राच्य विद्या के क्षेत्र में स्थापित मान्यताओं और अवधारणाओं के साँचे में ही दर्शन पल्लवित होता रहा है। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि पश्चिमी प्राच्य प्रतिभा भारतीय दर्शन के गौरव के रूप में बौद्ध और वेदान्त का ही महिमागान करती रही है। अतः विश्वविद्यालयों में भी प्रायः चिन्तन इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता रहा है, किसी मौलिक अथवा नवीन चिन्तन धारा का विकास विश्वविद्यालयों

के 'प्राध्यापकीय दर्शन' में नहीं हो पाया।

समकालीन दर्शन की दूसरी प्रवृत्ति - परम्परा संरक्षण की प्रवृत्ति, भी राजनैतिक और बौद्धिक दासता की ही प्रतिक्रिया थी। इस दिशा में जहां व्यवस्थित अध्ययनशील प्राध्यापकीय वर्ग लगा रहा वहीं समाज में सक्रिय भूमिका निभाने वालों का भी योगदान रहा। इस प्रवृत्ति ने चिन्तन के 'विषय' के रूप में समाज को चुना। राजनैतिक दासता में आत्मगौरव की स्थापना की दृष्टि से अतीत की उपलब्धियों का महिमागान और विदेशी संस्कृति से स्वयं की श्रेष्ठता निरूपण की प्रवृत्ति के साथ-साथ भारतीय समाज में प्रचलित दोषों का परिहार भी चिन्तकों का कार्यक्षेत्र बना। इनमें 'अधिकांशतः वेदान्त, विशेष रूप से अद्वैत वेदान्त का ही पोषण होता रहा।

स्वतंत्रता के बाद की स्थिति अत्यन्त शोचनीय रही। इस अर्धशताब्दि में प्राध्यापकीय दर्शन तो प्रायशः पाश्चात्य परम्पराओं और अवधारणाओं के पोषण में ही व्यस्त रहा।[१] इस का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक दर्शन की प्रवृत्ति विकसित हुई। राधाकृष्णन, पी. टी. राजू, डी. एम. दत्ता, कालिदास भट्टाचार्य आदि इस क्षेत्र में सक्रिय रहे। इसी क्रम में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा का भी विकास हुआ। प्राध्यापकीय दर्शन के विकास में न केवल बौद्धिक दासता महत्त्वपूर्ण बाधा रही, वरन् अध्ययन के केन्द्रों में 'पद' व 'प्रतिष्ठा' व्यामोह के कारण 'दार्शनिकता' का स्थान 'शास्त्रवेत्ता' ने ले लिया। परिणामस्वरूप आकर्षक बायोडाटा निर्माण केन्द्रित चिन्तन और लेखन का विश्वविद्यालय अध्ययन केन्द्रों में आधिपत्य होता गया। वास्तव में 'स्वतंत्रता के बाद वह वातावरण सचेत रूप से तैयार नहीं किया गया जिसमें नयी विचार पद्धतियों का ऊँचे धरातल पर समुचित विकास किया जा सके।[२] संगोष्ठियों और अधिवेशनों में 'दार्शनिकता' की जगह 'स्नेह सम्मेलन' की मानसिकता बढती गई। इन सबके बावजूद गत शताब्दि दर्शन शून्य नहीं कही जा सकती। अवस्था में आशाजनक कुछ न भी हो तो निराशाजनक भी नहीं था। बीसवीं शताब्दि का भारतीय दर्शन सिर्फ वही नहीं है जिसे प्राध्यपाकों ने मान्यता दी या जो समकालीन भारतीय दर्शन या चिन्तन के नाम से प्रकाशित पुस्तकों में है।

बीसवीं शताब्दि में कई दार्शनिक हुए हैं जिन्हें दार्शनिक के रूप में अध्ययन केन्द्रों में प्रस्तुत नहीं किया जाता और जिनका योगदान अनेक

प्राध्यापकीय दार्शनिकों से कम नहीं है। राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, विनायक दामोदर सावरकर, मा. स. गोलवलकर, दीनदयाल उपाध्याय, वैद्य गुरुदत्त (उपन्यासकार) आदि विचारकों ने समाज की जीवन्त समस्याओं पर चिन्तन किया। महेश योगी और रजनीश का योगदान भी है जिसे प्राध्यापकीय क्षेत्र में समुचित स्थान नहीं मिला। इनमें कुछ को राजनैतिक क्षेत्र में रख दिया गया और शेष का विचारकों की श्रेणी के बजाय साम्प्रदायिक राजनीति के प्रवक्ता के रूप में स्थापित कर दिया गया। इन सभी विचारकों ने सैकडों वर्षों की दासता से उत्पन्न वैचारिक कुण्ठा और पश्चिमी विचारों के अन्धानुकरण से समाज को उबारने का प्रयास किया। कुल मिला कर बीसवीं शताब्दि में दार्शनिक चिन्तन में अस्मिता बोध, विदेशी-स्वदेशी समन्वय और सामंजस्य और पश्चिमी अवधारणाओं के पोषण की प्रवृत्तियाँ ही व्याप्त रहीं। इसे वैचारिक संक्रमण कहा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दि के समापन की वेला में, जब दासता की अवधि में परिपक विचारक या मैकाले योजना में शिक्षित पीढी के विचारक अब लुप्त हो गए हैं, स्वतंत्र भारत में शिक्षित पीढी वैचारिक परिपक्वता के स्तर पर आ चुके हों, इक्कीसवीं शताब्दि के दार्शनिक चिन्तन के संबंध में दो प्रश्न विचारणीय हो जाते हैं। बीसवीं शताब्दि के विचारों की परिणति इक्कीसवीं शताब्दि में किस प्रकार की होगी ? दूसरा प्रश्न है इक्कीसवीं शताब्दि में दार्शनिकों की वैचारिक प्राथमिकता किस प्रकार की होनी चाहिए। इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर 'दर्शन' के स्वरूप-विषयक हमारी मान्यता पर निर्भर है। दर्शन यदि दुःख निवृत्ति के साधन के रूप में या शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के साधन के रूप में मान्य हो तो भारत की प्राचीन परम्परा का विकास ही भारतीय दर्शन का भविष्य होगा। दर्शन यदि अन्वीक्षा के द्वितीय चक्र के रूप में मान्य हो तो यह भविष्य में वैज्ञानिक प्रतिज्ञाप्तियों की खोज और व्याख्या के शास्त्र के रूप में स्थापित होगा। जो भी हो, इक्कीसवीं शताब्दि में दर्शन की संभावना या अपेक्षा का रूप दर्शन के स्वरूप, विषय वस्तु आदि विषयक मान्यताओं पर ही निर्भर करेगा। अतः लेख के शेष भाग में हम इसी पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

दयाकृष्णजी के अनुसार ''दर्शन शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ बुद्धि मनुष्य के और जगत् के समस्त सम्बन्धों के ऊपर आत्मनिर्भर करती हुई उन सब

समस्याओं को देखती है जिनसे मानव चेतना ग्रसित और व्यथित रहती है।''[३] अब 'शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र' एक अस्पष्ट और विस्तृत व्याख्यापेक्षी मान्यता है। दयाकृष्ण ने अपने संदर्भांकित लेख में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। दयाजी मानते हैं कि 'वास्तव में शुद्ध बौद्धिकता एक प्रकार से भ्रम ही है क्योंकि बुद्धि को विचार के लिए कुछ विषय चाहिए जो अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है।''[४] इससे 'शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र' से उनका आशय समझा जा सकता है। संभवतः शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र वे ज्ञान के उस क्षेत्र को मानते हैं जहाँ ज्ञान किसी अन्य प्रयोजन का साधन न हो कर स्वयं में साध्य है। ऐसा क्षेत्र वहीं होगा जहाँ बुद्धि अपनी गतिविधियों या प्रकिया पर ही विचार करती हो। दयाजी के शब्दों में दर्शन बुद्धि द्वारा बुद्धि को उसके स्वचेतन रूप में देखना है। इसे वे दर्शन का मर्म स्थल मानते हैं। बुद्धि क्या है, ज्ञान क्या है, ज्ञान की प्रामाणिकता की क्या कसौटी है, प्रामाणिकता की क्या शर्तें हैं, बुद्धि की विचार सीमा क्या है- आदि प्रश्नों को शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र माना जा सकता है। यानि दर्शन का केन्द्र ज्ञानमीमांसीय प्रश्न ही हैं। श्री राजेन्द्र प्रसाद अपने एक लेख में यह बताने का प्रयास करते हैं कि ''दार्शनिक अन्वेषण सम्प्रत्ययों के प्रयोग और व्यवहार की परीक्षा मुख्यतः तार्किक ढंग से अर्थात संगति और असंगति की दृष्टि से करता है।''[५] चाहे वे सम्प्रत्यय किसी भी क्षेत्र के क्यों न हो। दार्शनिक ''अध्ययन के लिए विषयभूत सम्प्रत्ययों के चुनाव की कोई नपी-तुली कसौटी या तकनीकी नहीं दी जा सकती, किस सम्प्रत्यय या सम्प्रत्ययों के किस समूह को कोई दार्शनिक अपने अध्ययन का विषय बनाता है यह बहुत कुछ उसकी रुझान, शिक्षा-दीक्षा और विश्लेषण की विशिष्ट क्षमता, उसकी अपनी दार्शनिक वरीयताएँ, उसके मूल्यांकन, तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक वैचारिक फैशन आदि पर निर्भर करता है।''[६]

कालिद्रास भट्टाचार्य दर्शन को आत्म और अनात्म युक्त समस्त सृष्टि के व्यवस्थित अध्ययन को मानते हैं।[७] सारांश में यह कहा जा सकता है कि दर्शन की विषयवस्तु के रूप में वह सब कुछ स्वीकार कर लिया जाता है जो मानव के लिए ज्ञेय हो या जिसे वह विचारणीय समझता हो। लेकिन इसे परिभाषा नहीं कहा जा सकता। इसमें अतिव्याप्तता है। समाजशास्त्र, राजनीतिक शास्त्र, भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञान भी 'ज्ञेय' यद्यपि विशिष्ट

क्षेत्र के हैं। जिस रूप में ये अध्ययन हैं उसी रूप में दर्शन भी इन समस्त विषयों का अध्ययन नहीं हो सकता। समस्त अध्ययन तथ्यों की खोज और विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसीलिए ये शास्त्र 'विज्ञान' मान लिए जाते हैं। यदि इन की पद्धति ही दर्शन हो तो दर्शन की स्वायत्तता पृथक्ता और संभवत: आवश्यकता भी समाप्त हो जाती है।

दर्शनशास्त्र के परम्परा से प्राप्त साहित्य से यह बात समझी जा सकती है कि दार्शनिक चिन्तक क्रमश: मानव जीवन की ज्वलन्त समस्याओं से अलग होता गया। यही नहीं, जो कुछ ज्ञेय, विचारणीय और सम्प्रेषणीय पहले दर्शनशास्त्र में था, उसमें ज्ञान के क्षेत्रों के अनुरूप अलग अलग शास्त्रों का निर्माण होता गया।[८] परिणाम स्वरूप दर्शन का 'अपना' विषय सिमटता चला गया। जो बच गया उसकी महत्ता, उसका औचित्य भी अब समझाना पड रहा है।

दार्शनिक चिन्तन के औचित्य का प्रश्न उसकी विषय वस्तु के कारण उठता है। यह प्रश्न प्राध्यपकीय दर्शन के प्रचलित मान्य रूप के संदर्भ में तो अवश्य ही उठता है। बीसवीं शताब्दि के प्राध्यापकीय दर्शनाशास्त्रियों ने दर्शन को अधिकांशत: ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, नीतिमीमांसीय 'प्रश्नों' पर चिन्तन के रूप में स्थापित तो किया ही है, साथ ही दर्शन की पाश्चात्य अवधारणा के आधार पर इन प्रश्नों पर चिन्तन और लेखन भी किया है। उनके समक्ष यह प्रश्न सीधे महत्त्वपूर्ण नहीं रहा कि दर्शन की विषयवस्तु क्या हो ? उनके लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है पाश्चात्य विचार प्रणाली के साथ समायोजन, सामन्जस्य और संगति का या फिर भारतीय परम्परा में मान्य प्रचलित विषय वस्तु के अस्मिता बोधजन्य पुनर्मूल्यांकन का।[९] इस वर्ग के विचारकों की प्राय: यह मान्यता रही है कि दार्शनिक चिन्तन को शुद्ध बौद्धिक समस्याओं तक सीमित रहना चाहिए। एक ओर समस्त विचारणीय समस्याओं या उनसे सम्बन्धित संप्रत्ययों को दर्शन के क्षेत्र में सम्मिलित करना और फिर शुद्ध बौद्धिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना-एक अन्तर्विरोध है। इसका परिहार न करने के कारण 'दार्शनिकता' शास्त्रीय दृष्टि से विश्वविद्यालयों तक सिमट कर रह गयी।

दर्शनशास्त्र की अलोकप्रियता का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है कि कुछ एक अपवादों को छोड कर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में

इस विषय को पढने वाले छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जा रही है। यही नहीं अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में दर्शन विभाग स्थापित करने का प्रयास भी नहीं किया गया। कई बार तो दर्शन विभागों को अनुपयोगी मानकर बन्द करने की चर्चायें भी होती रहती हैं क्योंकि इसमें छात्र-संख्या कम होती है। हाल ही में केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के सचिव श्री काव का पत्र जो उन्होंने समस्त विश्वविद्यालयों को भेजा है उसमें दर्शनशास्त्र की अलोकप्रियता की स्वीकृति के साथ इस शास्त्र को व्यावहारिक बनाने की दिशा में प्रयास करने का सुझाव दिया गया। जिस देश में दर्शन स्वरूपतः व्यावहारिक रहा हो, वहाँ ऐसा विचार उठना विश्वविद्यालयों में प्रचलित दर्शनशास्त्र की दयनीय स्थिति का ही लक्षण है। ऐसी दुरवस्था के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो उच्च शिक्षा में रोजगार मूलकता की भ्रामक और आत्मघाती प्रवृत्ति का समावेश और दूसरा दर्शनशास्त्रियों का समाज की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति अनैतिक उदासीनता। जिन कथित समस्याओं में दर्शनशास्त्री उलझा हुआ है वे कुछ बौद्धिक प्रश्न मात्र हैं। शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों में दर्शन को सीमित करने से दर्शन मूल लक्ष्य से भटक गया है। दार्शनिक चिन्तन की सामाजिक सार्थकता उसके 'समस्या-समाधान-मूलक' होने में है। वास्तव में दार्शनिक चिन्तन - या सिर्फ चिन्तन के लिए तीन प्रेरक बिन्दु हैं - समस्या, जिज्ञासा और प्रश्न। दार्शनिक चिन्तन, इन तीनों में किस बिन्दु से आरंभ होता है, उस पर निर्भर करता है कि चिन्तन के विषय की प्रासंगिकता कितनी है।

समस्या हमेशा जीवन्त होती है। समस्या पर बुद्धि जब विचार करती है तो उस विचार करने में वे सारी परिस्थितियाँ अन्तर्निहित रहती हैं जिनमें वह समस्या उत्पन्न होती है। वे परिस्थितियाँ शुद्ध बौद्धिक नहीं होती। अपनी बात को मैं एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा। शुद्ध बौद्धिक कहे जाने वाले एक प्रश्न को लें- 'ज्ञान क्या है ?' क्या यह मनुष्य के लिए कोई समस्या है ? मनुष्य को वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, अपने मन की भावनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन 'ज्ञान' क्या है यह किसी के लिए भी समस्या नहीं होती। हाँ यह एक प्रश्न हो सकता है (शायद प्रश्न ही है) प्रश्न हमेशा बौद्धिक होते हैं। 'प्रश्न' के पूछे जाने की (जो पूछा जाय वही होता है, चाहे फिर स्वयं ही क्यों न पूछा जाय) परिस्थिति, विशेष प्रशिक्षण, शिक्षा, अभ्यास और आवश्यकता से बनती है। समाज विज्ञानों या प्राकृतिक विज्ञानों के

अध्येताओं के लिए यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। दर्शनशास्त्र का अध्येता अवश्य यह प्रश्न पूछ सकता है। यह इसलिए नहीं कि उसके जीवन में यह एक समस्या है बल्कि इसलिए कि जिस क्षेत्र को उसने अध्ययन के लिए चुना है उसमें ऐसा प्रश्न किया जाता है, और उसके उत्तर दिए जाते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने का उसे प्रशिक्षण प्राप्त है। 'शुद्ध बौद्धिक' तो किसी प्रश्न को तब कहा जा सकता है जब 'बुद्धि' में यह प्रश्न सहज भाव से उठे। तब भी इसे बौद्धिक 'समस्या' कहने के बजाय प्रश्न कहना अधिक सार्थक होगा क्योंकि प्रश्न हमेशा रचित या निर्मित होते हैं जबकि समस्या और जिज्ञासा सहज उत्पत्ति है। विशेष प्रकार के कुछ प्रश्नों को दर्शनशास्त्र की स्वायत्तता के नाम दर्शन का स्वरूप मान लेना और उन्हीं तक चिन्तन को सीमित कर देना दार्शनिक चिन्तन के लिए अस्वाभाविक प्रवृत्ति है। ''कोई मौलिक, सृजनात्मक दार्शनिक अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी दार्शनिक समस्या से जूझना, उसके विषय में अपने मत को सुव्यवस्थित और सुचिन्तित रूप में रखना चाहता है। अपने द्वारा किए गए दार्शनिक अन्वेषण के स्वरूप के विषय में चिन्तन करना उसे उतना रूचिकर नहीं लगता जितनी किसी समस्या के विषय में... अपने चिन्तन को सुदृढ रूप में स्थापित करना। ...यही स्वाभाविक है यह नहीं कि पहले यह मानकर कि दर्शन क्या है, दार्शनिक चिन्तन किया जाय।''[१०]

समस्या के संदर्भ में औचित्य का प्रश्न नहीं उठता। समस्या जीवन्त तथ्य है। वह हमें सोचने के लिए विवश करती है क्योंकि समस्या (जिसकी है उसके लिए) समाधान ही अपरिहार्य अपेक्षा रखती है। समस्या यदि उत्पन्न हो गई हो और समाधान न हो तो मनुष्य व्याकुल और अशान्त हो जाता है। उसकी यह व्याकुलता और अशांति अवांछित होने से 'सोचना' उसकी विवशता हो जाती है लेकिन यह सोचना सिर्फ सोचना नहीं है। इस सोचने के साथ 'करना' भी अनिवार्यतः जुडा रहता है। 'सोचने' और 'करने' में विरोध नहीं होना चाहिए, समस्या के संदर्भ में विरोध होता भी नहीं है। हाँ, प्रश्न के उत्तर सोचने में विरोध अवश्य हो सकता है। नैतिक प्रश्नों (समस्या नहीं) पर विचार करने वाला व्यक्ति अनैतिक हो सकता है। इस तरह का सोचना वास्तव में यदि दार्शनिक चिन्तन कहा जाय तो इस की कोई सार्थकता नहीं होती। भारत में दर्शनशास्त्र विषय में पालक, विद्यार्थी और शासकों की रुचि न होने

में यह निरर्थकता भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। दर्शन की भारतीय परंपरा 'समस्या-समाधान' रूप है। अतः समाधान 'करने' की अपेक्षाएँ भी 'सोचने' के साथ जुडी हैं। अपवाद छोड कर भारतीय दर्शनपरंपरा जीवन में 'दुख' की 'समस्या' के समाधान की दिशा में सोचती है इसलिए यहाँ 'साधना' पक्ष भी दर्शन का अंग है, जबकि लगभग समूचा पाश्चात्य चिंतन 'जिज्ञासा' या प्रश्नों पर सोचने की प्रक्रिया है। इसलिए 'साधना' का पक्ष वहाँ नगण्य है।

समस्याएँ व्यक्ति और समाज दोनों की होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति की समस्याएँ ही समाज की भी हों समाज की समस्याएँ व्यक्ति की भी हों। दोनों ही अवस्थाओं में अर्थात् व्यक्ति की अथवा समाज की समस्याओं में, 'सोचने' का कार्य व्यक्ति ही करता है। व्यक्ति जब समस्याओं पर सोचता है तब वह प्रायः सामाजिक सोच के नियंत्रण से बाहर आ कर सोचने का प्रयास करता है। इस प्रयास में लीन कभी-कभी वह भूल जाता है कि वह समाज का घटक है और ऐसी समस्याओं पर सोचना आरंभ कर देता है जो वास्तव में समस्या नहीं मात्र 'प्रश्न' होते हैं। प्रश्न चूँकि प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता-द्विविध पक्षों की अपेक्षा रखते हैं इसलिए विचारक स्वयं ही दोनों भूमिकाओं में प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न और उत्तर दोनों में विचारक के संस्कार, अभिरुचि और प्रश्न की प्राथमिकता का समावेश हो जाता है। यही नहीं इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर स्वयं को भी पूर्ण संतोष नहीं देते। तब व्यक्ति ऐसे प्रश्न और उत्तरों की पुष्टि के लिए अन्य विचारकों की तलाश करने लगता है और इस प्रकार वह 'सोचने' के दायरे से बाहर निकल कर 'पठन-श्रवण' या संवाद के क्षेत्र में विचरण करने लगता है। ऐसी अवस्था में सोचने वाला विचार जगत् में स्वच्छन्द विहरण आनंद का (यदि ऐसा कुछ, जो दिवा स्वप्न से भिन्न हो, संभव है) अनुभव कर सकता है।

दयाजी ने उन्मीलन वर्ष- १, अंक-१, जनवरी १९९५ में प्रकाशित लेख 'आओ कुछ सोचें' में एक ऐसा प्रश्न उठाया जिस पर बहुत गंभीरता और निष्पक्षता से विचार करना चाहिए। यह प्रश्न वास्तव में सोचने वालों की नैतिकता की ज्वलंत 'समस्या' है। क्या दार्शनिक चिंतन किसी अन्य के प्रति जिम्मेदार हो सकता है ? इस प्रश्न में निहित एक नैतिक समस्या यह है कि क्या इस रूप में प्रश्न उठाना उचित है ? क्या व्यक्ति, जो समाज का घटक भी है, ऐसा प्रश्न कर सकता है ? दार्शनिक चिंतन किसी 'अन्य' के प्रति

जिम्मेदार हो सकता है क्या-इस प्रश्न का 'न' में उत्तर हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति 'अन्य' से स्वतंत्र और निर्लिप्त नहीं होता (मानवेतर व्यक्ति की बात हम नहीं जानते)। वास्तव में प्रश्न होना चाहिए कि दार्शनिक चिंतन की अन्य के प्रति किस तरह की, कैसी या क्या जिम्मेदारी होनी चाहिए ?

हमारा आशय यह नहीं है कि प्रश्नों पर न सोचा जाय। अवश्य ही ऐसे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जिन पर सोचा जाना चाहिए। लेकिन उन प्रश्नों पर सोचना तब तक सार्थक नहीं होता जब तक वे प्रश्न समस्या अथवा जिज्ञासा के रूप में अनुभूत न हों। प्रश्न के उत्तर पर तभी सोचा जा सकता है जब प्रश्न का औचित्य, उसकी प्रासंगिकता और किसी समस्या से उसका अनिवार्य संबंध हो। ऐसा न होने पर भी प्रश्न उठाए जा सकते हैं, उत्तर सोचे जा सकते हैं, लेकिन यह केवल 'सोचने के लिए सोचना' होगा। ऐसा सोचना किसी अन्य उद्देश्य के प्रति आकर्षण या/ और उक्त उद्देश्य से सोचने का अभ्यास/आदत/ संस्कार के कारण हो सकता है। उदाहरण के लिए दर्शनशास्त्र के अध्यापकों द्वारा सोचने को लें। विद्यार्थियों को दर्शनशास्त्र पढाने के लिए, अधिवेशनों या सेमिनार में वक्तव्य के लिए, या लेख लिख कर छपवाने के लिए सोचा जाता है। अध्यापन पेशे में आकर्षक बायोडाटा बनाने के लिए इस तरह का सोचना बाध्यता है। लगातार वर्षों तक इस पेशे में रहकर सोचने की पडी हुई इस आदत या संस्कार के कारण भी सोचा जा सकता है। इस तरह का चिन्तन समाज के लिए बहुत उपयोगी नहीं होता।

जिज्ञासा पर सोचना जिज्ञासु के लिए ही सहज और सार्थक होता है। जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत करके इतर विचारशील लोगों से अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है। लेकिन जिनके समक्ष उसकी जिज्ञासा प्रश्न के रूप में प्रस्तुत होती है, उसके लिए प्रश्न का औचित्य उत्तर देने की बाध्यता का निरूपण आवश्यकता हो जाता है। जिज्ञासु यदि अपने प्रश्नों को, अपनी जिज्ञासा को 'समस्या' के रूप में उसके समक्ष प्रस्तुत कर दें तो 'सोचने' की सार्थकता अनुभव की जा सकती है। सोचना विचारक (शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों पर सोचने वाला) के रूप में नहीं बल्कि दार्शनिक (समस्या के समाधान करने वाला) के रूप में होना चाहिए।

वास्तव में प्रश्न, जिज्ञासा और समस्यों में जो महत्त्वपूर्ण अंतर है वही दर्शन के स्वरूप और औचित्य का प्रश्न उठाता है। जिज्ञासा अपनी उत्पत्ति

और तृप्ति या पूर्ति के लिए पूर्णतः जिज्ञासु पर निर्भर करती है। इसे आत्मनिष्ठ कहा जा सकता है। प्रश्न अपनी उत्पत्ति के लिए आत्मनिष्ठ और उत्तर के लिए पराश्रितता की पूर्व स्वीकृति लिए हुए होता है। यह व्यक्ति में निहित 'अहं' तक सीमित न हो कर 'वयं' भाव में होता है। यदि मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, या मैं किसी को अपने तुल्य सक्षम नहीं मानता तो मुझमें जिज्ञासा तो होगी पर प्रश्न नहीं होगा। समस्या की स्थिति इनसे भिन्न है। समस्या में प्रश्न और जिज्ञासा-दोनों का समावेश होता है। (यद्यपि प्रश्न और जिज्ञासा में 'समस्या' अनिवार्यतः निहित नहीं होती) समस्या प्रश्न और जिज्ञासा की तरह अपनी उत्पत्ति के लिए पूर्णतः आत्माश्रित या समस्याग्रस्त व्यक्ति पर आश्रित हो यह अनिवार्य नहीं है। प्रायः व्यक्ति की समस्या की उत्पत्ति सामाजिक व्यवस्था, मूल्य, मानदण्ड और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसलिए समस्या सिर्फ 'सोचने' की वस्तु नहीं होती, उसका समाधान अपेक्षित है।

प्रश्न और जिज्ञासा, तृप्ति या पूर्ति की दृष्टि से केवल प्रश्नकर्ता या जिज्ञासु तक सीमित होती है, समस्या व्यक्ति की सीमा से बाहर भी समाधान की अपेक्षा रखती है, अर्थात् समस्याएँ केवल व्यक्तिगत नहीं होतीं। समस्याएँ समाज की भी होती हैं और प्रायः समाज की समस्याएँ व्यक्तिगत समस्याओं को भी जन्म देती हैं चूँकि समाज की समस्याओं पर 'सोचना' भी व्यक्ति का दायित्व और बाध्यता है, अतः दार्शनिक चिन्तन उन समस्याओं पर भी केन्द्रित होना चाहिए जो समाज की हैं। उदाहरण की लिए साम्प्रदायिकता की समस्या को लें। विगत दस-बारह वर्षों में कथित साम्प्रदायिकता ने भारतीय समाज को आन्दोलित किया हुआ है। इसका निमित्त बना अयोध्या विवाद। अयोध्या विवाद एक वास्तविक समस्या थी। दार्शनिक चिन्तन में अभ्यस्त लोग इस समस्या से दूर रहे (स्व. हर्षनारायण जैसे अपवाद को छोडकर)। समस्या चूँकि मजहब से जुडी हुई थी इसलिए विद्वानों ने साम्प्रदायिकता, धर्म निरपेक्षता, आदि अवधारणाओं पर चिन्तन को केन्द्रित कर लिया और मूल समस्या से दूर हो गए। समस्या विकराल होती गई और समाज ने स्वयं एक अस्थाई समाधान ढूँढ लिया और बहस का मुद्दा बदल गया। यदि दार्शनिक वर्ग इस समस्या पर गंभीर होता तो यह स्पष्ट हो जाता कि साम्प्रदायिकता और धर्म निरपेक्षता समस्या नहीं, महज प्रश्न थे। समस्या मजहबी या रिलीजियस भी नहीं थी।

समस्या थी तो सांस्कृतिक प्रतीकों के प्रति संलग्नता की लेकिन इस समस्या पर दार्शनिकों की अनैतिक उदासीनता ने समाज को दिग्भ्रमित किया।

इसी प्रकार उदारीकरण और वैश्वीकरण की भी स्थिति है। यह केवल आर्थिक या राजनैतिक विषय मात्र नहीं है। इसके जो प्रभाव भारत की संस्कृति पर पड रहे हैं वे ज्यादा गंभीर हैं। वैश्वीकरण और संस्कृति संरक्षण एक गंभीर समस्या है। अपसंस्कृति केवल समाज के बाह्य ढाँचे को ही नहीं बल्कि वैचारिक प्रवाह को भी भ्रष्ट करती है। दार्शनिक चिन्तन के सामयिक बिन्दु क्या हों ? यह भी संस्कृति में हो रहे आंतरिक परिवर्तनों से तय हो रहा है। ऐसा होना उचित है या नहीं ? यदि हाँ तो किस सीमा तक, आदि प्रश्न उदारीकरण और वैश्वीकरण को आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्र से निकालकर दर्शन के क्षेत्र में ले आते हैं। इन पर चिन्तन इन्हें शुद्ध बौद्धिक प्रश्न मानकर नहीं किया जा सकता क्योंकि ये 'समस्या' है 'प्रश्न' मात्र नहीं। चरित्र निर्माण कैसे हो सकता है, कैसे राष्ट्रीय एकता स्थापित की जा सकती है, राजनीति को नैतिक किस तरह बनाया जा सकता है, परिवार-विखण्डन क्यों हो रहा है, समाज में साधन-साध्य संबंध के बजाय आत्मीय संबंध कैसे स्थापित किया जाय, प्रगति क्या है, संस्कृति क्या है, उसका क्या महत्त्व है - आदि कुछ समस्या रूप प्रश्न हैं जो सीधे देश की समस्याओं से जुडे हैं। इन पर सोचना सिर्फ सोचना नहीं है, 'करना' भी है। ज्ञान मीमांसा, तत्त्व मीमांसा आदि के प्रश्नों का 'अपना महत्त्व है क्योंकि वे सीधे बौद्धिक जगत् की समस्याएँ हैं, पर केवल उन्हीं को दर्शन का केंद्रबिंदु मानें तो यह मनुष्य के साथ एक प्रकार का अन्याय ही होगा' (आओ कुछ सोचे, पृ. १०) इसलिए उपर्युक्त प्रश्न और ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर सोचना दार्शनिक चिंतन का समाज के प्रति उत्तरदायित्व है। इसे स्वीकार 'करना' ही चिंतन के प्रति ईमानदारी भी है।

बीसवीं शताब्दि के दार्शनिक चिन्तन में कम से कम दर्शन के प्राध्यापकीय क्षेत्र में, ऐसे सहज उत्पन्न समस्याओं पर चिन्तन और लेखन का विशेष प्रयास नहीं किया गया। इसलिए कि रुचि ऐसे दर्शनशास्त्र के प्रति निरन्तर घटती जा रही है। शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों में उलझकर समाज में अपनी प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाने का अवसर दर्शनशास्त्रियों ने दिया है। अनादिकाल से मानवमात्र की एकमात्र समस्या त्रिविध दुखों से निवृत्ति रही है। जीवन का भौतिक पक्ष जब तक सरल-संतुष्ट था, जीवन सरल था तब तक आध्यात्मिक

दुख प्रबल था। अतः चिन्तन का केन्द्र आध्यात्मिक समस्या थी। आज हमारे समाज में जीवन का भौतिक पक्ष न तो सरल और संतुष्ट है और न ही उसे अनदेखा किया जा सकता है। जब तक आध्यात्मिक दुख की स्पष्ट अनुभूति भी नहीं होगी। एकांगी आध्यात्मिकता कुछ अपवादों को छोडकर व्यक्ति या समाज के लिए आदर्शों और मूल्यों का केन्द्र नहीं बन सकती। आज दार्शनिक चिन्तन 'सामयिक' होकर ही प्रासंगिक हो सकता है अतः समस्यामूलक विषयों पर ध्यान केन्द्रित करके दर्शन को समाज में पुनर्प्रतिष्ठित करना इक्कीसवीं शताब्दि के लिए चिन्तकों से अपेक्षा है।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला — **डा. बी. कामेश्वर राव**
पं. रविशंकर शुक्ल वि. वि.,
रायपुर

टिप्पणियाँ

१. संगमलाल पाण्डेय, **भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण**, पृ. ३४१
२. देवराज, ***दार्शनिक*** त्रैमासिक, अप्रैल १९८०, पृ. ९६
३. **भारतीय दर्शन : एक नई दृष्टि**, पृ. ८
४. वहीं, पृ. ४
५. परामर्श, खंड १९, अंक - ३, जून १९९८, पृ. २१
६. वही, पृ. १९-२०
७. Philosophy is a systematic study of the basic structure of the Universe that as much includes all that is self or all that is outside the self. **Presupposition of Science and Philosophy**. p. 154
८. दृष्टव्य **Philosophical Reconstruction** में N. V. Banerji लिखते हैं - "as a result of the emergence of the various sciences in separation from philosophy, philosophy not only lost its earlier importance and influence but was perhaps left with hardly any worthwhile funcation to perform p. 59

९. Indian Philosophy : past & future पुस्तक में विद्वानों ने यही किया है। भारत में प्रकाशित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में भी यही प्रयास दिखलाई पडता है।

१०. प्रो. राजेन्द्र प्रसाद, परामर्श, जून १९९८ में प्रकाशित लेख "दार्शनिक अन्वेषण"

परामर्श (हिन्दी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति -

ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१०, मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

नीतिशास्त्र, व्यापार-नीतिशास्त्र और बैंकिंग-नीतिशास्त्र

मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अपनी इच्छा से किये गये कई कार्य-कलापों का मूल्यांकन करता है। उन्हें 'अच्छा' अथवा 'बुरा', 'शुभ' अथवा 'अशुभ', 'उचित' अथवा 'अनुचित' या अन्य मूल्य-सूचक शब्दों से आँकता है। नीतिशास्त्र का दायरा मनुष्य के ऐच्छिक अथवा अपनी इच्छा से किये गये कार्य-कलापों तक इसलिये सीमित है कि अनैच्छिक कर्मों को करने के बारे में वह स्वतंत्र नहीं है। अनैच्छिक कर्मों अथवा शारीरिक क्रियाओं जैसे हृदय के धडकने, छींक आने, बाहरी खतरे से खुद को तत्काल बचाने इत्यादि पर मनुष्य का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता। ऐसी स्थितियों में वह स्वतंत्र नहीं है। स्वतंत्र होने की कसौटी यह है कि मनुष्य दो या दो से अधिक पर्यायों में से एक को चुन सके, जैसे पढाई समाप्त कर चुकने के बाद कोई नवयुवक तुरन्त शादी करने अथवा अपनी बहन को पढा-लिखाकर उसकी शादी करने के बाद अपनी शादी करने के दो पर्यायों में से दूसरे को चुनता है तो वह एक ऐच्छिक कर्म द्वारा अपनी शादी टालना 'अच्छा', 'शुभ' अथवा 'उचित' कर्म है। छोटे शिशुओं के कार्य-कलाप, विक्षिप्त व्यक्तियों की हरकतें नैतिक दृष्टि से अच्छी या बुरी नहीं हो सकती क्योंकि उनका कर्ता समज बूझकर कई पर्यायों में से एक को स्वतंत्रता से चुन कर उन्हें नहीं करता।

किसी भी कार्य, कर्म, निर्णय को अच्छा अथवा बुरा ठहराये जाने के कुछ मापदंड होते हैं जिनके आधार पर तर्कसंगत ढंग से उन्हे अच्छा अथवा बुरा ठहराया जा सकता है। ये मापदंड क्या हैं ? ये किन मूल्यों पर आश्रित हैं ? ये नीतिशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले कई मुद्दों में से हैं। इस शास्त्र में चर्चित और विवेचित होने वाले अन्य मुद्दे इस प्रकार हैं।-

मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ?

उसके कर्मों का उद्देश्य क्या उसका अपना हित है या दूसरों का हित ?

मनुष्य के कर्तव्य अथवा नैतिक दृष्टि से करने योग्य कर्म क्या हैं ? उनका आधार क्या है ?

व्यक्तिगत जीवन और समाज के हितों के बीच टकराव की स्थिति में कौन सा पर्याय उचित है ?

हमारे रोजमर्रा के जीवन में ऐसे प्रश्न हमें झकझोरते रहते हैं। जब से मनुष्य ने परस्पर मिलजुलकर समाज बनाया और उसी में रह कर अन्य व्यक्तियों के साथ अपनी दिक्कतों को सुलझाने लगा तभी से उसे कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता पडी जो उसकी तथा दूसरे मनुष्यों की इच्छाओं और हितों में होनेवाले तनाव को घटा सकें अथवा समाप्त कर सकें। अंग्रेजी शब्द 'इथोस' (Ethos) वस्तुतः यूनानी भाषा के शब्द 'इथोस' का ही आधुनिक रूप है जिसका अर्थ है रीतिरिवाज या लोकाचार और 'एथिक्स' शब्द भी यूनानी 'एथिका' से व्युत्पन्न है जो अर्थ में 'इथोस' से भिन्न नहीं है।

आज नीतिशास्त्र एक उन्नत शास्त्र की कोटि पा चुका है जिसमें मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों पर व्यवस्थित रीति से विचार कर के निर्णय दिया जाता है। ऊपर की गयी चर्चा के आधार पर अब हम नीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं-

नीतिशास्त्र एक ऐसा मूल्यपरक शास्त्र है जो सामान्य व्यक्ति के जीवन के आचरण, ऐच्छिक कर्म तथा उसके चरित्र और निर्णयों पर पूर्वग्रहरहित तथा व्यवस्थित ढंग से मूल्यांकन करने हेतु मानक प्रस्तुत करता है और इन मानकों के आधार-स्वरूप कुछ मूल सिद्धान्त अथवा मूल्यों की स्थापना करता है।

नीतिशास्त्र केवल आचरण या आचारशास्त्र नहीं है। कौन सा आचरण या व्यवहार उचित है, मात्र यही सुझाना नीतिशास्त्र की विषयवस्तु नहीं है। बल्कि इसका विचारक्षेत्र व्यापक है जिसमें उक्त आचरण की अच्छाई किस वजह से है, किस तत्त्व में निहित है, उसकी यह अच्छाई किस सिद्धान्त पर आधारित है यह भी सोच्रा-विचारा जाता है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। नीतिशास्त्र आदर्शमूलक विज्ञान है और यह मानते हैं कि कोई भी आदर्श-मूलक विज्ञान व्यावहारिक-विज्ञान नहीं होता। अतः मनुष्य के व्यवहार में अच्छाई लाने के लिये यह मार्गदर्शन नहीं कर सकता। वह केवल आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों अथवा आदर्शों की स्थापना करता है, लेकिन उन्हें जिंदगी में किस प्रकार जिया जाये इसके उपाय नहीं बताता। परन्तु कुछ अन्य दार्शनिक नीतिशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान मानते हैं। आधारभूत नैतिक सिद्धान्तो की

स्थापना के साथ साथ यह किसी न किसी तरह मनुष्य के आचरण को अच्छा रखने के उपाय सुझाता है।

हम यह मान सकते हैं कि आदर्शमूलक होते हुए भी नीतिशास्त्र न तो केवल सैद्धान्तिक विज्ञान है और न पूरी तौर से व्यावहारिक विज्ञान। नैतिक शास्त्र की समानता चिकित्साशास्त्र जैसे व्यावहारिक विज्ञान से नहीं की जा सकती। किस रोग की पहचान कैसे हो और निदान क्या है, इसके बारे में चिकित्साशास्त्र में जिस प्रकार की वस्तुनिष्ठता है वैसी नीतिशास्त्र के ऐसे प्रश्नों के उत्तरों में देखने में नहीं मिलती जैसे मानव जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? इत्यादि। मनुष्य का जीवन इतना जटिल और उसकी परिस्थितियाँ इतनी विभिन्न हैं की किसी भी नैतिक सिद्धान्त अथवा आदर्श को पूरी मानवता के लिये हर परिस्थिति में योग्य नहीं माना जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब नैतिक सिद्धान्त सारी मानवता पर परिस्थिति-निरपेक्ष ढंग से लागू नहीं किये जा सकते या होते तो उनके अध्ययन से क्या लाभ ? प्रत्येक मनुष्य विरला है उसका व्यक्तित्व और चरित्र असामान्य है। अतः विभिन्न परिस्थितियों में वह अपने अंदाज से जीता है। यही विविधता मानव जीवन की विशेषता है। किन्तु यह विविधता नैतिक विचारों के स्तर पर असंख्य और असीम नहीं है। कोई व्यक्ति अपने भीतर के सदगुणों के विकास को चरम लक्ष्य मानता है, तो कोई वैयक्तिक सुख को, तो कोई अपने सुख के साथ दूसरे के सुख के मध्य सामंजस्य को। इस तरह ले दे कर ३-४ विविधताएँ या और बारीकी से देखा जाये तो ७-८ विविधताएँ हमें मानव जीवन के चरम लक्ष्य के मुद्दों पर प्राप्त होती हैं।

साधारणतया लोग नीतिशास्त्र और धर्म अटूट रूप से जुडा हुआ मानते हैं, किन्तु इनके बीच संबंध बहुत सरल नहीं है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि दोनों के उद्देश्य में बुनियादी फर्क है। धार्मिक दृष्टि से कर्मों का अच्छा या बुरा होना भगवान की इच्छा के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होना है। किन्तु आज साधारण विवेकशील मनुष्य यह जानता है कि नैतिकता और ईश्वर में आस्था के बीच कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। हमारे देश के दो प्रमुख धर्मों- जैन तथा बौद्ध - में भगवान की अवधारणा के बगैरे नैतिकता के महत्त्व पर बल दिया गया है। हमारे यहाँ ढाई हजार साल पहले से नैतिकता के वर्चस्व को

स्वीकारा गया है। यह बात अलग है कि बाद में अन्य धर्मों की तरह ही इन नैतिकता प्रधान धर्मों में पूजापाठ जैसे रीतिरिवाज मान्य हो गये। परन्तु नैतिकता का इतना प्राचीन इतिहास हमें नैतिक निर्णयों को नैतिकता के दायरे में ही लेते रहने की प्रेरणा दे सकता है।

व्यापार का नीतिशास्त्र

पिछले कुछ दशकों में नीतिशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष पर गहन चिन्तन हुआ है। विज्ञान, औद्योगिकी, प्रबंधन और लोक प्रशासन ने मानव के सामाजिक जीवन पर अनेक तरह से प्रभाव डाला है। अतः यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या मानव के विकास में लगे ये प्रयास सच्चे मायने में उसका कल्याण कर रहे हैं ? एक ओर, आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने विविध प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध करा के मानव जीवन में सुविधाएँ बढाई हैं, तो दूसरी ओर पर्यावरण में असंतुलन और प्रदूषण, विकासशील देशों में जनसंख्या में अपार वृद्धि (भारत में संख्या का हाल ही में एक अरब के ऊपर चले जाना), व्यापार के क्षेत्र में धोखाधडी और भ्रष्टाचार के बडे बडे मामले, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में जीव प्रौद्योगिकी के मानवीय क्लोनिंग की संभावना से जनित नैतिक प्रश्न, असाध्य रोग से पीडित व्यक्ति का अपनी इच्छा से मरण को वरण करना कुछ ऐसे विकराल प्रश्न उभरकर सामने आये हैं जिनका गहराई में जाकर उत्तर देने की आवश्यकता है। इन प्रश्नों के संतोषप्रद उत्तर देने हेतु कुछ नये व्यावहारिक नैतिक शास्त्र उदित हुए हैं जैसे व्यापार नीतिशास्त्र, पर्यावरण नीतिशास्त्र, चिकित्सा नीतिशास्त्र इत्यादि।

नीतिशास्त्र जहाँ मानव जीवन में शुभ अथवा अच्छे की पहचान के साथ ही मानवीय सामाजिक जीवन के विविध क्रियाकलापों अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान में नैतिक औचित्य की विवेचना करता है वहीं व्यापार-नीतिशास्त्र सामाजिक लेन देन के उस भाग पर केन्द्रित है जिसमें मानव व्यापार हेतु मुद्रा, धन, सम्पत्ति, सेवा अथवा इनसे संबंधित वायदों का आदान-प्रदान करता है। मानवीय सामाजिकता का महत्त्वपूर्ण भाग व्यापार के जरिये अपनी जीविका के उपार्जन तथा समाज में अपने जीवन को आर्थिक दृष्टि से सफल बनाने के प्रयासों से जुडा है। और व्यापार का मुख्य उद्देश व्यापारकर्ता की आस्तियों के दीर्घ कालीन मूल्य को सेवा अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय अथवा पट्टे पर लेने अथवा देने के मार्फत अधिकाधिक बढाना है।

व्यापार नीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है व्यापार में नैतिकता की आवश्यकता को पहचानना, किन उपायों से व्यापार में इसकी स्थायी स्थापना हो सकती है, कौन सी संस्थायें, रीतियाँ इसे बढा सकती हैं - ये इस शास्त्र के मुख्य सरोकार हैं। ऐसा देखा जाता है कि क़ई बार व्यापारिक निर्णय झूठ, छल, धोखाधडी और जालसाजी पर टिके हुए रहते हैं या इन उपायों के इस्तेमाल से लाभ में वृद्धि या हानि से उबरने में लगे रहते हैं। उनका ध्येय उत्तरोत्तर धन-वृद्धि होता है। क्या व्यापार का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना है या नैतिक दृष्टि से अच्छा बने रहते हुए व्यापार में लाभ रूपी अच्छाई प्राप्त करते रहना है ?

व्यापार नीतिशास्त्र, व्यावहारिक नीतिशास्त्र का एक प्रकार है जिसका प्रतिपाद्य विषय है मानव के व्यापार-व्यवहार की नीतिगत समीक्षा तथा व्यापार में नैतिकता की अवस्थापना तथा व्यापार में निर्णय लेते समय नैतिक दृष्टि का समावेश।

जॉन डोनाल्डसन के अनुसार व्यापार नीतिशास्त्र के प्रमुख प्रश्न ये हैं[१]

१. क्या व्यापार नीतिशास्त्र संभव है ? २. क्या व्यापार नीतिशास्त्र में विवेचित मूल्यों, मानकों और तर्कों को तथ्य परक तौर पर विश्लेषित किया जा सकता है ? ३. क्या सामान्य नैतिक सिद्धान्तों जैसे उपयोगितावाद अथवा 'स्वर्णिम नियम' को सिद्ध किया जा सकता है ? ४. क्या विभिन्न मूल्यों अथवा मूल्यों के समूह में आपस में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ? ५. क्या विभिन्न सिद्धान्तों में संगत बिठायी जा सकती है ? ६. व्यापार-नीतिशास्त्र और इससे जुडे अन्य विषय जैसे कानून, सरकारी नीति, राजनीति, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र और भाषा में परस्पर क्या सीमा रेखाएँ हैं जो उन्हें बाँधे हुए हैं ?

डोनाल्डस द्वारा बताये ये आधार प्रश्न उच्चस्तरीय और अधिनैतिक (metaethical) हैं।

एक अन्य तरीके से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि व्यापार नीतिशास्त्र में विवेचित होनेवाले मुद्दे दो प्रकार के हैं - (१) समष्टि स्तरीय तथा (२) व्यष्टि स्तरीय

समाष्टि स्तर के मुद्दे हैं -

१. व्यापारिक संस्थान का सामाजिक दायित्व २. मूल्य निर्धारण तथा

उत्पाद देयता (Price fixing and product liability) ३. नैगम जवाबदेही अथवा नैगम प्रशासन (Corporate governance) ४. पर्यावरणीय नैतिकता ५. बहुराष्ट्रीय और पारदेशीय व्यापारिक नैतिकता ६. अधिग्रहण और विलय की नैतिकता ७. कर्मचारियों की संख्या में कटौती ८. कार्यस्थल पर कर्मचारियों के वैयक्तिक एकान्त का अधिकार ९. व्यापार की उसके घटकों जैसे ग्राहक, आपूर्तिकर्ता, कर्जदार, कर्मचारी के प्रति नीति, समाज के प्रति नीति

व्यष्टि स्तर के मुद्दे इस प्रकार हैं-

१. कार्यस्थल की छोटो-मोटी समस्याएँ जैसे संस्थान में कार्यरत विभिन्न कर्मचारी वर्गों में टकराव, २. कर्मचारियों के अधिकार और कर्तव्य, ३. कर्मचारियों की जवाबदेही, ४. कर्मचारियों के कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन, ५. निष्पक्ष और न्यायिक प्रोन्नति, ६. यौन उत्पीडन की समस्या, ७. सूचना का अधिकार, ८. जाति तथा वर्ण के आधार पर भेदभाव, ९. कीमती उपहारों का लेन देन, १०. अनुशासनात्मक कार्यवाही में न्यायप्रियता, इत्यादि।

व्यापारिक और प्रबंधकीय निर्णय में नैतिकता के आयाम कहीं छुपे रहते हैं तो कहीं व्यापारिक पहलुओ के साथ घुले मिले रहते हैं। उदाहरणार्थ जब कोई कारखाना चलाते रहने से घाटा बढता जा रहा हो और उसे बंद कर देने पर सैकडों कर्मचारियों की नौकरी छूट रही हो तो ऐसे स्थिति में मालिकों/अंशधारकों और कर्मचारियों के हितों में सीधा टकराव उत्पन्न हो जाता है तथा व्यापारिक निर्णय में नैतिकता का पहलू प्रवेश कर जाता है। अगर कारखाना चालू रखना है तो कर्मचारियों के प्रति कल्याण की भावना से जिसे नुकसान से, फायदे में लाना उनका भी नैतिक कर्तव्य बन जाता है। कई सरकारी उपक्रम जैसे कोलार की सोने की खानें कई वर्षों से नुकसान में चल रही हैं और सरकार नैतिक नियोजक की हैसियत से कोई बीच का रास्ता चुन रही है।

जब किसी संस्थान के निदेशक अपने संस्थान की अथवा अंपने प्रभाव से अन्य संस्थान की वास्तविक अंदरूनी जानकारी का लाभ उठाते हुए अपनी अथवा अपने अधिकार क्षेत्र की कंपनियों के शेयर के क्रय-विक्रय से बडा मुनाफा कमाए तो वे सामान्य अंशधारकों के हितों को कुचलते हैं। इस कर्म में नैतिकता का अभाव स्पष्ट झलकता है।

सस्ते बाल-श्रम के नियोजन से हमारे देश में आतिशबाजी, पटाखा सामग्री बनाने का उद्योग, माचिस, बीडी बनाने तथा कालीन बनाने के उद्योग खूब पनप रहे हैं। कानूनी बंदिशों के बावजूद भी अब तक बाल-श्रम को अवैध तौर पर व्यापार में लाभ कमाने या लाभ में अधिकता लागे के निर्णय के इनके वैधिक पहलू के साथ ही नैतिक पहलू भी हैं। इसी प्रकार जर्मनी के कालीन आयातकों द्वारा भारत में बाल-श्रम से बनी कालीनों की खरीद का बहिष्कार उनका अपने व्यापार के नैतिक आयामों के मद्दे नजर लिया निर्णय है।

बैंकिंग-नीतिशास्त्र

जिस तरह व्यापार-नीतिशास्त्र एक उच्च विकसित शास्त्र का रूप ले चुका है, उस तरह बैंकिंग नीतिशास्त्र जैसा स्वतंत्र, स्वच्छंद विषय अभी तक उभर कर सामने नहीं आया है किन्तु इसकी अल्प - विस्तर संभावनाएँ अवश्य हैं। व्यापार-नीतिशास्त्र की तमाम मूलभूत बातें बैंकिंग पर भी लागू हैं किन्तु कुछ विलक्षण विशेषताओं के कारण बैंकिंग के मुद्दों को अलग से विवेचित करने की आवश्यकता है। ये विशेषताएँ क्या हैं ?

हम पहले कह चुके हैं कि बैंकिंग एक नाजुक और बुनियादी उद्योग है जिसकी छत्र-छाया में अन्यान्य उद्योग सहजता से फलते फूलते रहते हैं।

नाजुकता : बैंक का व्यवसाय विश्वास की डोर से बँधा है। गरीब अमीर, मध्यम वर्गीय, व्यापारी, वेतन भोगी या पेन्शन भोगी हर तबके का मनुष्य अपने जीवन में संजोयी बचत को अपने आडे वक्त में काम आने के लिये तथा सुरक्षा के साथ ही मुद्रास्फीति के थपेडों से उसे बचाने के लिये उचित ब्याज दर पर बचत का मूल्य बढाने के लिये उसे बैंक में जमा रखना चाहता है। उसे इसके वक्त पर लौटाये जाने का शत प्रतिशत विश्वास है। इसी प्रकार व्यापारी, उद्यमी अथवा उद्योगपति अपने व्यापार का विस्तार करने के लिये आस्तियों की खरीद तथा कार्यशील पूँजी वित्तपोषण के लिये बडे विश्वास और उम्मीद से बैंक की और देखते हैं।

बुनियादीपन : बैंकिंग को उद्योगों का राजा कहा जा सकता है क्योंकि इसमें उद्योगों की सब विशेषताएँ तो हैं ही, साथ ही एक विशेषता और यह है कि किसी भी उद्योग के आवश्यक घटकों में से एक - वित्तपोषण - का यह जरिया है। चाहे स्टील बनाने का उद्योग हो या जूता बनाने का, अस्पताल

हो या होटल, हर संस्थान को वित्तपोषण की आवश्यकता यदा कदा पड़ती रहती है। अपवादों में बीमा उद्योग, पेन्शन फंड या म्यूचुअल फंड हो सकते हैं।

मुद्रा का लेन देन : अन्य उद्योगों में वस्तुओं और सेवाओं के आदान प्रदान, क्रय विक्रय में उन वस्तुओं अथवा उन सेवाओं के सृजन, कच्चे माल की अवस्था से उन्हें तैयार माल की श्रेणी तक पहुँचाना या सेवा के लिये मनुष्य के शरीर या मस्तिष्क के विकास, सुरक्षा या आमोद प्रमोद के लिये व्यवस्था करना शामिल है। अर्थात् लेन-देन वस्तुओं और सेवाओं की है। किन्तु लेन-देन के माध्यम - मुद्रा अथवा रुपये - की लेन देन नहीं है या प्रधानतया नहीं है। यह बैंकिंग ही है जिसमें रुपया जो विनिमय का माध्यम है खुद विनिमयित होता रहता है किसी अन्य हित अर्थात ब्याज या कुछ अतिरिक्त सेवाओं के एवज में। ब्याज अगर शालीन तरीके से नहीं लिया जाता तो हमेशा तिरस्कृत रहा है। ईसाई और यहूदी धर्म ने सूदखोरी को पाप माना है। इस्लाम ने सूदखोरी को हराम कहा है। भारतीय परंपरा ने भी ब्याज से कमाई को उच्चकोटि का व्यापार नहीं माना है। उपनी पुस्तक 'राजनीतिशास्त्र' में प्रख्यात प्राचीन दार्शनिक अरस्तू ब्याज दर पर ऋण प्रदान करने की प्रक्रिया को अस्वाभाविक होने के कारण अनुचित ठहराते हैं और इसे बिचौलिये द्वारा दूसरों की कमाई अथवा खर्चे के दम पर अपना उल्लू सीधा करने जैसी घटिया प्रक्रिया मानते हैं। किन्तु कालान्तर में जब किसी भी व्यापारिक सफलता को मानवीय कौशल की सफलता माना जाने लगा और सूदखोरी के बजाय संतुलित मानव-मुखी ब्याज दर का प्रचलन बढने लगा तो ब्याज की भर्त्सना और धार्मिक निषेध पाश्चात्य जगत् में इतिहास की बातें हो कर रह गये। हम जानते हैं कि इस्लाम ने सूदखोरी की भर्त्सना की है। मुस्लिम विधिशास्त्रज्ञ रुपयों अथवा मुद्रा के तर्ज पर रुपयों अथवा मुद्रा की आमदनी को समूचे तौर पर अवैध न ठहराते हुए अब यह कहते हैं कि मुस्लिम कर्जदाता को कर्जदार की मजबूरी का फायदा नहीं उठाना चाहिए किन्तु साथ ही यह ठीक है कि दो मुस्लिम व्यापारी वर्तमान में ऐसे सौदे कर सकते हैं कि उन्हे भविष्य में होने वाले लाभ को वे एक खास अनुपात में बाँट लें। इस संकटमोचक उपाय को 'हियाल' कहते हैं जिसके सहारे ब्याज के लेन देन के बगैरे भी बडे बडे व्यापारियों के बीच रुपयों अथवा मुद्राओं के लेद देन का व्यापार चलता रहता है।

मुद्रा के लेन देन में ब्याज की अवधारणा में कर्ज लेनेवाले की मजबूरी अथवा स्वस्त पेशेवर इच्छा (जैसी बैंकों की अपने जमाकर्ताओं से होती है) के अलावा एक और तत्त्व या आयाम है - वह है समय का काल। ब्याज की गणना समय के आधार पर होती है जितने अधिक समय के लिये राशि जमा रखी जाती है उसी के अनुसार अधिक ब्याज दर तय की जाती है। जहाँ धनराशि की जितनी अधिक आवश्यकता होती है वहाँ माँग और आपूर्ति के नियमों के अनुसार उतनी ही अधिक ब्याज दर लगायी जा सकती है। माँग मुद्रा बाजार में बैंक अपनी गरज के मुताबिक जमाराशियों पर दी जाने वाली ब्याज दर से अनेक गुना ज्यादा पर ब्याज देते आये हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट कि बैंकिंग के लिये समय सापेक्ष ब्याज दर व्यापार की बुनियादी आवश्यकता है। पैसे के अतिरिक्त वस्तुओं/ सेवाओं का लेन देन पैसे (विनिमय का माध्यम) से होता है किन्तु जब पैसे का ही लेनदेन व्यापार हो जाये तो उसी पैसे को अतिरिक्त पैसे से संवलित किया जाना चाहिए और यही अतिरिक्त पैसा ब्याज है। इस अतिरिक्त पैसे के दमघोटू दबाव हो हर सभ्यता ने लताडा है। अंत में कह सकते हैं कि नैतिकता का पाठ तो बैंकिंग उद्योग को घुट्टी में मिला है। स्वस्थ ब्याज दर और सूद खोरी की ब्याज दर में केवल मात्रा का फर्क है गुणात्मकता तो एक जैसी है। युरोपीय सभ्यता में सन १७४५ में पोप चतुर्दश ने इस विषय पर एक विश्वपत्र (Encylical Letter) जारी किया जिसमें आर्थिक विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के उद्देश्य से ब्याज के लेनदेन से संबंधित सभी संविदाओं को अनैतिक न ठहराते हुए इस बात की चर्चा है कि कौन सी संविदाएँ सूदखोरी की हीन श्रेणी में समावेशित की जा सकती हैं।[२]

मानवीय वायदों का आदान प्रदान

मुद्रा, समय और ब्याज से जुडी विशेषताओं के साथ ही एक और विशेषता है- बैंक द्वारा अपने जमाकर्ता को यह वायदा दिया जाना कि जब वह माँग करेगा उसे चाही हुई रकम लौटा यी जायेगी। इसी तरह बैंक अपने कर्जदार से वायदा लेता है कि जब बैंक माँग करे उसे कर्ज दी गयी राशि वापस की जानी चाहिये और इसी के अनुसार माँग वचनपत्र निष्पादित किये जाते हैं अथवा सावधि ऋणों में यह उपबंध रखा जाता है कि अमुक सीमा तक किश्तों के न भरे जाने पर पूरा ऋण तुरन्त देय अथवा ऋण दाता द्वारा

माँगने योग्य बन जाता है।

बैंकिंग में व्यवहृत होने वाले परक्राम्य लिखत को पैसे देकर अथवा मूल्य चुका कर बिना संशय और विश्वास के साथ खरीदने वाले को पूर्व धारक का उस पर सही स्वामित्व न रहने पर भी अधिकृत धारक माना जाता है जब कि सामान्य वस्तुओं के संदर्भ में यह बात लागू नहीं है।

बैंकिंग को नियमन की आवश्यकता

यह तो सर्वविदित है कि बैंक ऋण प्रदान करने के माध्यम से बैंकिंग जगत् में नये जमा की सृष्टि करते हैं और मुद्रा-प्रसार में सहायक होते हैं। मुद्रासृजन का अपना नैतिक आयाम है जो सामान्य वस्तुओं अथवा सेवाओं के सृजन की बनिस्बत विलक्षण है। कोई भी सरकार यही चाहेगी की बैंकों की मुद्रासृजन की क्षमता को अपनी अथवा अपने केंद्रीय बैंक की बृहत् समष्टिपरक आर्थिकनीति (macroeconomic policy) के अनुरूप ही रखे जिससे उच्चतम सम्भाव्य विकास दर को प्राप्त करने के मार्ग में अप्रत्याशित मूल्यवृद्धि/ मुद्रास्फीति की बाधाएँ न आए। अतः बैंकों के व्यापार करने के अपरोक्ष तौर-तरीकों पर यथा समय अंकुश लगाया जाना आवश्यक है। दीर्घ अवधि की आर्थिक नीति विशेषकर मौद्रिक नीति का उद्देश्य चल मुद्रा में स्थायित्व माना जाता है। स्थिर चल मुद्रा समाज और व्यापार जगत् हेतु उसी तरह आवश्यक है जैसे व्यक्तिस्वातन्त्र, निजी सम्पत्ति या कुशल सार्वजनिक सेवाएँ।

अत्यधिक लाभ कमाने के फेर में बैंक सामान्य नागरिकों से उधार पर लिये गये धन को अत्यधिक जोखिम वाले व्यापार में न लगा दें, कुछ निश्चित राशि का सुरक्षाकवच उपलब्ध रहे ताकि अपने जमाकर्ताओं को सतत सेवा देते रहें, इस आशय से केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंकों पर नियंत्रण अत्यावश्यक है। बैंकिंग व्यापार, वगैरे नियामक की मध्यस्थता के, खतरे का व्यापार है। बैंकों को नियामकों की आँखों से देखना और कानों से सुनना अपने अस्तित्व को बचाने के लिये जरूरी है।

बँक एवं वित्तीय संस्थाओं के नियमन और नियंत्रण में सातत्य आवश्यक है जिसका मुख्य कारण है असंख्य लोगों से उनकी बचत का बैंकों के पास व्यापार संसाधन के रूप में मौजूद होना जो कानूनी तौर पर एक बार बैंक मे जमा हो जाने पर बैंक का हो जाता है और जिसके विशिष्ट इस्तेमाल को ग्राहक को बतलाने हेतु वह बाध्य नहीं है। कानूनी बाध्यता है उसका समतुल्य

चुकाने की और साथ ही नैतिक दायित्व है कि जमाकर्ता द्वारा रकम माँगे जाने पर बैंक उसे तत्काल चुकाये। सरकार और नियामक बैंक द्वारा एक विशेष सीमा तक बैंक में जमा की गयी जमा राशि का बीमा कराया जाना इसी कर्तव्यबोध को आधार प्रदान करता है कि बैंक के खतरे की स्थिति में पहुँच जाने पर भी निर्दोष जमाकर्ता का, एक सीमा तक रखे गये जमा पर, नुकसान न हो।

व्यावसायिक और केन्द्रीय बैंक के नैतिक सरोकारों को बैंकिंग की निजी विशेषताओं की इस चर्चा का समापन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्वबँक के नैतिक दायित्व से करते हैं जिनके पास विभिन्न देशों को अपने संसाधनों और प्रतिमा के अनुसार ऋण बाँटने हेतु धनराशि है और न्यायसंगत तरीके से बाँटने का नैतिक दायित्व भी है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर बैंकिंग नीतिशास्त्र ने मूल्य, प्रश्न और मुद्दे (व्यापार नीतिशास्त्र के मुद्दों के अलावा) इस प्रकार हैं-

पारस्परिक विश्वास की क्या नैतिकता है ? बैंकर का गोपनीयता का दायित्व कितना गहन है ? वित्तीय विवरणियों में प्रकटीकरण की सीमा क्या हो ?

क्या पहले के जमाने की दिखावटी साज-सज्जा (Window dressing) किसी रूप में अब नहीं होती और नहीं होना चाहिये ?

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा शेयर निर्गत करते समय कर्मचारियों को प्राथमिकता, दबाव और सहूलियत पर ऋण देकर शेयर बेचना, उनके द्वारा सामान्य जनता में शेयर बेचते समय झूठे वादों का इस्तेमाल होना।

बैंकों के कर्मचारियों की लापरवाही अथवा बेइमानी अथवा दोनों से जनता के विश्वास का डगमगाना। करोडों रुपयों के गबन, धोखाधडी जालसाजी के मामले जिनमें या तो बाहर वालों ने बैंक कर्मियों की लापरवाही का फायदा उठाया अथवा स्वयं बैंक कर्मियों ने अपने बैंक को धोका दिया। क्या धोखाधडी के मामले केवल नियमों के प्रति सजगता से रोके जा सकते हैं ? या कर्मचारियों के प्रशिक्षण में नैतिक आचरण बनाये रखने के विशेष कार्यक्रमों का आयोजन हो। नैतिक कार्य निष्पादन पर अधिक जोर देने की आवश्यकता।

वचन निभाने की नैतिकता, दिवालियेपन की नैतिकता, बीमार उद्योग को स्वस्थ बनाने की नैतिकता, गैर निष्पादक आस्ति को बट्टे खाते में डालने की नैतिकता, अधिकारों के प्रत्यायोजन में गलत व्यवहार से उत्पन्न अनैतिकता,

ऋण-माफी की नैतिकता। बैंकों का सामाजिक दायित्व, बैंकों में नैगम प्रशासन (corporate governance), इत्यादि।

सी २६४ सेक्टर - ७
इन्दिरानगर, लखनऊ

चंद्रशेखर व्यास

टिप्पणियाँ

१. जॉन डोनाल्डसन - **की इशूज इन बिजनेस ऐथिक्स** - एकाडेमिक प्रेस हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच पब्लिशर्स, लंडन, १९८९, पृ. २९-३३
२. स्टीफन फ्रॉवेन एवं फ्रान्सिस मेक्ह्यूग (संपादित) **फायनान्शियल डिसिशियन - मेकिंग एंड मोरल रिस्पोंसिबिलिटी**, पृ. XXIII

निर्वचनशास्त्र पारिभाषांकन और स्वरूप-निरूपण

आज बहुत सारे पश्चिमी सिद्धान्त आए हैं, जो रचना की समझ को खोलने का प्रयास कर रहे हैं। कभी जर्मनी में इसी सोद्देश्यता को लेकर ''हर्मीन्यूटिक्स'' का आरम्भ हुआ। समकालीन साहित्य-चिन्तन में आज फिर निर्वचनशास्त्र महत्त्वपूर्ण हो उठा है। इसलिए इस आलेख में ''निर्वचनशास्त्र'' क्या है, इस पर विचार किया जा रहा है।

'निर्वचन' शब्द अपने भीतर व्याख्या, अर्थनिर्णय अर्थप्रतिपादन अथवा किसी बात को निश्चित रूप में कहने जैसे अर्थों को सँजोए हुए है। 'निर्वचनशास्त्र' में 'शास्त्र' शब्द के मूल में संस्कृत 'शास्' धातु है, जिसका अर्थ है - ''शासन करना, प्रदर्शन करना अथवा नियन्त्रण करना।'' अतएव ''निर्वचनशास्त्र'' का सम्बन्ध व्याख्या, अर्थनिर्णय अथवा निर्वचन से सम्बद्ध नियमों, सिद्धातों के प्रदर्शन और नियंत्रण से है। इस अर्थ के आधार पर ''निर्वचनशास्त्र'' की जो परिभाषाएँ की गयी हैं, उन्हें सात वर्गों में विभक्त करना समीचीन होगा-

१. रूपान्तरपरक परिभाषा
२. व्युत्पत्तिपरक परिभाषा
३. स्वरूपपरक परिभाषा
४. प्रकार्यपरक परिभाषा
५. विश्लेषणपरक परिभाषा
६. दर्शनपरक परिभाषा
७. कार्यक्षेत्रपरक परिभाषा

१. रूपान्तरपरक परिभाषा

''निर्वचनशास्त्र'' अंग्रेजी शब्द ''हर्मीन्यूटिक्स'' का हिन्दी रूपान्तर है जिसके मूल में ग्रीक शब्द ''हर्मोन्यूइन'' (Hermeneuein) है, जिसका अर्थ है = ''टु इन्टरप्रेट'' अर्थात् व्याख्या करना।''[१] इसके मूल में ग्रीक शब्द ''हर्मीन्यूतिक'' (Hermeneutik) भी माना जाता है जिसमें ''टिक्स'' शब्द

"विज्ञान के अर्थ को इंगित करता है यथा-"स्टाइलिस्टिक्स" (शैलीविज्ञान) अथवा "लिंग्विस्टिक्स" (भाषा विज्ञान)।

२. व्युत्पत्तिपरक परिभाषा

ग्रीक देवता "हर्मस" के साथ इस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जोडा जाता है, जिसे "देवताओं का संदेशवाहक" और "सीमाओं का देवता" माना जाता है। इसलिए कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध को निर्वचनकार्य की त्रिकसंरचना को प्रतिबिम्बित करने वाला माना है -

१. एक संकेत, सन्देश या पाठ की अपेक्षा/आवश्यकता।

२. एक मध्यस्थ अथवा निर्वचक

३. किसी श्रोता तक सन्देश पहुँचाना।[२]

इस प्रकार "हर्मस" शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मानते हुए "सन्देशवाहक" के अर्थ में इस शब्द का सम्बन्ध स्वत: ही "निर्वचन-प्रक्रिया" से तथा "सीमाओं के देवता" के अर्थ में "निर्वचन के नियमों अथवा सिद्धांतों के निर्धारक" से जुड जाता है।

३. स्वरूपपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" के स्वरूप की चर्चा करते हुए इसे "धार्मिक और साहित्यिक कृतियों के निर्वचन के सिद्धान्त[३] तथा व्यवहार[४] से सम्बद्ध माना गया है। यदि एक ओर इसे "निर्वचन और व्याख्या के पद्धतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्ययन[५] रूप में व्याख्यायित किया गया है, वहीं दूसरी ओर इसे "संस्कृति-विज्ञानों का आधारशिला और समस्त समझ की स्थितियों की छाया अथवा प्रतिबिम्ब[६] कहा गया है। "अतीत के किसी दस्तावेज के अर्थ का निर्वचन करने वाले सिद्धान्तों के संग्रह"[७] होने के साथ साथ "निर्वचनशास्त्र" एक बौद्धिक अनुशासन भी है, जो मानवीय अभिव्यक्ति के स्वरूप और पूर्वग्रहों की व्याख्या"[८] है।

कहीं इसे "मात्रविज्ञान"[९] का दर्जा दिया गया है तो कहीं उसे "निर्वचन अथवा व्याख्या की कला और विज्ञान"[१०] के दोनों छोरों पर अवस्थित माना गया है।

४. प्रकार्यपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" जहाँ एक ओर "मानवीय व्यवहार और सामाजिक परम्परा की सूझ और व्याख्या की प्रकृति से सम्बद्ध दार्शनिक परम्परा[११] की

उपलब्धि है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रमुख प्रकार्य है - "अतीत के किसी दस्तावेज के अर्थ को उद्घाटित करना। इसका सम्बन्ध व्याख्या मात्र के सिद्धान्तों से न होकर व्याख्या की प्रक्रिया से भी है।"[१२] यह किसी पाठ की प्रकृति, किसी पाठ को समझने से सम्बद्ध है। पाठ का क्या अर्थ है तथा किस प्रकार से श्रोताओं के पूर्वग्रहों और विश्वासों से सम्बद्ध कृति को व्याख्यायित किया जाए, यह इसकी समझ और निर्वचन का निर्धारण भी करता है।"[१३] इसे व्याख्या से संयुक्त होने के कारण "भाष्य-विज्ञान"[१४] भी कहा जाता है। अपने अन्य व्यापक अर्थों में "निर्वचनशास्त्र" शब्दार्थ-मीमांसा भाष्य, अर्थ, उल्था और टीका[१५] के प्रकार्यों को संजोए हुए है। इसलिए "निर्वचनशास्त्र" न केवल कृति की व्याख्या करता है अपितु "कृति के निर्वचन की जाँच"[१६] की ओर भी उन्मुख होता है।

५. विश्लेषणपरक परिभाषा

"निर्वचनशास्त्र" का सम्बन्ध मूलतः निर्वचन से है और निर्वचन विश्लेषणाधारित होता है। इसलिए निर्वचन-प्रक्रिया में विश्लेषण का उद्देश्य "काव्यात्मक प्रभाव की क्रियाओं की रीति को प्रदर्शित करना[१७] रहता है। इसलिए विश्लेषणात्मक अर्थों में "निर्वचनशास्त्र" को "विश्लेषणात्मक और चिन्तनात्मक प्रथा"[१८] कहा गया है।

६. दर्शनपरक परिभाषा

"हर्मीन्यूटिक्स" मूलतः धर्मशास्त्रीय मीमांसा अथवा दर्शनशास्त्र से जुडा हुआ शब्द है तथा "दार्शनिक व्याख्या में इसका सम्बन्ध "देसीन" (DASEIN) आन्दोलन से जोडा जाता है।"[१९] "देसीन" (DASEIN) का अर्थ है- होना/अस्तित्व। इस दृष्टि से यह शब्द कहीं न कहीं अस्तित्ववाद से जुड जाता है जो निर्वचनशास्त्रीय संदर्भ में हेडेगर के दार्शनिक चिन्तन से संयुक्त है।

७. कार्यक्षेत्रपरक परिभाषा

आधुनिक "निर्वचनशास्त्र" की अवधारणा को और भी स्पष्ट रूप में जानने के लिए इसकी कार्यक्षेत्रपरक परिभाषा भी विशेष महत्त्वपूर्ण है, जो इन मुद्दों पर प्रकाश डालती है -

१. किसी कृति को समझने का अर्थ है और इसके विभव की क्या स्थितियाँ हैं ?

२. संस्कृति-विज्ञान प्रविधि और रूप में प्रकृत विज्ञानों से किस प्रकार भिन्न हैं ?

३. कौन-सी ऐसी स्थितियाँ हैं, जो किसी भी प्रकार की मानवीय समझ को संभाव्य बनाती हैं ?

४. हम किस प्रकार से समझ और अर्थ जैसी अवधारणाओं से युक्त कुछ अवधारणात्मक पहेलियों को सुलझा सकते हैं और किस प्रकार से यह समाधान हमें निर्वचन-कार्य को समझने में सहायता दे सकता है ?''[२०]

निर्वचनशास्त्र : स्वरूप-विवेचन

''निर्वचनशास्त्र'' की ऊपर निर्दिष्ट परिभाषाओं के आलोक में इसे एक ''चिन्तनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रथा'' के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। ''निर्वचनशास्त्र'' निर्वचन और 'शास्त्र' के योग से निष्पन्न है। ''निर्वचन'' शब्द निरुक्ति, व्याख्या, अर्थ-प्रतिपादन अथवा ''निश्चयकथनम्'' के अर्थ का द्योतन करता है तथा शास् धातु से व्युत्पन्न शास्त्र शब्द शासन, नियन्त्रण अथवा प्रदर्शन के अर्थों को ज्ञापित करता है। इसलिए निर्वचनशास्त्र निर्वचन के सिद्धान्तों के प्रदर्शन और नियन्त्रण से सम्बद्ध ऐसा विज्ञान है, जो न तो मात्र अर्थोद्घाटन की सैद्धान्तिकी के प्रति उन्मुख होता है, अपितु अर्थोद्घाटन-प्रक्रिया से भी संयुक्त है।

भाषाविज्ञान (लिंग्विस्टिक्स), शैलीविज्ञान (स्टाइलिस्टिक्स) और प्रतीक-विज्ञान (सिमिओटिक्स) की तरह निर्वचन की दिशा में उन्मुख ''हर्मीन्यूटिक्स'' (निर्वचनशास्त्र) मूलतः धर्म-मीमांसाशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्रीय परम्परा से जुडा हुआ शब्द है। इसका प्रारम्भिक विवरण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों, यथा-''बाइबिल'' के आध्यात्मिक सत्य की व्याख्या में उपलब्ध होता है। ''हर्मीन्यूटिक्स'' की इसी पृष्ठभूमि के कारण ही इसे धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक कृतियों के निर्वचन के पद्धतिशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा व्यवहार से सम्बद्ध ऐसा विज्ञान माना जाता है जो कृति की संभाव्यता और उसमें निहित विभिन्न अर्थच्छवियों को उजागर कर उसकी शब्दार्थमीमांसा भी करता है और इस प्रकार यह स्वरूपतः विज्ञान और कला दोनों ही छोरों पर अवस्थित रहता है।

कहना होगा कि मानवीय अभिव्यक्ति के स्वरूप और पूर्वग्रहों की व्याख्या तथा मानवीय समझ को संभाव्य बनानेवाली स्थितियों से सम्बद्ध यह

"निर्वचनशास्त्र" एक ऐसा बौद्धिक अनुशासन भी है जो अन्तर्वस्तु और पद्धति को पूर्णतया अन्तर्ग्रंथित मानते हुए इस बात पर बल देता है कि कृति का अध्ययन-विश्लेषण इसकी सत्ता-मीमांसा (आंटोलोजी) पर आधारित होना चाहिए तथा इस सत्ता-मीमांसा का आधार भाषा है।

अतः अर्थोद्घाटन-प्रक्रिया, अर्थ के प्रतिपादन तथा निर्वचन की जाँच की दिशा में क्रियाशील उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त "निर्वचनशास्त्र" को "भाष्य-विज्ञान" के रूप में अभिहित करना भी समीचीन है।

उपर्युक्त विशेषताओं से जहाँ "निर्वचनशास्त्र" के स्वरूप एवं उसके प्रकार्यों का परिचय मिलता है, वहीं "निर्वचनशास्त्र" की वैचारिकता एवं क्रियाक्षेत्र पर प्रकाश पडता है।

यू. जी. सी. शोधप्रज्ञ, हिन्दी विभाग, **सुश्री मीनू नन्दा**
गुरू नानक देव विश्वविद्यालय,
अमृतसर

टिप्पणियाँ

१. इलियड, **मर्सिया दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन**, छठा खण्ड, मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क १९८७, पृ. २७९
२. वही
३. हिनेल्स, जॉन. आर., **दि पेंगुइन डिक्शनरी अव रिलिजन्स**, पेंगुइन बुक्स, लंदन १९८४, पृ. १४५
४. मोरनर, कैथलीन, **डिक्शनरी अव लिटरेरी टर्मज**, एन. टी. सी. पब्लिशिंग ग्रुप, यू. एस. ए. १९९८, पृ. ९७
५. वेबस्टर, मरियम **वेबस्टर्स थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी अव दि इंडियन लैंगवेज** खण्ड दो, जी. एण्ड सी. मरियम कम्पनी, १९७६, पृ. १०५९
६. इलियड, **मर्सिया दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन्स**, छठा खण्ड, मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क १९८७, पृ. १८२-२८४
७. लार्डएरिक **ए थियोलोजिकल ग्लोसेरी**, दि रिलिजिअस एजुकेशन प्रेस, ऑक्सफोर्ड १९६४, पृ. ५४
८. इलियड, मर्सिया, **दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन**, छठा खण्ड

मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क १९८७, पृ. २७९

९. काने, मोरिस. **ए. इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन्स**, दिल्ली : नाग पब्लिशर्ज प्रथम संस्करण १९७६, पृ. १७८

१०. दि फिलोलोजिकल सोसाइटी, **दि ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी**, लंदन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७०, पृ. २४३

११. इलियट, स्टीफन, **वेबस्टर्स न्यू वर्ल्ड इन्साइक्लोपीडिया**, न्यूयार्क : प्रेंटाइस हाल जनरल रेफरेंसिस, १९९३, पृ. ३८६

१२. लार्ड, एरिक, **ए थियोलोजिकल ग्लोसेरी**, ऑक्सफोर्ड : दि रिलिजिअस एजुकेशन प्रेस, १९६९, पृ. ५४

१३. इलियड, मर्सिया, **दि इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन** छठा खण्ड, न्यूयार्क : मैकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, १९८७, पृ. २७९

१४. बुल्के, कामिल, **अंग्रेजी-हिन्दी-कोश**, दिल्ली : एस. चांद एण्ड कम्पनी, तृतीय संस्करण, १९८१, पृ. २९३

१५. बाहरी, हरदेव, **बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश**, प्रथम भाग, वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, १९६९, पृ. ०८८१

१६. इलियड, मर्सिया, **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन**, छठा खंड, न्यूयार्कः मेकमिलन एण्ड केगनपा, १९७३, पृ. ८

१७. फाउलर, रोजर, **डिक्शनरी अव मॉडर्न क्रिटीकल टर्मज**, लंदन एण्ड बोस्टन : रूटलेज एण्ड केगनपा, १९७३, पृ. ८

१८. इलियड, मर्सिया **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन**, छठा खण्ड, न्यूयार्क : मेकमिलन एण्ड कम्पनी, १९८७, पृ. २८५

१९. वुल्फ जेनेट, **हर्मीन्यूटिक फ्लासॉफी एण्ड दि सोशियोलोजी** अव **आट**, लंदन एण्ड बोस्टन : रूटलेज एण्ड केगनपॉल, १९७५, पृ. १०३

२०. इलियाड, मर्सिया, **इन्साइक्लोपीडिया अव रिलिजन** छठा खण्ड, न्यूयार्क, मेकमिलन पब्लिशिंग कम्पनी, १९८७, पृ. २८१

स्वधर्म पालन : अत्याधुनिक समय की माँग

प्रारंभ से वर्तमान समय तक भारतीय वैचारिकी ने सत्यमय तथा कर्ममय जीवन जीने का उद्घोष दिया है। ऐसे निष्पाप उद्घोष की प्राप्ति हर मानव स्वधर्म पालन से कर सकता है। तो स्वधर्म है क्या ? सीधे-सीधे यही कि स्वधर्म मानव का कर्तव्य है जिसका मानव की प्रकृति से अन्वय संबंध है। हममें अधिकांश जन कहीं छात्र हैं कहीं अभिभावन हैं और कहीं शिक्षक। पुनः छात्र, अभिभावन और शिक्षक कहीं शोषित हैं कहीं शोषक। इस शोषण की जड है कि हम दिन-प्रतिदिन शिक्षा को अपने उद्देश्य का शगल नहीं वरन् व्यवसाय का रूप देते जा रहे हैं। ज्ञान हासिल करने के लिए शिक्षण संस्थानों में पढने-पढाने का ध्येय पीछे छूटता जा रहा है। ऐसे समय में स्वधर्म का निर्वहन हमारी बहुत-सी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

दर्शन के छात्र एवं शिक्षक के रूप में स्वधर्म विषय-चयन के पीछे हमारी भावना है कि यदि हम स्वयं से पृथक् हैं, अलग हैं और 'स्व' असंगत हैं तो किस तरह से 'स्वधर्म' की विविध धारणाओं की समयानुकूल व्याख्या करके वर्तमान संदर्भ में इसकी दार्शनिक प्रस्तुति की चेष्टा कर सकते हैं। फिर हमारी श्रुति हमें 'विश्वमानुष' बनने का आदेश देती है। यह भी न्यायोचित है कि स्व के अनुसंधान और प्राप्ति हेतु पुरानी प्रत्येक प्रतिमा को विसर्जित करने की हम चेष्टा करें तब धर्म पर विमर्श हो। मौजूदा समय में केवल एक शताब्दी का ही अंत नहीं हुआ है बल्कि नई सहस्राब्दी में हम प्रवेश कर चुके हैं। ईसा की तीसरी सहस्राब्दी के प्रारंभ होने से पाँच सौ वर्ष पूर्व भारतीय महाकाव्य महाभारत का एक अंग गीता[1] 'स्वधर्म की अवधारणा' को हम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

हम भू-मंडलीय एकीकरण की दौड में शामिल हैं लेकिन अपनी विशिष्टता भी हमें बनाये रखनी है। चतुर्दिक विकास के प्रयास में चहुँ ओर अव्यवस्था परिलक्षित है, बौद्धिक मानव के साथ हिंसक मानव भी हम ही

है। क्रूर दंगे आपराधिकवारदात, विभिन्न धर्मों के युद्ध, गृहयुद्ध, शीतयुद्ध के बाद हम परमाणु युद्ध के भय से आक्रांत हैं। पडोसी देशों के परस्पर युद्ध के साथ ही मानवीय संबंधों के विरुद्ध युद्ध से हमने संघर्षपूर्ण और विसंगतिपूर्ण जीवन पाया है। हमारी शंका यह भी है कि कहीं 'स्वधर्म' का हम छात्र, शिक्षक तथा नागरिक रूप में उचित निर्वहन करने में सक्षम नहीं हो पा रहे हों। वर्तमान समय में हम धर्म-सहिष्णुता, सर्वधर्मसमभाव, विश्व-धर्म, मानवीय-धर्म की बातों में उलझे रहने पर भी अपनी लडाकू, लोभी, ईर्ष्यालु, परम दुःख से बोझिल प्रवृत्तियों को खुद से अलग नहीं कर पाते। ऐसे परिवेश में सख्त जरूरत है स्वधर्म पालन की।

'स्व' उपसर्ग के साथ मूलशब्द 'धर्म' का प्रयोग 'स्वधर्म' शब्द का निर्माण करता है। यथा- स्वजन people; देश - country; धर्म - religion; पक्ष - party; राष्ट्र- country; स्वेच्छा - will[२] इत्यादि। शब्दकोश में वर्णित हर शब्द का विवेचन श्रमसाध्य कार्य है फिर भी जहाँ तक संभव है हमारी कोशिश जारी है। संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर में 'स्व' और स्वधर्म दोनों का संकलन मिलता है : स्व - वि (सं) अपना। निज का[३]; स्वधर्म - संज्ञा (पुं.) (सं) अपना धर्म[४]।

तो अपना धर्म क्या है ? इसे पहचानने की जरूरत है बाकी सब स्वमेव हल होना है। हम यह भी नहीं भूल सकते कि धर्म से ही कर्तव्य का निर्णय होता है। यहाँ हम कहना चाहते हैं कि छात्र अपना कर्तव्य पहचानें, जिनका काम स्वाध्याय है। इसे वे विनम्रता से ले सकेंगे और शिक्षक रूप में हम अपना कर्तव्य पहचाने अर्थात् सज्ञनता से विद्यादान को तत्पर हों। फिर, स्वधर्म प्रत्येक व्यक्ति से जुडा है, पेशा उसने जो भी अख्तियार किया हो।

धर्म भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मूल भी माना जाता है, लेकिन हम विश्व में मौजूद असंख्य धर्मों के उदाहरणों के अध्ययन से स्पष्ट समझ लेते हैं कि धर्म मानवीय संस्कृति का प्राण है। पृथ्वी पर अनगिनत धर्मों की प्रेरणा है। उपनिषदों में धर्म शब्द का प्रयोग नैतिक आदर्श या सदाचार के अर्थ में हुआ है। जैसे - सत्यं वद। धर्मं चर।[५] अर्थात्, हे स्नातक, तुम सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो। विश्व में मौजूद तमाम धर्म के तार्किक विकास क्रम को डा. याकुब मसीह ने प्रस्तुत किया है जिसका उल्लेख विविध धर्मों की जानकारी देता है -
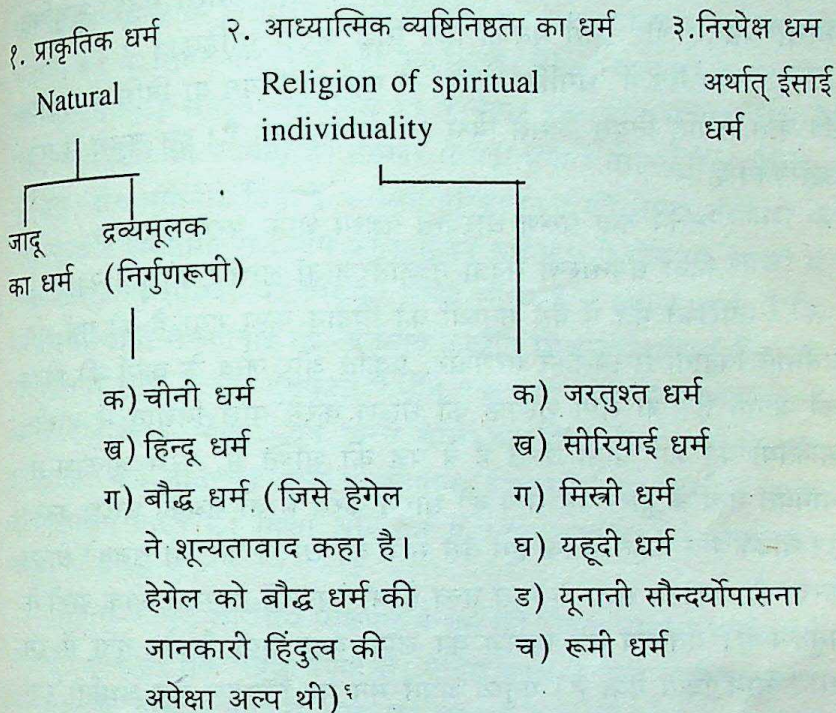
यद्यपि बहुत से धर्मों की गिनती इसमें नहीं आ पाई है। स्वधर्म के विवेचन में किसी विशिष्ट धर्म के बनिस्पत मानव जो धारण करता है का अर्थ बेहतर है।

धर्म शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हम देखते हैं -

वैश्वानराय पृथुपाजसे विप्रो रत्ना विधन्त धरूणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दृदुषत्॥[७]

भावार्थ है कि जिस प्रकार अग्नि अपने सनातन गुणकर्म स्वभावों को सेवता है कभी दोषी नहीं होता, वैसे विद्वान् जन जिज्ञासुओं के हित के लिए विद्या देकर अपने-अपने स्वभावों को भूषित करते हैं। कभी अधर्माचरण से दूषित नहीं होते हैं। इसी विषय को अगले मंत्र में कहा गया है -

अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।
क्षयं बृहन्त परिभूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितोधियावसुः॥२॥[८]

भावार्थ है कि मनुष्यों को देश के अवयवों को प्राप्त होकर उत्तम विद्याध्ययन अध्यापन और उपदेशादि कर्मों के साथ समस्त मनुष्य सुभूषित करना चाहिए और इससे सबका हित सिद्ध करना चाहिए।

प्रथम मंत्र में 'धर्माणि सनता' से धर्म को नियम या विधि कहा गया है। ऋत अर्थात् नियम जिससे विश्व का धारण होता है। इस संबंध में पुनः उद्धरणीय है -

ऋतेन ऋत धरूण धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन।
दिवो धर्मन्धरूणे सेदुषो नृञ्जातैरजाताँ अभिये ननक्षुः ॥२॥[९]

उपरोक्त मंत्र में वैसे मनुष्यों को विद्वान् कहा गया है जो पूर्व और वर्तमान विद्वानों से मिलकर परमेश्वर, प्रकृति और जीव के कार्य की विद्या को जानते हैं। जो लोग द्युलोक को धारण करने वाले विद्यान में आसीन शक्तियों की ओर यात्रा करते हैं वे यज्ञ की शक्ति में, परम आकाश में, भागवत सत्य के द्वारा उस सत्य को धारण करते हैं जो सबको धारण करता है। वैदिक मंत्र कहते हैं कि हम वैसे सत्य का धारण करें जो सबको धारण करता है। वेदोक्त सत्ता के सात तत्त्व हैं और पुराणों के सात लोक इन्हीं के अनुरूप हैं। मनतत्त्व को प्रकाश का लोक कहा गया है और वेदों में इसे स्वः[१०] नाम दिया गया है। मनुष्य अपने मन पर नियंत्रण करे अर्थात् 'स्व' पर, तो 'धर्म' अर्थात् कर्तव्य वह पूरा करेगा ही। इसलिए वैदिक नियम का विधि और निषेध के अनुरूप आचरण करना ही धर्म कहा गया है। स्व पर नियंत्रण से कर्तव्यपालन की वैदिक शिक्षा छात्रों, शिक्षकों के साथ ही समस्त मानवों को कार्यविद्या जानने की खुली चुनौती देता है।

वेद (श्रुति) एवं धर्मशास्त्र (स्मृति) में विरोध नहीं है। वेदविहित कर्मों की विशद व्याख्या धर्मशास्त्र करते हैं। महात्मा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में वैदिक आचरण के नियमों की व्याख्या के साथ-साथ कुछ नये नियमों का भी प्रसंगतः समावेश है। महात्मा मनु ने सदाचार को ही धर्म का मूल माना है। प्रतिष्ठा एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं हेतु निर्धारित नीतिशास्त्र[११] की पुस्तकों में महात्मा मनु ने याज्ञवल्क्यकृत धर्मशास्त्रों के आधार पर चारों वर्ण, चारों आश्रम एवं वर्णाश्रम धर्म, गुणधर्म, सामान्य सनातन धर्म, विशिष्ट धर्म तथा आपत्तिकालीन धर्मों के लक्षण की सविस्तार व्याख्या की गई है। तकनीकी विकास की ऊँचाइयों पर पहुँची मानव सभ्यता

और मिश्रित जाति के आधुनिक समाज में किसी जातिविशेष में जन्म मानव को किसी जाति के निर्धारित कर्मों में बाँध कर हम जातिगत कट्टरता को बढावा देने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते, लेकिन संस्कारों के अनुष्ठान के बिना हमारा समाज असंगठित हो जायेगा। संस्कार कर्म का बीज है ऐसा न्यायदर्शन का उद्घोष है। संस्कार से यहाँ हमारा तात्पर्य है शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास के लिए परिमार्जन[१२] की चेष्टा। संस्कारों के कर्मकाण्डीय अनुष्ठानों से विषय का प्रयोजन सधता नहीं दीखता। शास्त्रों में उक्त समावर्तन संस्कार का विवेचन विषय साध्य है - हमारा कथन है कि शिक्षण संस्थानों में अपनाई गई, वर्तमान कालीन शिक्षण प्रणालियाँ किञ्चित परिवर्तन के साथ प्राचीन गुरूकुलों में होने वाले समावर्तन संस्कार के अनुरूप ही हैं। विधिवत् विद्याध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी विद्यास्नातक तथा व्रतस्नातक कहे जाते थे। आज भी स्नातक, विद्यार्थी विद्या में स्नान करके ही विद्यार्जन करते हैं। विद्या और व्रत में स्नान करना हमारे छात्रों का स्वधर्म आज भी है।

गीता के पूर्व भारतीय वाङ्मय ने धर्म की विशद व्याख्या करके धर्म को स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचा दिया है। वैदिक काल के बाद उपनिषद् काल तक धर्म की दीर्घ यात्रा इस बात का प्रमाण है । परिणाम स्वरूप धर्म बहुमुखी, बहुआयामी भी बना है। महाकाव्य काल में प्रत्येक क्षेत्र में जटिलता आ गयी। श्रीकृष्ण ने जिस स्वधर्म की अवधारणा दी उसे आज भी अर्जुन (व्यक्ति या मानव) की जटिल मानसिक स्थिति के निदानस्वरूप देखा जा सकता है। अतः 'स्वधर्म' के यथार्थ स्वरूप की स्थापना के लिए श्रीमद्भगवद्गीता के संदर्भों का विवेचन विषय संगत होगा। ब्राह्मण और बौद्धों का संघर्ष जन्मना वर्ण-व्यवस्था और कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के विश्वासों के कारण भी था; गीता में इस वाद-प्रतिवाद का सुन्दर समन्वय है। केवल भगवत् आज्ञानुसार व्यक्ति कर्म करे इसके लिए गीताकार एक विशिष्ट शब्द- 'स्वधर्म' का प्रयोग करते हैं। हर व्यक्ति सामान्य और विशिष्ट गुणों से विभूषित होता है। मुक्ति के लिए महाभारत[१३] में सामान्य मानवीय धर्म के अतिरिक्त विशिष्ट धर्म अर्थात् 'स्वधर्म' की अपेक्षा भी बताई गई है। इसी में व्यक्ति की मौलिकता छिपी रहती है। स्वधर्म प्रबल होते हैं, इसलिए स्वधर्म की साधना यहाँ परमावश्यक कही गयी है।

इस विवेचन पर सभी जन सहमत होंगे कि कोई भी समाज-व्यवस्था तथा जीवन-पद्धति उसमें मौजूद व्यक्ति के चरित्र से समुन्नत होता है। दर्शनग्रंथों का मुख्य विवेच्य आचरण है। प्रसंग से प्रतीक बनी दार्शनिक गीत गीता में इतिहास, विज्ञान के साथ ही कला पक्ष और दर्शन की स्पष्ट झलक है। ऐसी सुगीता में उस समय तक के प्रचलित मतवादों मीमांसा-वेदान्त, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन के साथ ही ज्ञान, भक्ति, कर्म सम्प्रदायों के बीच एक आदर्श संतुलन हमें मिलता है। अतः गीता एक ऐसा सद्ग्रन्थ है जिसमें तत्त्वविचार, नैतिकनियम, ब्रह्म-विद्या और योग-शास्त्र निहित है। इसे विश्व साहित्य में उपस्थित ग्रन्थों में दुर्लभ ग्रन्थ और ईश्वरीय-संगीत का विशेषण मिल चुका है। स्वधर्म की अवधारणा और इसकी महत्ता का फलसहित निरूपण गीता में किया गया है। गीता की योग-दृष्टि का प्रथम भाग स्वधर्म हैं। इसे विकास वादी Marx और Engles Struggle for existence, Dialetical materialism तथा class struggle का नाम देते हैं। इस बात का निर्देश गीता में विशेष है कि मानव सदा ही निष्काम भाव से कर्म करे। निष्काम कर्म का आचरण ही स्वकर्म है और स्वकर्म ही स्वधर्म है। अतः स्वधर्म का अनुष्ठान ही व्यक्ति का कल्याण कर सकता है। प्रकृति के अनुसार शास्त्रविधि से नियत किए हुए वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म को ही गीता की भाषा में स्वधर्म, सहजकर्म,[१४] स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियत कर्म आदि नाम मिले हैं। यथा -

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥[१५]

यह ठीक है कि नीतिशास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार पर सहजकर्म में व्यक्ति के इच्छा स्वातंत्र्य की बात नहीं जी सकती क्योंकि सहज कर्म नीति-शून्य कर्म ठहरते हैं। लेकिन हमारे समक्ष एक अस्पष्टता आ जाती है कि 'स्वधर्म' को हम नीतिशास्त्रीय आधार तक ही सीमित नहीं कर सकते क्योंकि गीता मात्र नीतिशास्त्र नहीं है।

हमें गीता के उस दृष्टिकोण को भी याद रखना होगा कि सत्त्वगुण की अधिकता से ब्राह्मण, सत्त्वमिश्रित रजो गुण के आधिक्य से क्षत्रिय, तमोमिश्रित रजोगुण के आधिक्य से वैश्य तथा रजो मिश्रित तम की प्रधानता

से उन्हें शूद्र के रूप में रचा गया है। यथा-

सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।[१६]

स्वधर्म के संदर्भ में गीता का निम्न श्लोक कुछ अधिक ही महत्त्व रखता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।[१७]

स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्म को कर्तव्य समझकर करते रहना चाहिए। इसलिए अच्छे प्रकार आचरण किये हुए दूसरे धर्म से, गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरण भी कल्याणकारी है, दूसरे का भय देने वाला। ऐसा स्वधर्म सतही दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म का पक्ष लेता है। यथा-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।

फिर भी गीताकार की दृष्टि सूक्ष्म और उदार है। यहाँ जन्मना वर्ण-व्यवस्था का रूढ संकेत नहीं किया गया है। गीता का स्वधर्म अपना शील है जिसमें बाह्य नियंत्रण की गुंजाईश कतई नहीं है। इसलिए ऐसे स्वधर्म निर्वहन से व्यक्ति आनंद पाता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो... परमधर्मो भयावहः', को हम व्यक्ति की सहज क्षमता से समझ सकते है। जैसे किसी व्यक्ति की रूचि संगीत में है तो उसे संगीत के प्रति आकर्षण है और अपनी योग्यतानुसार उसने संगीत को स्वधर्म मान लिया है। इस स्वधर्म की साधना से वह संगीत में अपनी योग्यता स्थापित कर सकता है। इसके विपरीत जिसमें संगीत की सहज क्षमता नहीं उसे इसके प्रति सहज आकर्षण न होगा तो वह शायद ही सफल संगीतकार बन सकेगा। इसके साथ यह भी विचारणीय है - दोष युक्त हो तो भी स्वाभाविक कर्म नहीं त्यागना चाहिए। तत्पश्चात् स्वधर्म की महत्ता बताते हुए, यह भी निर्देशित है कि स्वधर्म की अवधारणा सभी कर्मों की समानता पर बल देती है। स्वधर्म की दृष्टि से सभी कर्म मूलतः समान हैं।

स्वधर्म सिद्धान्त का दूसरा महत्त्व इस संबंध में देखा जाता है कि यदि हम समाज की व्यवस्था को कायम रखना चाहते हैं तो स्वधर्म का पालन वांछनीय है। क्योंकि यदि हर व्यक्ति मनमाने ढंग से काम करना

शुरू कर दे तो व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ संबंधों में अराजकता आ सकती है और अराजकता सामाजिक शांति भंग करेगी तथा सामाजिक सुरक्षा भी खतरे में पड जायेगी। समाजशास्त्र की स्थापना है कि योग्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज में हो और नीतिशास्त्र की स्थापना है कि योग्य मनुष्य को ही फल मिले तो यहाँ संत विनोबा की बातें हमारी समझ से सटीक हैं - जिसका कर्म, उसी का फल[१८] व्यक्ति इस पर आत्मविश्लेषण करना प्रारंभ कर दे तो अपना 'स्व' सबका 'स्व' हो जाएगा। साथ ही हर व्यक्ति के स्व के प्रति मानव समान रूप से सहिष्णु होगा। स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहने की शिक्षा से हम गीता की महत्ता समझ सकते हैं।

स्वधर्म की तीसरी महत्ता इस अर्थ में है कि स्वधर्म पालन से आध्यात्मिकता का विकास होता है। वह इस तरह कि व्यक्ति किसी भी कर्म को कर्तव्य समझकर सम्पादित करे तो इससे 'अहं' प्रवृत्ति का शमन होता है और अहं का त्याग स्वधर्मपालन से ही संभव है। अंततोगत्वा गीता से निर्देश यही मिलता है कि व्यक्ति अहं का त्याग कर आध्यात्मिक विकास की दिशा में स्वकर्म करे।

स्वधर्म की अंतिम महत्ता इस रूप में देखी गई है कि इससे गीता की मूलशिक्षा 'निष्काम कर्म' को बल मिलता है। अर्जुन को निष्काम कर्म के लिए प्रेरित करना उस समय के स्वधर्म की माँग हो सकती है। लेकिन आज के संदर्भ में हमारा क्या स्वधर्म होना चाहिए यह भी एक महत्त्व की बात है।

सहस्राब्दीपुरुष राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हर व्यक्ती को अपना धर्म चुनने की स्वतंत्रता की वकालत करते हुए विचार दिया है कि धर्म व्यक्तिगत[१९] साधना और जीवन-दर्शन है । हर व्यक्ती अपना धर्म चुनने को स्वतंत्र है, यही उनके अनुसार स्वधर्म है । सभी धर्मों के भ्रातृत्व की कल्पना करके उन्होंने प्रार्थना की है कि चाहे जिसका जो भी धर्म हो, उसको उसी से श्रेय और सुख मिले ।[२०] मानव आचरण की कठिनाइयाँ और इससे संबंधित अटपटी समस्याओं का हल ढूँढने में इन्होंने[२१] सदैव ही गीतामाता का सहारा लिया।

समसामयिक भारतीय चिंतक डॉ. भगवानदास अपनें कथन में जिस मानव धर्म की चर्चा करते हैं वह हमें स्वधर्म के संदर्भ में बहुत ही सटीक

लगता है,

"That scheme or code of laws which binds together human beings in the bonds of mutual rights and duties, of causes and consequences of actions arising out of their temperamental characters, in relation to each other, and thus maintians society, is human law, Manavadharma."[22]

जहाँ तक गीता के स्वधर्मपालन को स्पष्ट करने की बात है निम्न बिन्दु यहाँ परिलक्षित होते हैं - प्रकृति, शास्त्र, वर्ण और अलौकिक शक्ति। अलौकिक शक्ति का निर्धारण मानव नहीं कर सकता। प्रकृति, शास्त्र एवं वर्ण को नयी दृष्टि से देखा जाए तो शायद मानव स्वधर्म का निर्धारण करके विश्व मानव बन कर विश्व मानवता की बात कर सकता है। तीनों निर्धारिक तत्त्वों को इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है - प्रकृति का तात्पर्य मानव स्वभाव एवं उसकी क्षमता से हो, मानव स्वभाव एवं क्षमता का निर्धारण आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर करके उसे एक वर्ण दिया जाए। उसे वर्ण देने से तात्पर्य है कि उसका व्यक्तित्व सुनिश्चित कर दिया जाए। यह व्यक्तिविशेष के लिए और उसके कर्मों से मानव-समाज दोनों के लिए लाभदायक होगा। हमारी समझ से उपर्युक्त तत्त्वों के निर्धारण में मनोविज्ञान, दर्शन (अध्यात्म विज्ञान) तथा प्राकृतिक विज्ञान के संयुक्त प्रयास अधिक कारगर होंगे।

'स्वधर्म' का संबंध मनुष्य के कर्तव्य से है यह जीवन के आदर्श की बात कर नीतिशास्त्रीय विषय बन जाता है, लेकिन नीतिशास्त्र स्वयं मूल्यमीमांसा की उपशाखा है, संपूर्ण दर्शन नहीं। अतः हमने भारतीय दृष्टिकोण से कुछ विवेचन की चेष्टा रखी है। भारतीय दर्शन को भारतीय संस्कृति का खजाना कहा गया है। इसकी आचारसंहिता बहुत ही सरल है - भगवत्कृपा से जिसके पास जो प्रभूत है उसका उचित पात्र में वितरण और इस कोशिश में हमने अपनी अनुभूतियाँ, अपने स्वाध्याय से अर्जित अनुभव को 'बहुजनहिताय' छात्र हित में देने की चेष्टा करके शिक्षकत्व की स्ववृत्ति अपनायी है। हमारे अध्यापन कर्म से मानव में माधुर्य और जीवन्तता बनी रहे। हर स्तर की बौद्धिक एवं अन्य विषमताएँ दूर हो सकीं तो हम शिक्षकत्व से राष्ट्रनिर्माण कर 'स्वधर्म' पूरा कर सकेंगे। हम से हमारा तात्पर्य

समस्त भू-मंडल के धियावसु से है। समस्त धियावसु ज्ञान के अन्वेषण में उद्यमशील हैं।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग डा. शैल कुमारी
लंगरसिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर ८४२००१

टिप्पणियाँ

१. John C. Plott & Paul D. Mays, **A Synchronological Chart To The Global History of Philosophy** और गुप्त, डा. दास, **भारतीय दर्शन का इतिहास**, भाग-२, पृ. ४३७
२. बाहरी, डा. हरदेव, **शिक्षार्थी हिन्दी-अंग्रेजी शब्दकोश**, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १९९२, पृ. ६८४,
३. **संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर**, रामचन्द्र वर्मा द्वारा मूल संपादित कोश संस्थान (कोश विभाग) द्वारा अष्टम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (२०३८ वि.), पृ. १०४६
४. वही, पृ. १०४७
५. **तैत्तिरीय उपनिषद**, १/११/१
६. मसीह, डा. याकुब, **हेगेल और ब्रैडले का प्रत्ययवाद**, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, १९८७, पृ. १६७
७. **ऋग्वेद**, मंडल ३ अनुवाक् १ सूक्त २,३१ मंत्र १; ऋग्वेद - भाषा-भाष्य प्रथम-भाग, सरस्वती महर्षि दयानन्द महात्मा वेद भिक्षुः भारतेन्द्रनाथ, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, पृ. ३०१
८. वही, पृ. वही, मंत्र २
९. विस्तृत अध्ययन हेतु देखें - **वेद-रहस्य** (उत्तरार्ध) श्री अरविन्द, श्री अरविन्द सोसायटी पांडिचेरी, १९७२
१०. **वेद-रहस्य** (उत्तरार्ध). पृ. ११
११. सिंह डा. बद्रीनाथ, **नीतिशास्त्र**, स्टूडेंस्ट्स फ्रेण्ड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी, पृ. ३३८-४०८
१२. आपटे वामन शिवराम, **संस्कृत-हिन्दी कोश**, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि., दिल्ली, पृ, १३४८
१३. **महाभारत**, शान्तिपर्व, अध्याय २६१

१४. **गीता**, १८. ४१, ४७
१५. **गीता**, १८.४८
१६. वही, श्लोक ४०
१७. **गीता** का अठारहवाँ अध्याय
१८. भावे विनोबा, **स्थितप्रज्ञ दर्शन**, अनुवादक - हरिभाऊ उपाध्याय, सत्साहित्य प्रकाशन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ, ११८
१९. गांधी मोहनदास करमचन्द, ***हरिजन***, २८ दिसम्बर १९३९
२०. विस्तृत अध्ययन के लिए देखे दत्त, डा. धीरेन्द्र मोहन, महात्मा गाँधी का दर्शन, अनुवादक डा. रामजी सिंह, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, पृ. ४३
२१. **बापू की आत्मकथा**
२२. Das, Bhagwan, **The Science of Social Organism or The Laws of Maun**, Vol, I & III. 2nd edi, Benaras, 1948, p. 49

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna, A. M. Ghose (eds), Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna. A. M.Ghose and P. K. Srivastav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and **P. P. Gokhale**(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), PartI, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 50/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy,
University of Pune,
Pune - 411007

नागार्जुन का भाषादर्शन

यथा यंत्रीकृतं तूर्यं वाद्येत पवनेरितम्
न चात्रवादकः कश्चिन्निश्चरंत्यथ च स्वराः
एवं पूर्व सुशुद्धत्वात् सर्वसत्वाशयेरिता
वाग्निश्चरति बुद्धस्य, न चस्यास्तीह कल्पना ।(प्रसन्नपदा १८.७)

(I)

माध्यमिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन की तर्कणा पद्धति जिसे टी.आर.वी. मूर्ति भारतीय दर्शन में कापरनिकसीय क्रांति[१] और यशदेव शल्य संदेहवाद से भी अधिक विस्थापक दार्शनिक कृत्य[२] कहते हैं, दर्शन के इतिहास में अनूठी होते हुए भी भारतीय दार्शननिक चिंतन में वह स्थान नहीं प्राप्त कर पायी जिसकी वह हकदार थी । शून्यवाद हमारे सामने ऐसे दर्शन के रूप में आता है जो बहुत अधिक निन्दित हुआ और थोडा ही सम्मानित हो सका । आचार्य शंकर शून्यवाद को आलोचना योग्य भी नहीं समझते[३] तो उदयनाचार्य जैसे नैयायिक माध्यमिकों की विचारप्रकिया को विचित्र प्रकार की मानसिक भ्रांति से ग्रासित चिंतन बताते हैं । नागार्जुन चूंकी किसी पक्ष का प्रतिपादन नहीं करते, उनकी अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं अतएव आधुनिक व्याख्याकार शून्यवाद को अद्वैतवाद, अनुपलम्भवाद अथवा संदेहवाद के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं । व्याख्याओं की ऐसी बहुलता और कुछ नहीं, नागार्जुन की स्वपक्षहीनता और शून्यता को अपने-अपने पूर्वग्रहों के अनुरूप व्याख्यायित करना हैं । नागार्जुन की स्वपक्षहीनता और शून्यता के वास्तविक तात्पर्य को न समझने के कारण अनेक भ्रांतियों का जन्म ही नहीं होता बल्कि शून्यता स्वयं में विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त हो जाती है । ऐसी विप्रतिपत्तियों का बहुत बडा कारण शून्यता के स्वरूप एवं चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय में भाषा के प्रकार्य को न समझने में छिपा हुआ है । अतः नागार्जुन को सही परिप्रेक्ष में समझने के लिए द्वन्द्वन्याय की संरचना एवं उसमें निहित भाषादर्शन को स्पष्ट

करना आवश्यक है । इस विशेषता को गोविन्द चन्द्र पाण्डेय उद्घाटित करते हुए कहते हैं -

शून्यता तथ्य विषयक विधि-निषेध की भाषा का पद नहीं है बल्कि उससे उच्चतर भाषा का है जिसका प्रयोग निरंतर भाषा की आधारभूत तार्किक दृष्टि के विचार के लिए होता है ।[४]

(II)

नागार्जुन तत्त्वमीमांसीय दृष्टियों की आलोचना एवं निराकरण में डेरिडा की अपेक्षा ज्यादा सफल है ।[५] -डेविड लॉय

नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यता की अवधारणाओं का शुद्ध तर्कात्मक युक्तियों में रूपान्तरण कर दिया है । इसका प्रमाण यह है कि महात्मा बुद्ध ने जिन प्रत्ययों को अवाच्य कहा, नागार्जुन ने उसकी शून्यता या निःस्वभावता के लिए तर्क दिये हैं । महात्मा बुद्ध ने अपने को सभी दृष्टियों से मुक्त बताया था और दृष्टियों को मूलतः दो कोटियों में विभक्त किया था - अस्तित्ववादी और नास्तित्ववादी । नागार्जुन कत्यायन को दिये गये बुद्ध के प्रसिद्ध उपदेश का उद्धरण देते हैं, "भाव और अभाव के विचारक भगवान् ने कत्यायनवाद में 'है' और 'नहीं है' इन दोनों का प्रतिषेध किया है ।" जैन दार्शनिकों और हेगेल के विपरीत वह मानता है कि अपने मन के विचारों के द्वारा समन्वय स्थापित कर लेने से कोई व्यक्ति यथार्थ सत्य तक नहीं पहुँच सकता । इस प्रकार की विचार प्रक्रिया को अनुपयुक्त मानते हुए नागार्जुन पक्ष और विपक्ष दोनों का खण्डन करता है । टी.आर.वी. मूर्ति स्पष्ट करते हैं-

"सभी दृष्टियों का खण्डन ही तर्क की क्षमता का खण्डन करेगा जिससे प्रज्ञा उत्पन्न होगी जो विचारों से परे है । दृष्टियों के खण्डन का आधार किसी अन्य दृष्टि के स्वीकार करने में नहीं है अपितु उन्हीं के अन्दर विद्यमान व्याघात है । माध्यामिक द्वन्द्वन्याय तार्किक स्तर पर पूर्णतः खण्डनात्मक विश्लेषण है।"[६]

नागार्जुन का द्वन्द्वन्याय चतुष्कोटिक है । बुंद्ध के चार अव्याकृतों से प्रेरणा लेकर नागार्जुन अपने द्वन्द्वन्याय में चार विपर्यय प्रस्तुत करता है - १) विधिपक्ष २)निषेधपक्ष ३) दोनों का सम्मिलित विधिपक्ष ४) दोनों का सम्मिलित निषेधपक्ष । नागार्जुन किसी भी प्रत्यय की परीक्षा करते हुए इन चारों कोटियों का प्रयोग करता है और उनमें किसी स्वभाव को नहीं पाता ।

'सब धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं' क्योंकि सबका भाव परापेक्षी होता है । किन्तु यदि कोई वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हो और इस प्रकार स्वभावयुक्त हो तब? नागार्जुन कहते हैं यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वभाववान् वस्तु अनुत्पन्न और अनुत्पादक होगी और इस प्रकार 'शून्य' ही होगी ।[७] संसार की निःस्वभावता का यह बोध ही प्रज्ञा है । अन्य मतों का खण्डन करत हुए नागार्जुन उनके स्थान पर अपना कोई पक्ष स्थापित नहीं करता है । वह कहता है यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा हो तो यह दोष मुझमें भी हो सकता है किन्तु मेरी कोई प्रतिज्ञा नहीं है इसलिये यह दोष मुझमें नहीं लग सकता ।[८]

नागार्जुन की यह पद्धति प्रासंगिक कहलाती है, इसमें उन्होंने अवधारणा मात्र को ही विरोधाभासी बताया है । रामचन्द्र पाण्डेय कहते हैं -

इस अर्थ में नागार्जुन विश्व के ऐसे प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने शुद्ध आकारिक तर्कशास्त्र अर्थात् किसी प्रतिज्ञा के सत्यमूल को बिना माने तर्कशास्त्र की पद्धति की सम्भावना मानी जो आकारगत सम्बन्धों पर निर्भर रहकर कार्य कर सके ।[९]

यदि माध्यमिककारिका में नागार्जुन साध्यनिरास करता है तो वैदल्यसूत्र में साधननिरास करके एक ओर अपने द्वन्द्वन्याय की संरचना को पूर्णता देता वहीं दूसरी ओर अपनी स्वपक्षहीनता को और भी पुष्ट कर देता है ।

(III)

नागार्जुन के भाषादर्शन में निम्नांकित बिन्दुओं की व्याख्या महत्त्वपूर्ण है -

१) भाषा की पहुँच विकल्पों तक है।

२) नागार्जुन की समीक्षाओं में वस्तुनिष्ठ भाषा और अधिभाषा का स्तरीकरण स्पष्ट करना।

यदि हम प्रथम बिन्दु पर बात करें तो पायेंगे कि नागार्जुन भाषा की निर्देशात्मकता का खण्डन करते हैं।

१) मैं वक्ताओं में श्रेष्ठ उस बोधि-प्राप्त की वन्दना करता हूँ जिसने उस प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया है जो निरोधरहित, उत्पादरहित, उच्छेदरहित, अशाश्वत, एकार्थरहित, नानार्थरहित, आगमनरहित, निर्गमरहित होते हुये जहाँ भाषीय विवरणों की समाप्ति होती है और जो सभी उपद्रवों से रहित है।[१०]

२) बुद्ध का धर्मोपदेश लोकसंवृत्ति और परमार्थसत्य इन दो सत्यों पर आधारित है। जो लोग इन दो सत्यों के भेद नहीं जानते, वे बुद्ध के उपदेश के गम्भीर तत्त्व को नहीं जानते।[११]

३) जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसको हम शून्यता कहते हैं। यह शून्यता किसी पर निर्भर रहकर भाषा का व्यवहार मात्र है। वह मध्यमा प्रतिपद है।[१२]

४) भाषा का महत्त्व नहीं है क्योंकि आत्मा, अनात्मा, आत्मा-अनात्मा का अस्तित्व नहीं है। जिसके बारे में भाषा का प्रयोग होता है वे निर्वाण की तरह निःस्वभाव हैं।[१३]

५) भाषा असत् का ज्ञापन करती है।[१४]

नागार्जुन की उपर्युक्त कारिकाओं को दिखाने का हमारा उद्देश्य यह है कि नागार्जुन यद्यपि बहुत नहीं तो भी कुछ स्थानों पर भाषा सम्बन्धी अपने विचारों को व्यक्त करते हैं जिनकी मदद से उनके भाषा दर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है। भाषा और अर्थरूप वस्तु के बीच सम्बन्ध के बारे में भारतीय दर्शन में जो मुख्य मत हैं उनमें नैयायिकों के अनुसार शब्द और अर्थरूप वस्तु के बीच का सम्बन्ध ईश्वर की तरह किसी चेतन कर्ता द्वारा स्थापित होता है। मीमांसक, वैयाकरण जैसी दार्शनिक परंपराओं के अनुसार दोनों में नित्य सम्बन्ध है। इन दोनों ही धाराओं में भाषा वस्तु-निर्देशक है। भाषा की अर्थबोधकता बतलाती है कि निर्देशित वस्तु का किसी संभव विश्व में अस्तित्व है। नैयायिक, मीमांसक, वैयाकरण भाषा की इस निर्देशात्मकता को मानते हुये यह भी स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक वस्तु को भी अपने लिये शब्द की आवश्यकता पडती है। अद्वैत वेदान्त ब्रह्म से इतर वस्तुओं के बारे में भाषा की निर्देशात्मकता को स्वीकार करता है किन्तु शुद्ध चैतन्य को जो सारे सम्बधों से परे है, भाषा का विषय नहीं मानता। ब्रह्म आत्मज्ञान का विषय है। नागार्जुन भाषा की निर्देशात्मकता का खण्डन करते हैं।

मध्यमक शास्त्र में इन्होंने इस समस्या की ओर ध्यान दिलाया है कि हमारे द्वारा वस्तु के स्वभाव को जानने के उद्देश्य से भाषा के द्वारा अभिव्यक्त सिद्धांत तत्त्व को जानने में असमर्थ है। प्रथम प्रकरण में नागार्जुन कारणता के विषय में गठित दो सिद्धातों को दिखाते हुये स्पष्ट करते हैं कि इस प्रकार का कोई भी सिद्धांत वस्तु की असली संरचना के बारे में नहीं है क्योंकि ऐसा होने

पर सिद्धांतों की अनेकता संभव न होती। इसका अर्थ है कि स्थिति और सिद्धांत में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता अपितु सिद्धांत व्यक्तियों की बुद्धि में निहित दृष्टि का प्रतिबिम्ब होता है। वस्तुतः वस्तु के यथार्थ को समझने के लिये इस दृष्टि से छुटकारा पाना होगा। भाषा की निर्देशात्मकता का खण्डन करने के लिये नागार्जुन ने चार कोटियों के आकार का निर्माण किया जिसमें चार वैकल्पिक कथनों को इस प्रकार रखा गया कि किसी अन्य प्रकार के कथन को अवकाश न रहे। इनमें से प्रत्येक कथन में अस्तित्व को विधेय माना गया है पर जिसके ये विधेय हैं वह इन विधेयों से बाहर है।[१५] इस प्रकार नागार्जुन के अनुसार किसी विशेष संदर्भ में प्रतिज्ञा भाषा के बाहर के संसार के बारे में कुछ कहने में असमर्थ है। जो लोग तत्त्वमीमांसीय ज्ञान तथा दावा करते हैं (वैदिक और अभिधर्मवादी दोनों ऐसा दावा करते हैं) बीमार हैं और रोग को दूसरों में भी फैलाते हैं।[१६] इस बीमारी का इलाज यही है कि इस बीमारी (तत्त्वमीमांसीय पूर्णता का दावा) का खोखलापन दिखाया जाये। माध्यमिककारिका में नागार्जुन अपने चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय से तमाम तत्त्व-मीमांसीय कथनों में रिक्तियाँ दिखाते हैं। कर्ता, कर्म का तर्क रोजमर्रा के जीवन को चलाने के लिये ठीक है, किन्तु तत्त्वमीमांसा के लिये अपर्याप्त है। 'अ' का अस्तित्व है यह कहना इस विश्वास को पैदा करता है कि 'अ' वाकई अस्तित्ववान् है।[१७]

नागार्जुन तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं (कारणता, गति, काल, निर्वाण आदि) का विश्लेषण करते हुये दिखाते हैं कि स्वरूपतः द्वन्द्वात्मक और तर्कतः सापेक्ष हैं और किसी सद्वस्तु के अनुरूप नहीं हैं। किन्तु साथ ही वह भाषा के परे की अवधारणा को भी सम्भव मानते हैं। माध्यमिक कारिका में प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रपंञ्चोपशम एवं शिव कहते हुये आठ विशेषणों से उसकी अतर्क्यता एवं अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की है। प्रतीत्यसमुत्पाद को भाषा और विचार की कोटियों से अतीत रूप में देखते हुये बताया कि जो उत्पाद और निरोध से रहित है उसके बारे में भाषा की प्रवृत्ति संभव नहीं है। आगे आत्मपरीक्षा में तत्त्व का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि यह दूसरे के द्वारा बतलाया नहीं जा सकता, प्रपञ्चों से प्रपञ्चि नहीं होता। नागार्जुन मानते हैं कि भाषा के अन्दर कुछ भी नहीं है (डेरिडा इसके विपरीत भाषा के बाहर कुछ भी नहीं मानते) यानी की जगत् की अर्थवत्ता यदि कहीं है तो भाषा के

अन्दर नहीं अपितु उसके परे जाने पर है (परमार्थो हि आर्यानां तुष्णीभाव)। नागार्जुन किसी अवधारणा को खंडित करने के लिये बाहर से तर्क नहीं लाते, उसी अवधारणा (दृष्टि) में अन्तर्विरोध दिखाते हैं किन्तु भाषा के परे के अनुभव को स्वीकारने (प्रत्यात्मवेद्य शून्यता) के कारण वह स्वयं तत्त्वमीमांसा के रहस्यवाद में फँस जाते हैं और उनकी शून्यता विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त हो जाती है। उन विप्रतिप्रत्तियों का समाधान प्रो. ए. के. चटर्जी ने ''फैसिट्स बुद्धिस्ट थॉट'' में अधिभाषीय अभिगम (मेटालैंग्वेज) के द्वारा किया है। इन बिन्दु पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि भाषा पद-वाक्यों का एक ऐसा समुच्चय है जिसका सिर्फ एक ही स्तर नहीं होता बल्कि वह एक से अधिक स्तरों पर कार्य करती है। सर्वप्रथम भाषा किसी विषयवस्तु को (माध्यमिक दर्शन में यह विषय वस्तु विकल्पमात्र है) अभिधेय बनाती है तथा दूसरे स्तर पर भाषा का एक ऐसा आयाम भी है जहाँ वह अभिभाषा के रूप में कार्य करते हुये स्वयं भाषा की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। प्रो. ए. के. चटर्जी, जो माध्यमिक दर्शन को समझने के लिये उपर्युक्त अभिगम को आवश्यक मानते हैं, का कहना है कि माध्यमिक दर्शन के प्रति सभी भ्रांतियों का कारण भाषा के इस प्रकार्य को न समझने में छिपा हुआ हैं। नागार्जुन विग्रहव्यावर्तनी की प्रारंभिक कारिकाओं में स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं और फिर उसका समाधान भी देते हैं-

कारिका १) यदि सारे भाव पदार्थ सर्वत्र स्वभाव से रहित हो तब तुम्हारा कथन भी स्वभाव रहित के कारण स्वभाव का निराकरण करने में सक्षम नहीं होगा।

कारिका २) यदि यह वाक्य स्वभाव हो तब तुम्हारी पहली प्रतिज्ञा खण्डित हो जायेगी।

तत्पश्चात् दोष निराकरण करते हुये कहते हैं कि-

कारिका २१) जब हमारा कथन हेतुओं और सापेक्षता का समग्रता में नहीं है और अलग में भी नहीं है तब शून्यता सिद्ध हो जाती है।

कारिका २३) माया से बनाया गया कृत्रिम व्यक्ति अपनी ही माया से बनाये गये कृत्रिम व्यक्ति का जैसे निषेध करता है, यह निषेध वैसा ही है।

कारिका २४) यदि स्वभावरहित वस्तुओं का स्वभावरहित माध्यम से

निषेध किया जाता है तब स्वभावरहित वस्तु का निषेध हो जाने पर स्वभाव सिद्ध हो जाता है।

वस्तुतः नागार्जुन का कहना है कि वस्तुएँ भी शून्य हैं और शून्यता का प्रतिपादन करने वाला वचन भी शून्य है, इससे वस्तुएँ अशून्य नहीं हो जाती हैं। जादूगर द्वारा निर्मित माया पुरुषों में यदि एक दूसरे का निषेध करने लगे तो उससे कोई भी अप्रतिषिद्ध नहीं होता। दोनों अन्ततः शून्य ही ठहरते हैं । जब दोनों शून्य हैं तो एक के शून्य होने से दूसरा अशून्य नहीं हो सकता।

इसी समस्या पर अब यदि हम अधिभाषीय अभिगम से विचार करें तो समस्या पर और प्रकाश पडेगा-

प्रत्येक प्रकथन किसी वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में होता है। जब हम किसी वस्तु के बारे में प्रकथन करते हैं तो हम उस वस्तु के अतिरिक्त एक अन्य पदार्थ की सृष्टि करते हैं अर्थात् प्रकथन। प्रकथन वस्तुओं के विषय में होते हैं किन्तु किसी अन्य प्रकथन के विषय में भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ कुर्सी के विषय में हमारा प्रकथन है ''कुर्सी में चार पाये होते हैं'' साथ ही दूसरा प्रकथन है ''कुर्सी शब्द में दो अक्षर हैं।'' यहाँ प्रथम प्रकथन 'कुर्सी' को विषय बनाता है तो दूसरा प्रकथन 'कुर्सी विषयक प्रकथन' को। किन्तु उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में प्रकथन, प्रकथ्य से भिन्न होता है। 'कुर्सी विषयक' प्रकथन को हम प्रथम कोटिक प्रकथन (First order proposition) और 'कुर्सी विषयक प्रकथन सम्बधी' प्रकथन को द्वितीय कोटिक प्रकथन (Second order proposition) कह सकते हैं। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ, पंचम कोटिक प्रकथन बन सकते हैं और यह सभी अपने प्रकथ्य से भिन्न होंगे। द्वितीय कोटिक से लेकर अनन्त कोटिक तक के सभी प्रकथन अधिभाषा (Meta-language) के प्रथकन हैं। प्रतिपक्षी नागार्जुन के 'सर्वं शून्यम्' पर आक्षेप लगाते हुये कहता है कि यदि सभी कुछ शून्य है तो माध्यमिक का वचन भी सब कुछ के अन्तर्गत आने से शून्य होगा और फिर जो स्वयं शून्य है वह दूसरे की शून्यता का निर्धारणा कैसे कर सकता है। किन्तु भाषा के विभिन्न प्रकार्यों में स्पष्ट है कि माध्यमिक का प्रकथन (सर्वं शून्यम्) अपने विषय से भिन्न ही रहेगा। उस विषय की परिधि चाहे जितनी व्यापक हो उक्त प्रकथन को नहीं घेर सकती और इस प्रकार वह प्रकथन अन्ततः शून्य तो होगा किन्तु विषय

को शून्य करने के पश्चात् ही। अतः नागार्जुन का वचन अन्तर्विरोधग्रस्त नहीं है।

९५-विवेकानंद छात्रावास
डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म. प्र.) ४७०००३

शत्रुघ्न चतुर्वेदी

टिप्पणियाँ

१. टी.आर.वी. मूर्ति, **द सेन्ट्रल फिलॉसफी आफ बुद्धिज्म**, पृ. १२३
२. यशदेव शल्य, **मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्तनी**, पृ. १०
३. शून्यवादिपक्षस्तु सर्व प्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम **ब्रह्मसूत्रशंकरभाष्य**, २-२-३१
४. गोविन्द चन्द्र, पाण्डेय, **बौद्धधर्म के विकास का इतिहास**, पृ. ३७९
५. डेविड लॉय, **द क्लोजर ऑफ डिकंस्ट्रक्शनः ए महायान क्रिटिक आफ डेरिडा**, इंटरनेशनल फिलॉसफिकल क्वार्टरली, XXVII नं. १ मार्च १९८७, पृ. ५९
६. टी.आर.वी. मूर्ति, **द सेन्ट्रल फिलॉसफी आफ बुद्धिज्म**, पृ. १२८
७. **मध्यमकशास्त्र**, २४/२२,२४/३८
८. **विग्रहव्यावर्तनी**, कारिका २९
९. रामचन्द्र पाण्डेय, **निःस्वभावता का दर्शन**, पृ. २२-२३
१०. **मध्यमकशास्त्र**, १/१२
११. **मध्यमकशास्त्र**, २४/८,९
१२. **मध्यमकशास्त्र**, २४/८
१३. **शून्यतासप्तति**, कारिका -२
१४. **विग्रहव्यावर्तनी**, कारिका - ६४
१५. रामचन्द्र पाण्डेय, **निःस्वभावता का दर्शन**, पृ. २१
१६. जेफरी आर. टिम. **प्रोलीगोमेना टू वल्लभ थ्योरी आफ रिवेलेशन**, फिलासफी ईस्ट एण्ड वेस्ट ३८, नं. २ (१९८८) : १०९
१७. **वही**, पृ. १०९

प्रस्तुत आलेख को तैयार करते वक्त डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा जी ने कुछ आवश्यक सुझाव दिये, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

परिचर्चा में

- १ -

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २३, अंक १, जन.-फरवरी २००२, पृ. ४१-५३, में प्रकाशित डा. सुरेन्द्र सिंह नेगी का 'भारतीय दार्शनिक चिंतन में तर्क की अवधारणा' विषयक लेख़ हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में ४-७ नवम्बर को आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद के ४६वें वार्षिक अधिवेशन की स्मारिका में पृष्ठ १३-१६ में पूर्व में भी प्रकाशित है और इसका संपादन स्वयं डा. नेगी ने किया है।

उक्त लेख का शीर्षक 'तर्क की अवधारणा' है। इसे पढने के क्रम में ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक विभिन्न निकायों में तर्क के प्रयोगस्थलों को रेखांकित करने के पश्चात् अवधारणात्मक समीक्षा प्रस्तुत करेगा, किन्तु लेख में ऐसा नहीं हुआ है। 'दार्शनिक चिंतन में तर्क भी अवधारणा' और 'तर्क शब्द के प्रयोगस्थलों की प्रस्तुति' दोनों के सर्वथा अलग-अलग विषय होने से यह लेख अपने शीर्षक से अपेक्षित लक्ष्य से भटक गया है।

तर्क शब्द के प्रयोगस्थलों को दशनि में लेखक ने मूल ग्रन्थों का आश्रय लिया है किन्तु किसी भी निकाय के मूलग्रन्थों के सभी प्रासंगिक स्थलों की न तो प्रस्तुति हो सकी है और न ही उद्धृत स्थलों में तर्क शब्द के प्रयोग का सांगोपांग निरूपण हो सका है, किन्तु यह लेखक के स्तर से अपेक्षित है।

भारतीय शास्त्रों में तर्क के प्रमाणपक्ष तथा दूषित पक्ष की अलग-अलग पहचान कराने में भी लेख प्रवृत नहीं है। यहाँ मैं विस्तारभय से वेदान्त एवं व्याकरण निकाय में तर्क सम्बन्धी लेखक के निरीक्षणों एवं निष्कर्षों तक ही अपनी परिचर्चा सीमित करता हूँ।

वेदान्त में तर्क पर अपनी समझ को आरोपित करते हुए लेखक ने लिखा है 'शांकर भाष्य में तर्क का ग्रहण अनुमानार्थक रूप में हुआ है (पृ. ४६)। किन्तु अगली पंक्ति में ही उन्होंने तर्क को कल्पनामात्र पर स्थिति एवं अप्रतिष्ठित कहा है। नीचे की पंक्तियों में उन्होंने स्पष्ट रूप से इसे उत्प्रेक्षा

बुद्धि कहा है जिससे स्पष्ट है कि वेदान्त में तर्क सम्बन्धी लेखक का निष्कर्ष उनकी व्याख्या से सर्वथा अलग है और तर्क को अनुमानार्थक सिद्ध करने में विफल है। लेखक ने ब्रह्मसूत्र २-१-११ का उल्लेख किया है किन्तु उसके भाष्य के तर्क सम्बन्धी इस परिभाषा की ओर लेखक का ध्यान नहीं गया है जिसके अनुसार आगम से शून्य तर्क निरा संभावनात्मक बुद्धि या उत्प्रेक्षामात्र है (निरागमापुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबंधनास्तर्काः)। भामतीकार ने इसे शुष्कतर्क कहा है। यदि लेखक ने 'अनिबन्धित' एवं 'उत्प्रेक्षाबुद्धि' इन पदों पर ध्यान दिया होता तो तर्क से अनिबन्धित तर्क ही नहीं बल्कि अनुमान से भिन्न तर्क की अवधारणा भी उभरकर सामने आ जाती। उक्त पदों में परिभाषित तर्क अनुमानार्थ कैसे हो सकता है ? अनिबन्धित एवं उत्प्रेक्षामात्र पदों से तर्क को परिभाषित करने का प्रयास आचार्य शंकर से पूर्व ५वीं शताब्दी के दार्शनिक भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में किया है।

'शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यःपुरुषाश्रयः।

शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः॥' की वृत्ति में उन्होंने अर्थ, प्रकरण, लिंग, वाक्य आदि, जो शब्द की शक्ति है, को पुरुषाश्रय में या बुद्धि का सामर्थ्यमात्र मान लेने को तर्क कहा है और शब्द शक्ति के रूप परिग्रह से शून्य मात्र साधर्म्य, वैधर्म्य पर आधारित, आगम के उपधातक अतएव अनिबन्धित न्याय को शुष्क तर्क माना है। वाक्यपदीय १.३० की टीका में शुष्क तर्क को साधर्म्य, वैधर्म्य निरूपण में अनवस्थित अर्थात् अनवस्था, उपपाद्य-उपपादक की अविश्रान्तिरूप दोषयुक्त होना बताया है।

उन्होंने 'यः परिकल्पनामाभासेऽप्यनवस्थितः। तर्कागमानुमानेनबहुधा परिकल्पितः', इस वाक्यपदीय १.१ की टीका में तर्क, आगम और अनुमान को पृथक् माना है। इस वृत्ति की व्याख्या में श्री वृषभ ने आचार्य शंकर की तरह लिंग या हेतु के बिना स्वयं उत्प्रेक्षा विषयक बुद्धि को तर्क (शुष्क तर्क) कहा है तथा इससे भिन्न दूसरों के लिये सलिंग या सहेतुक विषय प्रतिपादन के साधन को अनुमान कहा गया है (लिंगमंतरेण स्वयमुत्प्रेक्षाप्रतिमानं तर्कः। परतः श्रवणमागमः। पर प्रतिपत्तिसाधनं लिंगतोऽनुमानम्)।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्षित होता है कि तर्क अनिबन्धित और निबन्धित दो प्रकार का है। अनिबन्धित तर्क उत्प्रेक्षाबुद्धि, अतएव शुष्क तर्क है। आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा प्रमाणबाधित रूप से यह

पाँच प्रकार का होता है। इसके पाँचों प्रकार प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिंतन में दोषरूप माने गए हैं। दोषरूप माने जानेवाले इन शुष्क तर्कों के बारे में प्रो. दयाकृष्ण ने अपने एक अप्रकाशित निबंध 'Sign, Sense and Reference : Reflections on Problem in the Philosophy of Language' में विशेषकर अनवस्था और चक्रक को दोष मानने पर प्रश्न खडा किया है। उन्होंने न्यायशास्त्र में तर्क के खुलापन (openness) और निगमन की संभावना के लिये इन्हें दोष न मानने की नयी उद्‌भावना दी है (देखें वही पृ. १२-१३)।

निबंधित तर्क वेद या ज्ञान की मीमांसा (interpretation) एवं उसके अनिवार्य साधन के रूप में समादृत हुआ है -तर्को वेदार्थ मीमांसा एवं विधिर्विधेयस्तर्कश्चवेदः । वाक्यपदीय १-३० पर भर्तृहरि की वृत्ति तर्क की प्रमाणरूप से प्रतिष्ठा की पक्षधर है। 'तर्क निबंधित होता है' इसका शास्त्रीय आशय यह है कि तर्क में आगम का बल होने पर वह दार्शनिक चिंतन का अपरिहार्य कारक होता है अन्यथा चिंतन की व्यवस्थित प्रस्तुति संभव नहीं है। आगमानुसारी तर्क व्यवहार पर आधारित होने से उत्प्रेक्षा/कल्पनामात्र भी नहीं है और यह प्रमाण के रूप में कार्य करता है। यह कहना शास्त्रसंगत है कि प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों को भी तर्क के बिना न्याय रूप में उपस्थित करना संभव नहीं है। तर्क आगमादि प्रमाण से बाधित नहीं है और आगमादि प्रमाण भी तर्क से बाधित नहीं होते बल्कि दोनों मिलकर शास्त्रानुशासन की प्रक्रिया को व्यवस्थित तन्त्र का रूप देते हैं। भर्तृहरी तो यहाँ तक कहते हैं कि समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है एवं तर्क की सामर्थ्य शब्दसामर्थ्य है, सामान्य लोग इसे श्रोता पर आरोपित करते हैं 'शब्दाश्रितमेव सामर्थ्यपुरुषाश्रयोऽयं तर्क इति मन्यते।' वा. प. १.१३७। इस तरह तर्क भी प्रमाण है यदि वह अनिबन्धित, दूषित या शुष्क तर्क न हो।

यदि तर्क को वेदान्त और व्याकरण में अनुमानार्थक माना जाय जैसा कि डा. नेगी ने लिखा है तो इसकी अनुमान से पृथक् अवधारणा कैसे की जा सकेगी ? इसकी अलग पहचान कराने के सारे प्रयास निरर्थक होंगे। इससे किस प्रयोजन की सिद्धि होगी ? अनुमान को तर्क से भिन्न माना गया है और अनुमित ज्ञान की प्रामाणिकता दोनों को स्वीकार्य है किन्तु तर्क से यह पृथक् है। अनुमान केवल लिंगलिंगीपरामर्श या व्याप्तिव्याप्यसाहचर्यपूर्वक प्रमाण या

सहेतुक विषय प्रतिपादन का साधन है। शुष्क तर्क उत्प्रेक्षा अतएव सम्भावनात्मक बुद्धि (conjecture) मात्र है जबकि निबन्धित तर्क ज्ञान की मीमांसा (interpretation) एवं उसमें प्रयुक्त समस्त प्रमाणों में भी अनुस्यूत न्याय है और इस तरह उन प्रमाणों में भी समाविष्ट है क्योंकि समस्त अर्थ तर्क द्वारा अनुसंधत्त होने पर ही दार्शनिक तन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

निष्कर्षतः वेदान्त और व्याकरण में तर्क को अनुमानार्थक या शुष्क तर्क का पर्यायमात्र समझना शास्त्रानुशासन के विरुद्ध है।

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्रविभाग,
ल. ना. मि. विश्वविद्यालय,
दरभंगा, ८४६००४

डा. देवेन्द्र नाथ तिवारी

- २ -

परामर्श खण्ड २२, अंक ४ में डॉ. सुस्मिता भट्टाचार्य का एक लेख छपा है जिसका शीर्षक है 'निरुपाधिक तर्कवाक्यों की आधुनिक बूलीय व्याख्या पर पुनर्विचार।'' मुझे लगता है कि इस लेख में कुछ त्रुटियाँ हैं। लेखिका ने A, E, I और O निरुपाधिक तर्कवाक्यों की जार्ज बूले द्वारा की गयी व्याख्या को चुनौती देते हुए कहा है कि न केवल I और O तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य होता है, बल्कि A और E तर्कवाक्यों के भी उद्देश्य वर्ग सदस्य-शून्य नहीं होते। किंतु लेखिका ने A और E में सत्तात्मक तात्पर्य किस आधार पर स्वीकार किया है, इसकी कोई चर्चा इस लेख में नहीं की है। उन्होंने केवल इतना बताया है कि ''यह तो पूर्व स्वीकृत है कि प्रत्येक निरुपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के सदस्य (संपूर्णतः या अंशतः) सत्तावान हैं अन्यथा उनका विधेय वर्ग के साथ संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता।'' सर्व प्रथम तो लेखिका के इस कथन का आशय यह निकलता है कि प्रत्येक निरुपाधिक तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग के सदस्य (कितने सदस्य - सभी या कुछ अथवा कम से कम एक ?) या तो संपूर्णतः सत्तावान हैं या अंशतः। अब मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि संपूर्णतः सत्तावान होने और अंशतः सत्तावान होने में क्या अंतर है। इस बात को यदि हम नजरअंदाज कर दें तो भी A और E तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य मानने के संदर्भ में यह समस्या उठती ही है इन दोनों तर्कवाक्यों के उद्देश्य वर्ग में आने वाले समस्त सदस्यों (इसमें भूत, वर्तमान तथा

भविष्यकालीन, वास्तविक तथा संभावित सभी सदस्य शामिल हैं) की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी क्योंकि ये दोनों तर्कवाक्य सर्वव्यापी हैं, लेकिन ऐसा संभव नहीं है। क्या भविष्यकालीन संभावित सदस्यों की सत्ता आज मानी जा सकती है ? ऐसे ही भूतकालीन सदस्य जो सत्तारहित हो चुके हैं, आज तर्कवाक्य की प्रस्तुति के समय सत्तायुक्त माने जा सकते हैं ? तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे तर्कवाक्यों में हम केवल कुछ वर्तमानकालीन सदस्यों की सत्ता का दावा कर सकते हैं। पर तब तो ये तर्कवाक्य सर्वव्यापी नहीं हो सकेंगे। जार्ज बूले ने इन तर्कवाक्यों की व्याख्या इस प्रकार की थी की यदि कभी, कहीं इनके उद्देश्य वर्ग में कोई सदस्य है, या होगा या रहा होगा तो वह विधेय वर्ग का सदस्य भी अवश्य होगा (A) या विधेय वर्ग का सदस्य नहीं हो सकेगा (E) और इस सोपाधिक व्याख्या में उद्देश्य वर्ग में किसी सदस्य की सत्ता की स्वीकृति कदापि नहीं है। बूले ने A और E तर्कवाक्यों की इस सोपाधिक व्याख्या के पीछे कई आधार बताये थे। लेकिन लेखिका ने उनमें से किसी का भी समुचित खण्डन किये बिना, बिल्कुल निराधार और मनमाने ढंग से इन तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य मान लिया है।

लेखिका ने A और E में सत्तात्मक तात्पर्य की स्वीकृति के साथ यह भी कहा है कि यह स्वीकृति इस आधार पर संभव नहीं है कि यदि I और O सत्ता का कथन करते हैं तो उनके उपाश्रय क्रमशः A और E भी सत्ता का कथन करेंगे, क्योंकि "उपाश्रयण संबंध में उपाश्रय (A, E) उपाश्रित (I, 0) को अपने में अंतर्भूत किये रहता है परंतु इसका विलोम संदिग्ध या अनिश्चित (Contingent) होता है।" दूसरे शब्दों में, लेखिका का मानना है कि I और O में किसी सत्ता को मानने के आधार पर A ओर E में सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि I और O की सत्यता के बल पर A और E की सत्यता के बल पर A और E की सत्यता (या असत्यता) निश्चित रूप से स्थापित नहीं हो पाती। यहाँ मुझे लगता है कि लेखिका सत्यता के संबंध को सत्ता के संबंध से भ्रमित कर रही हैं। यह सही प्रतीत होता है कि (यदि हम परंपरागत उपाश्रयण संबंध को स्वीकार कर लें) अंशव्यापी तर्कवाक्य के सत्य होने पर तदनुकूल समान गुण वाला जो सर्वव्यापी तर्कवाक्य होगा, उसकी सत्यता या असत्यता के विषय में हमें निश्चित होने का कोई तार्किक अधिकार नहीं मिलता। लेकिन इसी परंपरागत संबंध की स्वीकृति के बल पर हमें यह

मानना ही होगा कि यदि अंशव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग में कम से कम एक सदस्य है तो वह एक सदस्य सर्वव्यापी तर्कवाक्य के उद्देश्य वर्ग का भी सदस्य होगा। यदि किसी मकान के किसी एक कमरे में कुछ लोग हैं तो यह कहना कदापि असंगत नहीं होगा कि पूरे मकान में लोग हैं (यदि कमरे व मकान के बीच अंश व संपूर्ण का संबंध माना गया है तो)।

पृष्ठ २३ पर लेखिका ने लिखा है कि "यदि मंगल ग्रह निर्जन है तो उपरोक्त चारों निरुपाधिक तर्कवाक्यों द्वारा द्योतित उद्देश्य वर्ग (मंगल ग्रह के निवासी) असत्य कथन करने के कारण असत्य है।" मेरे विचार से उद्देश्य वर्ग का उल्लेख करना कोई कथन करना नहीं है और साथ ही, कोई वर्ग सत्य या असत्य नहीं हो सकता क्योंकि सत्यता या असत्यता तर्कवाक्यों या कथनों का गुण है, उस तर्कवाक्य में प्रयुक्त किसी वर्ग का नहीं।

अब में लेख की सर्वाधिक गंभीर त्रुटि की ओर आती हूँ। चारों तर्कवाक्यों में सत्तात्मक तात्पर्य स्वीकार करने के कारण लेखिका ने 'सत्तात्मक तात्पर्य तर्कदोष' (Fallacy of Existential Import) का खण्ड किया है। उत्साही लेखिका ने कुछ ऐसे आकारिक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिनमें उन्होंने वह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि दो सर्वव्यापी आधारवाक्यों के बल पर अंशव्यापी निष्कर्ष वैध रूप से प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने ऐसे चार युक्ति-आकारों की जाँच की है जिनमें दोनों आधारवाक्य सर्वव्यापी व निष्कर्ष अंशव्यापी है। मुझे अत्यंत खेद के साथ यह कहना पड रहा है कि लेखिका के द्वारा निर्मित सभी आकारिक प्रमाण त्रुटिपूर्ण हैं। पहले आकारिक प्रमाण में प्रसंगानुमान विधि (Method of Reductio ad absurdum) द्वारा AAA-3 की वैधता को बताने का प्रयास किया गया है। इसमें सातवीं पंक्ति में Rx का assuption करने के बाद पंद्रहवीं पंक्ति के पूर्व उसका scope बंद कर दिया गया है। उसके बाद सत्रहवीं पंक्ति में उसी Rx का प्रयोग आगे निगमन के लिये कर लिया गया है जो कि नियमतः अनुचित है। वस्तुतः लेखिका द्वारा निर्मित सभी आकारिक प्रमाणों में यही गलती की गयी है कि जिस कथन का assumption किया गया है उसको निगमन के लिये तब भी उपयोग में लाया गया है जबकि उस assumption की सीमा के बाहर निकला जा चुका है। युक्ति आकार AAA-3 के सोपाधिक प्रमाण (conditional proof) में पंक्ति 14, EAO-3 के प्रमाण में पंक्ति 15,

EAO-3 की वैधता सिद्ध करने के लिये निर्मित एक अन्य प्रमाण में पंक्ति 18, RAO-4 के प्रमाण में पंक्ति 12 तथा AAI - 4 के प्रमाण में पंक्ति 12 में यही तार्किक त्रुटि है।

मैं लेखिका का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहूँगी कि उन्होंने विभिन्न आकारिक प्रमाण बनाते समय सर्वव्यापी तर्कवाक्यों को बूलीय व्याख्या के अनुरूप ही प्रतीकात्मक भाषा में सोपाधिक ढंग से रखा है, यानी यह मान लिया है उनमें सत्तात्मक तात्पर्य होता ही नहीं जबकि I और O तर्कवाक्यों में होता है। अब इस ढंग का प्रतीकीकरण करने पर सर्वव्यापी आधार वाक्यों व अंशव्यापी निष्कर्ष से युक्त युक्ति के विषय में यह आशा ही नहीं की जा सकती कि उसे आकारिक रूप से वैध प्रमाणित किया जा सकेगा। लेखिका जिस दृष्टिकोण का प्रस्तुत करना चाहती हैं यानी सर्वव्यापी तर्कवाक्यों में भी सत्तात्मक तात्पर्य मानना चाहती है उसकी दृष्टि से A और E तर्कवाक्यों का प्रतीकीकरण क्रमशः इस प्रकार होना चाहिये -

$$A = (x)\ (\phi x \supset \psi x).\ (\exists x)\ \phi x$$

$$E = (x)\ (\phi x \supset \sim \psi x).\ (\exists x)\ \phi x$$

डा. नीलिमा मिश्रा

२, नेवाडा कॉलनी,
नयन मार्ग, अलाहाबाद - २११ ००१

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंकों के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११००७

संपादकीय

खुद के अस्तित्व को सम्मानपूर्वक बचाए रखने के लिए, खुद की पहचान बनायी रखने के लिए जरूरी है आत्मसम्मान। आत्म-सम्मान की बात मनुष्यजाति के लिए नई चीज नहीं है। फिर भी इस बात की याद दिलाने की बारी हमेशा आती रहती है, इस में मानव चरित की बारी हमेशा आती रहती है, इसमें मानव चरित की कमजोरियों के पहलू छिपे हुए हैं। आत्मसम्मान का रूप दोगला हुआ करता है। व्यक्ति में आत्मविश्वास होना तथा अपने को प्रस्थापित करने की सामर्थ्य होना जरूरी है। इस के लिए आत्मबल चाहिए। आत्मबल का उन्मेष अपने आप तथा अंदर से ही हुआ करता है। आत्मबल निर्भर करता है मनुष्य की आंतरिक क्षमताओं पर, न कि उस की शारीरिक क्षमताओं पर। आत्मबल स्वयंप्रकाश होता है, उसे छिपाया नहीं जा सकता। अगर मनुष्य में आत्मबल है तो वह फूट कर प्रकट होता है, निखरता है। चिंतन एवं चारित्र्य के आधार से यह आत्मबल पैदा होता है। आत्मबल का एक अन्य पहलू है अपनी पहचान। अपनी पहचान जितनी गहरी होगी उतना ही आत्मबल पक्का होगा और आत्मबल जितना भक्कम होगा उतनी ही अपनी पहचान गहरी होगी। अपने को जानने से अपनी पहचान बनती जाती है। अपने को जानने की प्रक्रिया मात्र अपने को देखने का तटस्थ व्यवहार नहीं बल्कि अपने स्वरूप की परिष्कृति की सजग प्रक्रिया होती है। यह आत्मचेतना की संतत धारा है। इस से आत्मविकास की प्रक्रिया भी बनती रहती है। आत्मविकास की प्रक्रिया के दो बिंदु हैं - एक बिंदु है अपने को धरातल पर निश्चित करने का और दूसरा बिंदु है अपने को अंतराल में देखने का। इन दो बिंदुओं के बीच ज़ो यात्रा होती है वह मनुष्य का अंतर्जीवन होता है। इस यात्रा के कुछ रहस्यमय मोड भी होते हैं, जो चर्चा के नहीं बल्कि अनुभूति के विषय होते हैं। उन में खुद की पहचान की वह मिति होती है जो आत्म को अनंत तक पहुँचाने के प्रयास में होती है।

आत्मसम्मान एवं खुद की पहचान का बाहरी रूप है समाज से

स्वीकृति पाना। समाज उसी बात को स्वीकृति देता है जो बात उसे के मानदण्डों के मुताबिक होती है। वाकई यह देखने को मिलता है कि व्यष्टि और समष्टि में ठीक तरह से मेल नहीं होता है, उन में विरोध एवं संघर्ष ही ज्यादा हुआ करता है। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि व्यक्ति कितना भी स्वतंत्र क्यों न हो, वह समाज का ही एक अंश होता है। समाज के वातावरण के कण उस के खून को रंग देनेवाले कण होते हैं। समाज से संघर्ष हो सकता है लेकिन विरोध नहीं। संघर्ष में आस्था एवं आदान-प्रदान का व्यवहार होता है। विरोध में पूर्ण नकारा जाता है। पेड से नकारी गई डाली पेड से टूट जाती है, उसे जीवनरस पाने का कोई चारा नहीं होता है। समाज के मूल्य ही व्यक्ति को बनाते हैं और उस की पहचान होते हैं। समाज से नाता होना व्यक्ति को न केवल अपनी पहचान दिलाता है बल्कि उसे ऐसी सामर्थ्य देता है जो व्यक्ति के अस्तित्व को बनाए रखती है। वास्तव में समाज बनता है व्यक्तियों से ही। व्यक्ति के मूल्यों के योगदान से समाज की संस्कृति उभरती है। यह योगदान व्यक्ति का होना जरूर है लेकिन व्यक्ति की वैयक्तिक भूमिका से नहीं, बल्कि व्यक्ति की सामाजिक भूमिका से वह योगदान होता है। व्यक्ति जब अपनी सामाजिक भूमिका के तहत समाज से व्यवहार करता है तब उस में संघर्ष या विरोध नहीं रहता है। व्यक्ति जब सामाजिक भूमिका लेकर ऐसे अनेक व्यक्तियों से मिलजुलकर अपने को तथा अन्यों को स्वीकृति देता है तभी व्यक्ति की सामाजिक पहचान बनती है। जब समाज के अत्यधिक व्यक्तियों की दृष्टि सामाजिक होती है, जब व्यक्ति के निकटतम संबंधियों की दृष्टि सामाजिक होती है, तभी व्यक्ति का जीवन व्यर्थ संघर्षों से मुक्त रहता है। जो व्यक्ति अपने को कमजोर महसूस करता है वह सामाजिकता की दृष्टि अपनाने में सफल नहीं बनता। अतः आत्मबल से प्राप्त आत्मसम्मान जिन व्यक्तियों में है ऐसे व्यक्तियों से बना समाज व्यक्ति को आत्मसम्मान और खुद की पहचान दिला सकता है।

आज हमारी समस्या विश्व को धरातल पर आत्मसम्मान पाने की एवं खुद की पहचान बनाने की है। इस दृष्टि से प्रस्तुत विचार अवश्य ही कुछ दिशा-दर्शक साबित हो सकेंगे।

- सुभाषचंद्र भेलके

शांकर वेदान्त में ईश्वर की अवधारणा

ईश्वर सम्प्रत्यय की व्याख्या करने से पूर्व यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि एकमात्र अद्वितीय, अनुपम, निर्गुण, निराकरण निर्विकार, निरुपाधिक, निर्विशेष, विशुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) की ही सत्ता स्वीकार करने पर भी सगुण, साकार, सोपाधिक, सविशेष चैतन्य (ईश्वर) के सम्प्रत्यय की आवश्यकता आचार्य शंकर को क्यों पडी ?

शांकरभाष्यों की गहन समीक्षा के बाद इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि शंकर परमार्थतः एकमात्र विशुद्ध चैतन्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, और उससे व्यतिरिक्त किसी भी तत्त्व की सम्भावना मात्र का भी निराकरण करते हैं, किन्तु शंकर के इस सैद्धान्तिक व्युत्पत्ति के अनुरूप कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जो दिखाई पडता है, कुछ और ही है। मुझे कुछ और ही दिखाई पडता है, अर्थात् मैं द्रष्टा हूँ। पुनः प्रश्न उठता है कि इस अन्यथा-प्रतीति का कारण क्या है ? शंकर इसका कारण अज्ञान को मानते हैं। जो अज्ञान से मुक्त है वह ब्रह्म है और जो अज्ञान में है वह जीव है। इस प्रकार दो तत्त्व जीव एवं ब्रह्म की प्राप्ति होती है, फिर तीसरे तत्त्व ईश्वर की क्या आवश्यकता है ? पुनः ईश्वर के लिये कोई अधिष्ठान भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जीव एवं ब्रह्म के मध्य ईश्वर नाम की यह शृंखला आती कहाँ से है ? सन्देह होता है कि कहीं शंकर ने ईश्वर सम्प्रत्यय को बलात् तो नहीं उपस्थित कर दिया है ?

उपर्युक्त कथन को कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। शंकर ने सूक्ष्म तार्किक दृष्टि के आधार पर स्वयं यह प्रश्न किया है कि जीव को ब्रह्म की तरफ ले जाना और उसके जीवत्व का बोध कराने वाला कौन है ? जो जीव अपने ब्रह्मत्व को विस्मृत कर बैठा है, उसे आत्मानुभूति कौन करायेगा ? अज्ञान में निमग्न होने से जीव यह कार्य स्वयं नहीं कर सकता, क्योंकि अज्ञानी को अपने अज्ञान का भी पता नहीं रहता, वही व्यक्ति अपने को अन्धकार में कह सकता है जिसे प्रकाश

का भी ज्ञान हो, जो विशुद्ध अन्धकार में ही डूबा हो वह प्रकाश का स्वरूप नहीं बता सकता, जैसे सोया हुआ व्यक्ति नहीं जानता कि वह सो रहा है, उसी प्रकार अज्ञानस्वरूप जीव को अपने ज्ञानात्मक स्वरूप का बोध नहीं है। जीव अपना बोध स्वयं करा भी नहीं सकता क्योंकि वह विशुद्ध अज्ञान (अन्धकार) में है। बचता है - ब्रह्म, वह भी जीव को अपना बोध नहीं करा सकता, क्योंकि - वह अपने से अलग जीव को नहीं देख रहा है। ब्रह्म जब है तो जीव नहीं, ब्रह्म इतना विशुद्ध है कि उसमें अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं, ब्रह्म के बाहर कुछ है ही नहीं, और ब्रह्म के पास बताने के लिये बुद्धि, माया, या द्वैत है ही नहीं, जो ज्ञान के परम साधन हैं, अतः दोनों के बीच ऐसी कडी होनी चाहिये जो दोनों को जानती हो, फिर मिला दे। अद्वैत वेदान्त में यही काम ईश्वर करता है।

ईश्वर की सत्ता अनिवार्य प्रतीत होती है। जीव तभी अपने अज्ञानस्वरूप से ऊपर उठेगा जब उसे "नेह नानास्ति किञ्चन" व "तत् त्वम् असि" का बोध कोई कराये। जीव को यह बोध कराने वाला शंकर के अनुसार ईश्वर ही है। ईश्वर अज्ञान में नहीं है, वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, किन्तु उसका दूसरा पैर अज्ञान में भी है। अर्थात् वह अज्ञान को समझता है एवं उसे काबू करता है। जीव की तरह पूर्णतया अज्ञान में नहीं रहता। अज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण ही उसका जीव से सम्बन्ध सम्भव हो पाता है। पूर्ण चैतन्य एवं अज्ञान दोनों में ही उसकी स्थिति है। वह दोनों को जानता है, देखता है। यदि वह विशुद्ध व्यवहार (अज्ञान) से ही सम्बद्ध होता या मात्र विशुद्ध परमार्थ से सम्बद्ध होता तो जीव व ब्रह्म के बीच एक तादात्म्य शृंखला का रूप कथमपि न ले पाता किन्तु दोनों के बीच उसकी यह स्थिति उसे एक माध्यम के रूप में उपस्थित करती है। परमार्थ का उपदेश तभी सम्भव है जबकि वक्ता स्वयं परमार्थ में हो, और चूँकि उपदेश व्यवहार में ही सम्भव है, इसलिये वह व्यवहार में भी है। जीवात्मा बिना किसी के बताये नहीं जान सकता। जानने हेतु आचार्य (उपदेष्टा) का होना आवश्यक है। आचार्यवान् पुरुषो वेदः (छा. उप. ६/१४/२) ये कार्य उपनिषद करते हैं। तत्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि-उस पुरुष को जानना चाहता हूँ जो उपनिषदों में व्यक्त

है। उपनिषदों से हमें व्यक्त पुरुष का ज्ञान होता है। उपनिषदों को कौन बतायेगा ? उपनिषदों को बताने वाला "सगुण ब्रह्म" है जिसे "अहं ब्रह्मास्मि" का ज्ञान हमेशा है। विशुद्ध चैतन्य अपने को "अहं ब्रह्मास्मि" नहीं कह सकता, क्योंकि उसके अन्दर "अहं" है ही नहीं। जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है और जिसमें "अहं" है वही ईश्वर है। ईश्वर को यह ज्ञान अनादिकाल से है। "अहं ब्रह्मास्मि" का बोध, अज्ञान के सन्दर्भ में ही सम्भव है। अज्ञानोन्मूलन के साथ ही "अहं ब्रह्मास्मि" का प्रश्न भी उन्मूलित हो जाता है। ईश्वर ज्ञानपरिपूर्ण होने पर भी अज्ञान से सम्बद्ध है इसलिये उसे मायोपहित चैतन्य कहा गया है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण में आचार्य शंकर ने जो दूसरा तर्क प्रस्तुत किया है वह है - "जन्माद्यस्य यतः"[१] अतः नाम एवं रूप के द्वारा प्रकट हुए अनेक कर्ता एवं भोक्ता से युक्त जिसमें नियत देश एवं नियत काल पर ही जीवात्माओं को उनके कर्म का फल प्राप्त होता है, ऐसे सूक्ष्म एवं क्लिष्ट रचना वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान कारण से होता है, उसे ईश्वर कहते हैं। शारीरक भाष्य के आरम्भ में ही ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये आचार्य शंकर ने कहा है कि अनेक कर्ता व भोक्ताओं से संयुक्त, प्रतिनियत देशकाल निमित्त वाले कर्मो व फलों के आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचनातत्त्व वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व नाश सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु अचेतनप्रधान (सांख्याभिमता), परमाणु (न्यायवैशेषिक मत), शून्य (बौद्ध), स्वभाव (चार्वाक) अथवा प्रथम जीव (हिरण्यगर्भ) से नहीं हो सकते, और कोई भी कार्य कर्ता बिना नहीं हो सकता अतः इस चराचर जगत् का कर्ता ईश्वर सिद्ध है।[२]

अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर जो आदि उपदेष्टा, जगत्कर्ता तथा धार्मिक निष्ठा का मूल स्रोत है उसका स्वरूप क्या है ? तथा ईश्वर के इस स्वरूप से क्या शंकर का अद्वैती चिन्तन खण्डित नहीं हो जाता ? कम से कम ईश्वर व ब्रह्म का द्वैत तो हमारे सामने उपस्थित हो ही जाता है, ईश्वर-ब्रह्म के द्वैत के साथ ही जीव, जगत्, साक्षी, आदि का वैविध्य भी तो हमारे सामने उपस्थित हो ही जाता है। इतने वैविध्यों के बीच अद्वैती चिन्तन की कल्पना बालू की भीत की तरह ढहती प्रतीत होने

लगती है। लेकिन यहीं पर शंकर एक कुशल तार्किक की भांति व्यवहार, परमार्थ और माया के सहारे इस समस्त वैविध्य का एकत्व में समाहार कर देते हैं।

शांकर दर्शन में ब्रह्म एवं ईश्वर शब्दों का विशेष महत्त्व है। शंकर अद्वैतवाद के प्रवर्तक हैं। अतः उनके अनुसार एक ही ब्रह्म संसार का परम तत्त्व एवं परमार्थ सत्य है। ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है तथा शेष दृश्यमान जगत् विवर्त मात्र है। ब्रह्म की व्याख्या में शंकर दो तरह का दृष्टिकोण अपनाते हैं, जिन्हें हम व्यावहारिक व पारमार्थिक दृष्टिकोण के नाम से जानते हैं। परमार्थतः शंकर एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं, जो ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक है, जिसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहते हैं। निरूपाधिक, निर्विकल्प, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्म जब अपनी माया की उपाधि से युक्त हो जाता है तो वही सगुण, सोपाधिक, सविशेष एवं सविकल्पक बनकर ईश्वर कहलाता है। यही माया ईश्वर की सृजनात्मिका शक्ति है जो उसके ईश्वरत्व का मूल कारण है। यद्यपि ईश्वर माया की शक्ति से युक्त है पर वह उससे बिल्कुल प्रभावित नहीं होता, उसके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव में कोई बाधा नहीं पडती। ब्रह्म माया से ऐसे ही अस्पृष्ट रहता है जैसे मायावी जादूगर अपनी माया, अर्थात् जादू से विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा लोगों को आश्चर्यचकित भ्रमित करता हुआ भी स्वयं आश्चर्यचकित, भ्रमित नहीं होता। ब्रह्म अपनी मायाशक्ति से जगत् में सुख, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदि का निर्माण करते हुए भी स्वयं इनसे प्रभावित नहीं होता।[३] माया की दो शक्तियाँ हैं, जिन्हें आवरण एवं विक्षेप कहते हैं। अपनी आवरण शक्ति के द्वारा माया तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन करती है, तथा विक्षेप शक्ति के द्वारा अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर वह नानारूपात्मक जगत् को प्रक्षेपित करती है। ईश्वर मायाधीन नहीं है। ईश्वर पर माया का कोई आवरण नहीं है, वह माया की केवल विक्षेप शक्ति से काम लेता है व प्रपंच की सृष्टि करता है। इस प्रकार ईश्वर नाम का चैतन्य जगत् का कारण सिद्ध होता है। जो जगत् का उपादान व निमित्त कारण दोनों है। जिस प्रकार मकडी अपना जाल बनाने के लिये रुई, लकडी और यन्त्र आदि लोकप्रसिद्ध वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखती,

इन वस्तुओं के बिना ही आतानवितान वाले तन्तुओं से अपना जाल बना लेती है उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि के पूर्व अकेला ही बिना किसी की सहायता की अपेक्षा के केवल अपनी माया शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर देता है जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश तथा रोयें उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[४]

प्रश्न उठता है कि शंकर के अनुसार ईश्वर पूर्ण है और अनेक आश्चर्यजनक शक्तियों से सम्पन्न है, आप्तकाम है, फिर जगत् की उत्पत्ति क्यों करता है ? जगत् की रचना के पीछे उसका कौन सा प्रयोजन निहित है ? विशुद्ध चैतन्य ब्रह्म एक से कैसे अनेक बनता है, फिर कैसे एक बना रहता है ? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि उसने इच्छा की कि एक से मैं अनेक हो जाऊँ (एकोऽहं बहुस्याम्) इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध होता है कि जब उस आनन्दमय प्रभु को रमण करने की इच्छा हुई तब उसने इस जगत् को उत्पन्न किया। सुवर्ण से जैसे कटक कुण्डलादि बनते हैं वैसे ही ब्रह्म से यह जगत् बना। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त है। उपनिषदों में जगत् ब्रह्म द्वारा अपने प्रसार रूप में वर्णित है। जैसे मिट्टी के पिण्ड से विभिन्न मिट्टी के पात्र बनते हैं, मिट्टी रूप में ही स्थित रहते हैं फिर नष्ट होने पर मिट्टी में ही मिल जाते हैं, किसी नाम व आकृति में रहते समय उनका तत्त्व मिट्टी ही होता है। और मिट्टी क्या है ? जान लेने पर उन विविध नामरूपों में स्थित तत्त्व को भी जान लिया जाता है। ऐसे ही यह समस्त जगत् ब्रह्म से ही उत्सृष्ट है, ब्रह्म में ही स्थित है। ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।[५] शंकराचार्य के अनुसार जगत् की सृष्टि में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है। श्रुति ईश्वर को आप्तकाम तथा निःस्पृह कहकर पुकारती है। यदि सृष्टि व्यापार से ईश्वर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो तो उसे आप्तकाम कैसे माना जा सकता है ? अतः ईश्वर का यह जगत् व्यापार लीलामात्र है किसी प्रयोजन या कामना की पूर्ति के लिये नहीं। जैसे लोक में सकल मनोरथ सिद्ध पुरुष के समस्त व्यापार लीला के लिये ही होते हैं उसी प्रकार आप्तकाम ईश्वर का यह सृष्टि व्यापार लीलारूप ही है। यह उसका स्वभाव ही है, जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास, प्रश्वास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की

उत्पत्ति व विनाश होता रहता है।[६]

शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है - इसका अर्थ यही है कि जगत् ब्रह्म की अन्यथा प्रतीति है जो माया या अज्ञान के कारण है। इसलिये शंकर जगत् की सत्ता को व्यावहारिक ही मानते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण सत्ताओं का विभाजन तीन कोटियों में किया है। प्रातिभासिक यथा, रज्जु-सर्प, व्यावहारिक जगत्, पारमार्थिक ब्रह्म। इस विभाजन के आधार पर वे कहते हैं कि जबतक हम व्यावहारिक तल पर हैं, जगत् की सत्ता स्वीकार करनी होगी। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य कहने में शंकर को कोई संकोच नहीं है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जगत्, प्रपंच एवं नानात्व मिथ्या है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर एवं जगत् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध (व्यावहारिक स्तर पर) है। व्यवहारतः जिस अन्तिम दृष्टि तक जगत् सत्य है उस दृष्टि तक ईश्वर भी सत्य है।

अब ईश्वर एवं जगत् की व्याख्या करने के पश्चात् यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि ईश्वर एवं जगत् में रहने वाले जीव के मध्य क्या सम्बन्ध है ?

शंकर के मतानुसार जीव अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है दूसरी और समस्त विश्व का कारण एवं स्रष्टा ईश्वर भी अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि अपने वास्तविक रूप में जीव ईश्वर के साथ तादात्म्य रखता है। जीव, ईश्वर की यह तात्त्विक एकता पारमार्थिक है। फिर भी व्यावहारिक स्तर पर उनके बीच महत्त्वपूर्ण भेद है। ईश्वर मायाशक्तिसम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि से उपहित। जीव अज्ञान के वशीभूत है, ईश्वर अज्ञान को अपने वश में रखता है। जीव पर अज्ञान का आवरण है, ईश्वर पर अज्ञान का आवरण नहीं है। जहाँ ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्व शक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व है, वहाँ जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एवं अत्यन्त लघु है। जीव व ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख-सुखादि का अनुभवकर्ता है परन्तु ईश्वर दुःखादि का अनुभवकर्ता नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव अविद्या के आवेश के वह देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दुःखसे ''अहं दुःखी'' मैं दुःखी हूँ, इत्यादि अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमानी होता है। इसके विरुद्ध ईश्वर का देहादि में आत्मभाव या दुःखादि का

अभिमान नहीं है। वैसे यदि विचार करके देखा जाय तो जीव का दुःखादि का अभिमान भी पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि जीव का अविद्या से कल्पित नामरूप से निवृत्त देह, इन्द्रिय एवं उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दुःखादि का अभिमान है, पारमार्थिक दुःखाभिमान कदापि नहीं। अतः मिथ्याभिमान का भ्रम ही दुःखानुभव का निमित्त है।[८] अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्मरूप ही है। अतः उसके (जीव के) सुख-दुःखादि पारमार्थिक नहीं हैं।

पारमार्थिक दृष्टि से जीव एवं ब्रह्म में कोई भेद नहीं (जीवो ब्रह्मैव नापरः) । ब्रह्म एवं जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के कारण तत्त्वतः एक है। उसमें प्रतीयमान भेद औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। जैसे घट की उपाधि के कारण भिन्न प्रतीत होनेवाला घटाकाश तत्त्वतः महदाकाश से भिन्न नहीं है। घट की उपाधि के नष्ट हो जाने पर दोनों में कोई भेद नहीं रहता है, उसी प्रकार अज्ञान की उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति शु. ३/२/९) इस प्रकार सिद्ध होता है कि निर्गुण एवं सगुण, निर्विशेष एवं सविशेष, पर एवं अपर ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं। अद्वैत में भेद कैसा ? जब तक जीव अविद्याग्रस्त एवं प्रपंच में निमग्न है तब तक वह अपने यथार्थ स्वरूप से विस्मृत रहता है, किन्तु ज्यों ही श्रुति उसे मोहनिद्रा से जगा देती है उसे आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है और वह स्वयं को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अद्वैततत्त्व समझ लेता है और सदा अखण्ड आत्मानन्द में लीन हो जाता है। अविद्या के नष्ट होते ही अविद्याजन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाता है, और इसके नष्ट होते ही अहंकार एवं ममकार्य की कल्पनायें जीव के "जीवत्व", "कर्तृत्व", "भोक्तृत्व", आदि की मिथ्या कल्पनायें भी विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार जीव-ब्रह्मैक्य ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के पश्चात् प्रश्न उठता है कि ईश्वर एवं साक्षी के बीच क्या सम्बन्ध है ? यद्यपि यह सत्य है कि ईश्वर, साक्षी, जीव, आदि सभी सत्तायें व्यावहारिक ही हैं तथापि दृश्यमान जगत् और सृष्टि की व्याख्या के प्रयास में इन्हें निरर्थक कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। ईश्वर जहाँ मायोपाधिक ब्रह्म का रूप है, जीव

अन्त:करणावच्छिन्न ब्रह्म का रूप है। वहीं साक्षी अन्त:करण की उपाधि से युक्त ब्रह्म है। साक्षी शब्द का अर्थ ''चेत्ता केवल'' जानने वाला होकर जो अकर्ता हो वह साक्षी है। दूसरे शब्दों में इसे उदासीन निरपेक्ष द्रष्टा कहते हैं। उदासीन निरपेक्ष द्रष्टाका अर्थ वह सत्ता है जो जीवात्मा के समस्त प्रपंचात्मक व्यवहार और उसकी अभिगम्यता को अनासक्त भाव से सतत देखती रहता है। जहाँ तक ईश्वर एवं साक्षी के सम्बन्ध का प्रश्न है ईश्वर स्रष्टा, पालक एवं संहारक है, जबकि साक्षी में ऐसा कोई गुण नहीं है। वह तो मात्र उदासीन द्रष्टा है जो जीव के समस्त ज्ञात, अज्ञात, कृत्यों का निरपेक्ष ज्ञान रखता है। साक्षी साक्षात् देखता है, उसके लिये किसी तीसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं, साक्षी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। साक्षी अन्त:करणोपाधिक है जबकि ईश्वर मायोपाधिक है। दोनों के मध्य मात्र इतना सम्बन्ध है कि ईश्वर साक्षी के साक्षित्व के आधार पर जीव के कर्मो का फल निर्धारित करता है, इसीलिये कर्मफल प्रदान करने में ईश्वर के ऊपर वैषम्य का दोष नहीं आता। साक्षी व ईश्वर में स्वरूप की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, दोनों तत्त्वत: विशुद्ध चैतन्य हैं। जो अज्ञान को साथ रखे हुए है, अर्थात् अज्ञान को मूलरूप में देखने वाला साक्षी है वह विक्षेप कराने वाला ईश्वर।

साक्षी ईश्वर की उपर्युक्त व्याख्या भी व्यावहारिक ही है। परमार्थ में द्वैत कहाँ ? ईश्वर जीव, साक्षी आदि की अवधारणायें अज्ञान, अविद्या या माया के कारण है। माया का विपरिलोप होते ही जीव का जीवत्व, ईश्वर का ईश्वरत्व, साक्षी का साक्षित्व तथा इन सबका समन्वित वैविध्य समाप्त हो जाता है, तथा परमार्थस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही सत्ता अद्वैत रूप में रहती है। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या के पश्चात् निष्कर्षत: हम पाते हैं कि शांकर वेदान्त में ब्रह्म का सविशेष रूप। (ईश्वर) एक तात्त्विक सत्य (Metaphysical reality) की अपेक्षा प्रयोजनवादी सत्य (Pragmatic reality) अधिक है। सामान्य जिज्ञासु प्रयोजनमूलक सत्य को ही ग्रहण कर नैतिक सत्य की ओर पहले बढता है फिर क्रमश: निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त करता है।

भेद से अभेद की ओर अग्रसर होने में सगुणोपासना साधक की सहायक होती है। शंकराचार्य ने अध्यात्म की यात्रा में सगुण ब्रह्म की

उपासना के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर के दर्शन में अपरब्रह्म, औपाधिक होने के कारण परमसत्य तो नहीं है, तथापि अपरब्रह्म (ईश्वर) के सम्प्रत्यय के व्यावहारिक महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। इसी आधार पर शांकर वेदान्त में शंकर की ईश्वर की कल्पना सुसंगत रूप में हमारे समक्ष आई है।

वरिष्ठ प्राध्यापिका, दर्शन विभाग **शशि देवी सिंह**
म. गाँ. काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. **ब्र. सू.** - १/१/२
२. अस्य जगतो नामरूपाभ्यां --- सम्भावयितुं शक्यं....।
ब्र. सू. शां भा. - १/१/२
३. यथा स्वयं प्रसारितयामायया मायावी न संस्पृश्यते।
ब्र. सू. शा. भा. २/१/९
४. यथोर्णनाभिः सृजते..... विश्वम्। **मुण्डक.** १/१/६
५. सदैव सोम्येदमग्रआसीत्.... यथा सोभ्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं... मृत्तिकैतेव सत्यं...। **छान्दो. उप.** १
६. यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसधाय... प्रवृत्तिर्भविष्यति।
शा. भा. ब्र. सू. २/१/३३
७. **ब्र. सू. शा. भा.** २/३/४६

निवेदन

कागज, छपाई तथा डाक इन सभी के मूल्य इन दिनों अत्यधिक बढ गये हैं। पत्रिका के पास उपलब्ध जमा राशि पत्रिका चलाने में पर्याप्त नहीं है। अतः हमें पत्रिका के **सदस्यता शुल्क** में वृद्धि करने का निर्णय लेना पड रहा है। पत्रिका के सदस्य एवं ग्राहकों से नम्र निवेदन है कि वे सहयोग देकर पत्रिका को मदद करें।

सदस्यता शुल्क की नयी दरें निम्नांकित हैं और आगामी खण्ड २४ से याने दिसंबर २००२ से वे लागू की जाएँगीं।

सदस्यता शुल्क

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. २५००/-
	व्यक्तिओं के लिए	रु. १०००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. १२५/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. १००/-
एक प्रतिका मूल्य		रु. ३५/-

विमर्श : एक दार्शनिक विवेचन

भारतीय संस्कृति जितनी वैदिक है उतनी ही आगमिक। वास्तव में दोनों परम्पराएँ मिलकर भारतीय संस्कृति को परिपूर्णता प्रदान करती हैं। आज हमारी संस्कृति का जो रूप है उसे वैदिक एवं आगमिक दोनों परम्पराओं का सुन्दर समन्वय कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

मूलागमों की प्रकृति मुख्यतः तीन तरह की रही है - (१) भेद परक (२) भेदाभेद परक एवं (३) अभेद परक। भेद परक आगम मुख्यतः तमिल भाषा में हैं । इन आगमों में पति (शिव) पशु (आत्मा) तथा पाश (बन्धन) तीनों को सत् मानकर भक्ति को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बनाने का प्रयास दिखता है। तर्क या सिद्धान्त से भी तत्त्वों की सिद्धि दिखलाने की मुख्य विशेषता को लेकर इन भेद परक आगमों की व्याख्या ''शैव सिद्धान्त'' के रूप में प्रसिद्ध है। भेदाभेद परक आगमों को आधार बनाकर जो दार्शनिक निकाय विकसित हुआ उसे वीर शैव दर्शन के नाम से जाना जाता है। अभेद परक आगमों के विचारों का विकास मुख्यतः काश्मीर क्षेत्र में हुआ इसलिए इसकी प्रसिद्धि काश्मीर शैव दर्शन के रूप में हुयी। कौल साधना का प्रतिपादक होने से इसे कौल दर्शन और प्रतिभिज्ञा रूपी लक्ष्य को केन्द्र में रखकर इस दार्शनिक निकाय के विकसित होने से प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं। उत्पलदेव, सोमानन्द, अभिनव गुप्त इस परम्परा के श्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं।

काश्मीरी आगम दर्शन का भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसमें जीवन के ऐसे सत्यों का अनुशीलन हुआ है जो स्वस्थ, सुखी एवं आध्यात्मिक रूप से परिपूर्ण जीवन के लिए अपरिहार्य है। इस निरन्तर नवीन बनाए रखनेवाले स्वस्थ जीवन दर्शन का केन्द्रीय आधार शिवतत्त्व की विमर्शात्मकता है।

प्रस्तुत लेख का प्रयोजन काश्मीर शैव दर्शन में विमर्श की अवधारणा सृष्टि में उसकी भूमिका तथा इस प्रत्यय के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते है, उन्हें स्पष्ट कर यह दिखलाना है कि विमर्श प्रत्यय किस प्रकार भारतीय

संस्कृति को परिपूर्ण करता है।

विमर्श प्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए काश्मीर शैव दर्शन की तत्त्वमीमांसा में शक्तिपंचक की अवधारणा का उल्लेख उचित प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ विमर्श को शिव की शक्ति का स्वातंत्र्य माना गया है। विमर्शिनी में उस शक्ति-स्वभाव परमेश्वर की शक्ति को मुख्यतः पाँच नामों से अभिहित किया जाता है। जगत् की उन्मेष दृष्टि (आभास दृष्टि) से परमेश्वर की पाँचों शक्तियाँ क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाती हैं। विमर्शिनी में चित् आत्मा के प्रकाशरूपता को उसकी चित् शक्ति कहा है। यह प्रकाशरूपता ही परमशिव की शुद्ध संविद्रूपता है। अपने इस प्रकाशस्वरूप से ही वह सर्वत्र प्रकाशित होता है।

शिव ज्ञानस्वरूप होते हुए विमर्श रूप या क्रियाशील भी हैं।[1] क्रियाशीलता का नाम ही शक्ति है।[2] शिव-शक्ति, प्रकाश-विमर्श, ज्ञान-क्रिया ये सभी गुण व धर्म एक ही तत्त्व शिव को निर्दिष्ट करते हैं। जिस प्रकार नदी कहने मात्र से ही जल और प्रवाह दोनों का बोध होता है, कारण नदी के जल में ही प्रवाह होता है, उसी प्रकार शिव-शक्ति, ज्ञान-क्रिया आदि से शिव का ही बोध होता है। विमर्शिनी में शिव और शक्ति के प्रतीकरूप अर्धनारीश्वर की कल्पना की गयी है जिसका आशय यह नहीं है कि एक ही तत्त्व में आधा अंश शिव और आधा शक्ति का अंश है, बल्कि वास्तविक तत्त्व एक ही है। विशेषण केवल समझने के लिए दिये जाते हैं। परम शिव स्वतः गतिशील है। यही इसकी विशेषता है कि पूर्ण चैतन्य असीम आनन्दस्वरूप होते हुए भी क्रियाशील है। चैतन्य में स्वतः गति होती है। इसी गति को शक्ति-परामर्श कहा गया है। शक्ति कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं बल्कि चैतन्य का ही स्वरूप है। प्रकाश-विमर्शमय ही चैतन्य तत्त्व है। जैसा कि आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया है 'ज्ञान विमर्शानुप्राणितं शिव तत्त्वम्' अर्थात् शिवतत्त्व प्रकाश-विमर्श सामरस्य है।

परमशिव को क्रियाशील मानने से कुछ लोग आपत्ति प्रकट करते हैं कि यदि परमशिव सक्रिय है तो वह अपूर्ण होगा क्योंकि क्रिया करने का आशय ही है कि वह अपनी अपूर्णता को पूर्ण करने हेतु ही क्रियाशील है। शिव जब पंचकृत्य करता है तो किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए। अतः वह पूर्ण तत्त्व नहीं है। पूर्णता और सक्रियता एक ही तत्त्व के स्वरूप नहीं हो सकते हैं।

इस प्रश्न के समाधान हेतु ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में कहा गया है[३] कि परमशिव पूर्ण के साथ विमर्श रूप भी है। अतः वह सर्वथा स्वतंत्र है, अन्य निरपेक्ष है। अपने अन्दर प्रकाश एकात्म्य से स्थित समस्त विश्व को अपने ही अन्दर प्रतिबिम्बित करने के लिए उसे अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि अपेक्षा अपूर्ण में होती है। वह तो सर्वथा परिपूर्ण है। परअनपेक्षा ही उसका स्वातन्त्र्य है। जिससे वह अपने आप को विभक्त किये बिना ही समस्त विश्ववैचित्र्य को आत्म भित्ति पर आभासित करता है। शक्ति ही परमशिव का वैशिष्ट्य है। परमशिव को चेतनमात्र कहने से ही स्वभावतः क्रियाशीलता ज्ञात हो जाती है। सक्रियता के बिना वह चैतन्य नहीं। जो दार्शनिक परमतत्त्व को पूर्ण मानने के साथ सक्रिय नहीं मानते वे क्रिया और कर्म में भेद नहीं करते। कर्म करना तो अपूर्णता का प्रतीक है। परन्तु क्रिया (जो कि शिव के स्वरूप में ही सन्निहित है) पूर्णता का द्योतक है।

क्रिया के दो रूप हैं - (१) ऐच्छिक क्रिया (२) स्वभाविकी क्रिया।

इच्छानुसार की जाने वाली क्रिया को ऐच्छिक क्रिया कहते हैं। ऐच्छिक क्रियाओं में अभ्यास रहता है एवं सप्रयोजनता होती है। यह क्रिया कर्ता के ऊपर निर्भर है। क्योंकि सभी लोगों को भिन्न-भिन्न इच्छाएँ होती हैं और लोक स्वेच्छानुसार ही कार्य करते हैं। स्वाभाविकी क्रिया स्वपरिचालित है। यह अपने-आप स्वभावतः होती रहती है। जैसे दिन-रात का होना, आँधी-तूफान का आना आदि। स्वाभाविकी क्रियाओं को प्रयास करके भी अवरुद्ध नहीं किया जा सकता।

आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार परमशिव में स्वाभाविकी क्रिया पायी जाती है। वह स्वभावतः क्रियाशील है। उसके स्वरूप में ही क्रिया-शक्ति सन्निहित है। इसलिए इसे स्वाभाविकी क्रिया कहते हैं। विमर्शिनी में जीव शिव का ही धारणा किया हुआ रूप है अतः जीव के अन्दर भी स्वाभाविकी क्रिया होती रहती है जैसे साँस आना, भोजन, पाचन इत्यादि। स्वाभाविकी क्रिया भी दो प्रकार की होती हैं १) यांत्रिक २) स्वतंत्रतापूर्ण।

यांत्रिक क्रिया का आशय उस क्रिया से है जो क्रिया यंत्र की भाँति (मशीनवत्) नित्यप्रति होती रहे और स्वतंत्रतापूर्ण का अभिप्राय ऐसी क्रिया से है जो स्वाभाविक के साथ ही साथ स्वतंत्र भी हो, याने स्वाभाविकी क्रिया में भी पूर्णरूपेण स्वतंत्र। विमर्शिनी के अनुसार परमशिव में स्वाभाविकी क्रिया पायी जाती है और उसके लिए भी वह स्वतंत्र है। इस प्रकार क्रिया अपूर्णता का

प्रतीक न होकर स्वभावतः स्वातन्त्र्यरूपेण परिचालित क्रिया है जो कि चैतन्य स्वरूप शिव में ही सन्निहित है। सभी कार्य - सृष्टि, संहार - आदि स्वभावतः होते रहते हैं।

प्रकाश शिवरूप है और विमर्श शक्तिरूप।

ई. प्र. वि. के अनुसार प्रकाश आत्मा का स्वरूप है और विमर्श प्रकाश के स्वरूप की प्रतीति। यही विमर्श ही उसकी अपनी महेश्वरता की पूर्ण प्रतीति है। शिव और शक्ति का नित्य सामरस्य ही परमशिव है। शक्ति आत्मारूपी परमशिव का विमर्श है और इस विमर्श से ही वह कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुम् स्वभावी होता है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति ही उसकी स्वतंत्र शक्ति कहलाती है। जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति सदैव अभेदरूपता में स्फुरित होती है। अतएव आत्मा ज्ञातृकर्तृरूप है।[४] इसी कारण नेत्रतंत्र में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि जो ज्ञान है वह क्रियाशून्य नहीं और जो क्रिया है वह ज्ञान रहित नहीं।[५] ईश्वरप्रत्पभिज्ञाविमर्शिनी में भी इसका उल्लेख किया गया कि ज्ञान और क्रिया वस्तुतः एक परमेश्वरी इच्छा का ही उत्तरोत्तर विकास है। परमेश्वर की इस चिकीर्षारूप इच्छा में सबकुछ अन्तर्भूत है और सब कुछ वहाँ अभेद रूप से अवस्थित है।[६]

परम तत्त्व के सम्बन्ध में जो सबसे अहम दार्शनिक प्रश्न उठता है वह है - तत्त्व का अहन्ता-विमर्श। यदि परम तत्त्व को स्वयं अपने अहं का बोध नहीं तो उसमें अपूर्णता का प्रश्न तो उठेगा ही। साथ ही यह भी प्रश्न उठेगा कि जिसे अपना स्वयं का बोध नहीं वह भक्तों का, जीवों का आराध्य एवं आदर्श कैसे हो सकता है? उसकी आवश्यकता ही क्या होगी ? शंकर के निर्गुण ब्रह्म पर रामानुज के आक्षेप का अनुवाद करते हुए राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन में एक उपमा दी है जो समीचीन प्रतीत होती है। उसके अनुसार शंकर का ब्रह्म आरनाल्डो की उस घोडी की तरह है जो सर्वाङ्गसुन्दर थी किन्तु उसमें एक छोटा सा दोष था, वह यह कि वह मरी हुयी थी।

काश्मीर शिवाद्वैत शिव को विमर्शात्मक मानता है। यह उसकी सबसे प्रमुख विशेषता है कि इस विमर्श को चेतन ही नहीं स्वचेतन विमर्श मानता है। अभिनव गुप्त ने शिव की अहंता को शिव की शिवता माना है।

परमशिव अहं विमर्शमय है। विमर्शिनी के अनुसार शिव आत्मचैतन्यपूर्ण है। शिव को अहंज्ञान है। अहंज्ञान का आशय स्वयं का ज्ञान अर्थात् 'मैं हूँ'

(अहमस्मि)। साथ ही परम शिव अद्वय और पूर्ण भी है। वह स्वयं से ही जगत् निर्मित करने के बाद अहंबोध भी रखता है। कारण अहम् ही इदम् (जगत्) में आभासित हो रहा है।

अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य के अनुसार परब्रह्म अद्वय है। अतः उसमें अहंज्ञान नहीं है। कारण अहंज्ञान भिन्नता प्रकट करता है। अहं का आशय है द्वैत अर्थात् अहंज्ञान तब होगा जब कि अहं से अतिरिक्त भी कोई तत्त्व होगा। परब्रह्म के अतिरिक्त परमार्थतः किसी की सत्ता नहीं है। अतः उसमें अहंज्ञान भी कोई तत्त्व होगा। अहं एक सापेक्ष पद है। जैसे पिता कहने का अभिप्राय पुत्र या पुत्री से सम्बन्ध है। वैसे ही अहं ज्ञान 'त्वं सः' आदि की अपेक्षा से भिन्नता प्रकट करता है। भिन्नता हेतु का प्रतीक है। परमशिव अद्वय होने के कारण उससे भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं। अतः उसे अहंज्ञान नहीं है, और यदि अहंज्ञान माना जाय तो वह अद्वय नहीं हो सकता।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में इसके समाधान हेतु यह बताया गया है कि शिव में अहंबोध है। अहम् शब्द का सापेक्ष पद के साथ ही साथ निरपेक्ष पद में भी प्रयोग किया जाता है। जहाँ स्वयं को किसी अन्य व्यक्ति विशेष से भेद करना होता है वहाँ अहम् शब्द सापेक्षतः प्रयुक्त होता है। यह द्वैत भाव का सूचक तब है जबकि जगत् की अन्य वस्तुओं को अहम् विमर्श से पृथक् समझते हैं। यह अज्ञानावस्था है। अहम् शब्द का प्रयोग स्वयं का भी बोध कराने के लिए होता है। 'मैं हूँ' (अहमस्मि) ऐसा प्रयोग निरपेक्षतः है। यह अवस्था शिवावस्था है, जहाँ पर द्वैतभाव पूर्णरूपेण नहीं रहता है। जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं में अपना ही प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। मैं ही इस जड-जगत् में व्याप्त हूँ। (अहमिदं) अहम् से पृथक् कोई तत्त्व ही नहीं, तो पृथक्ता के बोध का प्रश्न ही नहीं उठता। पूर्णरूपेण अहंबोध ही शिवावस्था है। शिव को अहंज्ञान इसलिए है कि उसे इसका ज्ञान है कि मेरा प्रकाश इस जगत् में आभासित हो रहा है। शिव से पृथक् किसी की सत्ता नहीं। सब शिवमय है। अतः स्पष्ट है कि अहम् शब्द का प्रयोग निरपेक्ष रूप से भी होता है। विमर्शिनी में यह निरपेक्ष की अवस्था ही शिवावस्था है।

पुनः यह समस्या उत्थापित की जाती है कि शिव को अहंज्ञान है परन्तु अहंबोध का ज्ञान किसी भिन्न संज्ञा द्वारा ही संभव है। अहमस्मि अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार के ज्ञान के लिए अहम् से भिन्न कोई सत्ता अवश्य है तभी इस

प्रकार का ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं।

वस्तुतः यह प्रश्न आचार्य शंकर के इस तर्क की प्रसिद्धि के कारण महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि अहं विमर्श के लिए भेद का होना आवश्यक है। और चूँकि ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत सभी भेदों से परे है, अतः उसमें अहंबोध की तार्किक आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता। काश्मीर शिवाद्वैत शिव को भेदरहित मानते हुए भी उसके विमर्शात्मक स्वरूप को ही अहन्ता या अहंबोध की शर्त स्वीकार कर इस प्रत्यय की व्याख्या करता है। आचार्य अभिनव गुप्त ने विमर्शिनी में कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि अहंबोध किसी भिन्न सत्ता के द्वारा ही हो। चैतन्य के स्वरूप में सन्निहित स्वाभाविक क्रियाशीलता से अहमस्मि का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सागर में लहर स्वभावतः उठती रहती है वैसे ही शिव में स्वभावतः अहंज्ञान है।

मालिनीविजयवार्तिक में कहा गया है कि परमेश्वर अपनी स्पन्दरूपता से अपने परिपूर्ण 'अहम्' के भीतर ही अभिन्न रूप से इदम् रूपात्मक विश्व का अवभासन (उल्लासन) करता है। एक प्रकाशरूप परमेश्वर ही अपने स्पन्दस्वातंत्र्य से विभिन्न वैचित्र्य रूपों में प्रकाशित होता है, और फिर भी वह वस्तुतः अवभिन्न होकर अकेला ही प्रकाशमान है।[७]

स्पन्दनिर्णय के अनुसार पूर्ण अहम् में अभिन्न रूप से इदम् विश्वात्मक रूप की अवभासन आरोहण कल्पना की क्रीडा है। आरोहण कल्पना की क्रीडा के द्वारा इस इदम् (विश्व) को पुनः इस तरह अपनी अहन्ता में लय कर लेता है कि इदन्ता नाम तक शेष नहीं रहता। इसी प्रकार एकात्मरूप में इदन्ता का अवभासन उसकी प्रकाशरूपता का निमेष और विमर्शरूपता का उन्मेष कहलाता है। विमर्श का उन्मेष सृष्टि का पर्याय है और विमर्श का निमेष प्रलय का।[८] ये सृष्टि और प्रलय प्रतिक्षण परमेश्वर के अन्तर्गत अभिन्न रूप से स्पन्दित होते रहते हैं। यह स्पन्द ही परमेश्वर की इच्छा है। जो वैधोन्मुखी न होकर स्वरूपोमुखी है क्योंकि परिपूर्ण परमेश्वर से भिन्न किसी भी वैधभाव की सत्ता नहीं।[९]

गीता के स्थितप्रज्ञ के विचार में तन्त्रों की इस विमर्शात्मकता का विचार आगमिक होते हुए भी वैदिक भी बन गया है। आगम का यह विचार शांकर वेदान्तियों के कर्मसंन्यासरूप जीवयुक्त को अवधारणा का विकल्प नहीं बल्कि उनका पूरक प्रतीत होता है। किसी परम्परा की दार्शनिक स्थिति उसके धार्मिक

पक्ष पर आधारित होती है और यही बात उस परम्परा या निकायों को अन्यों से पृथक् करती है। वेदांत (शंकर) के निषेधात्मक दृष्टिकोण को उसका धर्म भी देखा जाता है। जगत्मिथ्यात्व जगत् के प्रति वैराग्य एवं संन्यास के तथ्य को प्रकट करता है। इसीलिए परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए संन्यास की पूरी प्रक्रिया को अद्वैतवेदांतियो ने अपने धार्मिक विषय-वस्तु के रूप में महत्त्व दिया है। उदाहरण के लिए क्रिया को मोक्षार्थबाधक माना गया है। इन्द्रिय-संयम ही नहीं इन्द्रिय-निग्रह पर आग्रहपूर्वक बल दिया गया है। भोगों की भर्त्सना की गयी है, जीवनमुक्त की अवस्था को नैष्कर्म्य की अवस्था बताया गया है। इससे भिन्न काश्मीर अद्वैतागामों का भावात्मक दृष्टिकोण जीवन को ठीक ढंग से जीने, जगत् को मिथ्या मानकर शिव का वास्तविक विमर्श मानने तथा इस रूप में जगत् को भी दिव्य समझने, भोगों के त्याग का नहीं, दिव्य समझ के साथ भोगों के भोग में, तत्त्व को क्रियाशील रूप में सर्जनात्मक मानने, रागादि के त्याग पर बल न देकर विषयों के प्रति तात्त्विक एकता का भाव रखने तथा प्रेम आदि के द्वारा रागादि से ऊपर उठने, उनके दिव्यीकरण, जागतिक मूल्यों के प्रति पवित्रता का भाव रखने, इसे बाधक मानने का धार्मिक आचरण सम्बन्धी भावात्मक विचार वेदान्त को परम्परा से इसे भिन्न करता है। इसकी मान्यता के अनुसार वेदांत में प्रतीत होनेवाला मुक्ति और भुक्ति का विरोध वास्तविक नहीं है। मुक्ति को इच्छाओं के परिपाक के लिए आवश्यक माना गया है। ऐसी स्थिति में जब भोग और योग की तात्त्विक एकता प्रधान होती है तब भोग ही योग हो जाता है। अतः योग के लिए भोग, भोगों से ऊपर उठने के लिए भोग आवश्यक है। जब भोगेच्छा तथा भोग के विषय को धार्मिक रूप से ग्रहण किया जाता है तो भोग भी योग हो जाता है, ऐसी काश्मीर शैवदार्शिनिकों की मान्यता है। दुर्गम्य सुगम में, भोग योग में परिवर्तित हो जाता है और जगत् मोक्ष का साधन बन जाता है।

भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरी॥ कुलार्णव तन्त्र, २.२४

मुक्ति के लिए नैष्कर्म्य की आवश्यकता नहीं। मुक्ति शिवरूपता की प्राप्ति है और शिव क्रियात्मक (Dynamic) है। अतः मुक्ति की अवस्था निष्काम कर्म (Spontaneous action) करने की अवस्था है। ज्ञान और क्रिया में विरोध नहीं अपितु ज्ञान क्रियारूप भी है। शिव शक्तिरूप भी है। शक्ति

के बिना शिव शव है। अतः क्रिया मुक्ति में बाधक नहीं साधक है। मोक्षदायक है। कर्म ज्ञानोत्पति की पूर्व आवश्यकता मात्र नहीं जैसा की वेदान्ती मानते हैं। ज्ञान आन्तरिक परिवर्तन है। पौरुष ज्ञान है और इस रूप में क्रिया भी है। कौल साधना में उदात्तीकरण (Sublimation) का भाव उसकी स्वस्थ धार्मिक दृष्टि के कारण अत्यधिक विशिष्ट रहा है। संभोग आदि के प्रति पवित्र धार्मिक दृष्टिकोण साधक है, बाधक नहीं। और इस रूप में कौलसाधना भोग की नहीं योग की साधना बन जाती है, वह योग जिसके लिए संन्यास की आवश्यकता नहीं है और नैष्कर्म्य जिसका स्वरूप नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर काश्मीर-आगम-दर्शन श्रुति (वेदांत) के निषेधात्मक दृष्टिकोण से भिन्न भावात्मक रहा है। यह इसका सर्वोपरि वैशिष्ट्य है। जीवन, जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण ने भी अन्य धर्मों से इस धर्म के वैशिष्ट्य को सिद्ध किया है और आज जो भारतीय संस्कृति में जीवमुक्त की क्रिया-रूपता, जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण एवं जीवन के प्रति दिव्यता का विचार स्थान पाया है वह आगमिक परम्परा का भारतीय संस्कृति में विशिष्ट योगदान ही है।

डा. ज्ञानाञ्जय द्विवेदी

दर्शनशास्त्र विभाग,
भा. से. स. महाविद्यालय,
सुपौल (बिहार) ८६२१३१

टिप्पणियाँ

१. स एव विमृशत्वेन निपतेन महेश्वरः।
विमर्श एवं देवस्य शुद्धे ज्ञान क्रिये यतः॥
ई. प्र. वि. भाग-०१ , पृ. ३३७

२. यद्यपि च प्रकाशविमर्शात्मिक चिदवेय धनम् एकमेव सविद्रपय् तथापि व्युत्पनादाय तत्वरिघटति एवं अयं विभागः (ज्ञान क्रिया इत्यर्थ) तेन ज्ञानात्मक क्रियाविषय स्वातन्त्र्यम्। **ई. प्र. वि.**, भाग ३ पृ. ३१७

३. **ई. प्र. वि.** भाग-१, पृ. १३३

४. विमर्श एवं देवस्य शुद्ध ज्ञान क्रिये यतः। **ई. प्र. वि.** भा. १-१/८/११

५. न क्रिया रहितं ज्ञानं न ज्ञानरहितं क्रिया । **नेत्र तंत्र उद्योत टीका** भाग २, पृ. ४२

६. परामर्श हि चिकीर्षा रूपेच्छा।
तस्यां या सर्वमत्रभूतं नियति व्यमभेदकल्पेनास्ते।
ई. प्र. वि. भा.२, पृ. १८१

७. एक प्रकाश स्वातंन्त्र्या विचित्र रूप प्रकाशते वस्तुतश्च न विलोऽसौ नाचिलो भेददूषणात्। **मालिनीविजयवार्तिक** १/६

८. यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलयादयौ। **स्पन्दकारिका** का. -१

९. अतएव प्रतिक्षण प्रमातृसंयोजनाविभोजनावेचित्र्येण परमेश्वरी विश्व सृष्टि संहारा दिना प्रंपचयति। **ई. प्र. वि.** भाग १, पृ. १९५

शून्यवाद एवं विज्ञानवाद से प्रभावित अद्वैतवाद

नागार्जुन प्रतिपादित बौद्धसिद्धान्त शून्यवाद कहलाता है। इनकी माध्यमिक कारिका या मध्यमकशास्त्र पूर्णरूप से शून्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक है। इनके शून्य की कल्पना बडी विचित्र सी है। जैसा कि समान्यतया व्यवहार में शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' ऐसा समझा जाता है, किन्तु शून्यवाद में उससे विलक्षण शून्य अर्थ की कल्पना की गई है। शून्यता, तथता, प्रतीत्यमुत्पाद, सत्यता, सर्वथा निर्वचनीयता आदि शब्दों के द्वारा किसी चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्य तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है। सत्, असत्, उभय और अनुभय - इन चारों पक्षों से भिन्न शून्यतत्त्व को वैसे ही माना जाता है, जैसे कि अद्वैत वेदान्ती अविद्यानिवृत्ति को कोटिचतुष्टय से भिन्न मानते हैं।

लंकावतार सूत्र में भी भगवान् ने कहा है -

कारणैः प्रत्ययैश्चापि येषां लोकः प्रवर्तते।
चातुष्कोटिकया युक्त्या न ते मन्मतकोविदाः॥

अर्थात् जो लोक कारणों और प्रत्ययों के आधार पर लोक-व्यवहार प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं कुछ लोग सत्, कुछ असत्, कुछ सदसद् उभय और कुछ अनुभय इन चार कोटियों के द्वारा ही लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताते हैं, वे हमारे मत के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ हैं। इसके साथ-साथ माध्यमिक वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता मानकर उलझी हुई दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाया करते हैं। स्वयं आचार्य नागार्जुन कहते हैं -

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोक संवृति सत्यं च परमार्थतः॥
योऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयो।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने॥
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥[1]

अर्थात् बुद्ध के उपदेश संवृति और परमार्थ इन दो प्रकार की सत्ताओं पर आधृत हैं। जो इन दोनों के सूक्ष्म अन्तर को नहीं समझ पाते, वे बुद्धशासन के गम्भीर तल का स्पर्श करने में अशक्त रहा करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि व्यावहारिक भूमि का आलम्बन किये बिना परमार्थ सिद्ध नहीं हो सकता और परमार्थ की सिद्धि न होने पर निर्वाण प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं। संवृति शब्द का अर्थ चन्द्रकीर्ति के शब्दों में इस प्रकार है - समन्ताद्वरणं संवृत्तिः। अज्ञानं हि समन्तात्सर्वपदार्थ-तत्त्वावच्छादनात् संवृतिरिति उच्यते। परस्परं सभजनं वा संवृतिरन्योन्यसमाश्र भेजेत्यर्थः।[2]

अर्थात् अज्ञान को संवृति कहा जाता है, क्योंकि वह पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का संवरण या आच्छादन करता है। आचार्य गौडपाद ने अपनी माडूक्यकारिका में इन्ही सत्यों को सूचित किया है। उसकी व्याख्या में शंकराचार्य भी संवृति शब्द का अर्थ करते हैं - ''संवृत्या संवरण संवृतिरविद्या विषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वं तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वैः।''[3]

नागार्जुन के एक अन्य उदाहरण में भी इसी प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की गई है -

मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः।
सत्यं तथा ख्याति यदेव कृत्रिमम्॥
जगाद तत्संवृति सत्यमित्यसौ।
मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्॥[4]

चन्द्रकीर्ति के द्वारा प्रस्तुत संवृति शब्द की व्याख्या में एक अन्य पक्ष भी प्रस्तुत किया गया है, जिसे सापेक्षवाद, हेतुप्रत्ययसापेक्षवाद, या प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्य के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार माध्यमिक और अद्वैतवेदान्ती - इन दोनों की उडानें एक ही आकाश में उपलब्ध होती हैं, जो कि संवृति और परमार्थ जैसी विविध सत्ताओं का क्षेत्र माना जाता है। भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग अवश्य दोनों किया करते हैं, किन्तु यह एक अद्भुत भ्रातृत्व बौद्ध और शांकर वेदान्तियों

में विद्यमान है। सांवृतिक, व्यावहारिक, लौकिक, पारमार्थिक आदि शब्दों के द्वारा वहीं एक सांवृतिक सत्य प्रस्तुत किया गया है, जिसे माध्यमिक आचार्य बुद्ध के गम्भीर उपदेशों से अभिनिष्यन्दित, व्यवहारोपयोगी सत्तत्त्व बताया करते हैं। शांकर वेदान्त जिसे जगत् की आधारशिला बताता है, माध्यमिक उसे ही शून्य कहा करते हैं। जीवनयात्रा के लिये जगत् के सभी उपकरण वैसे ही हैं जैसे कि एक साधारण व्यक्ति उन्हें समझ रहा है। यह व्यावहारिक पक्ष है, किन्तु उसी में दुःखादि का दर्शन पाकर आर्य-दृष्टि पारमार्थिक सत्यता या शून्यता पर टिक जाती है। शून्यता की परिभाषा स्वयं नागार्जुन ने स्पष्ट की है -

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥[५]

नागार्जुन के उपलब्ध साहित्य के अनुशीलन से यह तथ्य निकलते हैं - शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उपादायप्रज्ञप्ति और मध्यमाप्रतिपत् पर्याय मात्र हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ होता है हेतुप्रत्ययसापेक्षता के आधार पर किसी वस्तु का स्वरूपलाभ। जैसें कुछ तन्तुओं के विशेषरूप में जुड जाने पर पट की प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रत्येक तन्तु अपने अवयवों से और प्रत्येक अवयव अपने अवयवों से बनता प्रतीत होता चला आया है। पट के आरम्भक मूल अणु नित्य कूटस्थ नहीं होते और न उनका अंशु, तन्तु, पट आदि परिणति परम्परा में कभी उच्छेद ही होता है। इस प्रकार शाश्वत और उच्छेदवाद के मध्य की कार्यकारणभाव प्रवाह की निरन्तर प्रवाहित प्रक्रिया को प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द से व्यवहृत किया गया है।

पट की प्रज्ञप्ति या कल्पना का उपादान कारण परम्परा ही है। पट का निजी अपना स्वरूप कहीं भी स्थिर नहीं होता, केवल उसका उपादेय आरोपित या औपचारिक रूप ही व्यवहार में आता है। इससे यही भाव प्रतिफलित होता है कि जगत् का पराश्रित स्वभाव प्रतीत होने पर वस्तुतः अपना स्वभाव नहीं होता। पराश्रित स्वभाव सांवृतिक है और निःस्वभावतः पारमार्थिक है। उसे ही शून्यता या तथता की संज्ञा दी जाती है।

नागार्जुन के इस सांगोपांग सिद्धान्त की रूपरेखा ब्राह्मण या जैन दर्शनकारों ने यथावत् प्रस्तुत नहीं की इसका कारण अभी तक गवेषणा का

विषय बना हुआ है। जगत् की अविरल कार्यकारणप्रवाहगति का निरूपण वैदिक एवं जैन साहित्य में अपने निजी सिद्धान्त के रूप में विश्रुत है। इस प्रकार निरधिष्ठानक भ्रम शून्यवाद का सिद्धान्त नागार्जुन के शब्दों में नहीं पाया जाता और न नागार्जुन को छोडकर किसी अन्य शून्यवादी आचार्य का उल्लेख या प्रसिद्धि ही है।

शून्यवाद और अद्वैतवाद दोनों में जगत् को आरोपित या मिथ्या कहा जाता है। अद्वैतवाद में प्रपंचभ्रम का अंधिष्ठान ब्रह्म माना जाता है। किन्तु शून्यवाद में कुछ भी परमार्थ सत् नहीं माना जाता । अतः प्रपंच को निरधिष्ठानक माना जाता है ऐसी ब्राह्मण दर्शनकारों की धारणा है। किन्तु बौद्धग्रन्थों के अध्ययन से पता लगता है कि शून्यवादी भी शून्यतत्त्व को पारमार्थिक मानते हैं।

शून्यतत्त्व ही वह निर्विकल्प व स्वलक्षणतत्त्व है जिस पर नाम, जाति, द्रव्य, गुण और कर्म की पंचविध कल्पनाएँ समुद्‌गत होती हैं। उन कल्पनाओं को ही भ्रम कहा जाता है। इस प्रकार साधिष्ठानक भ्रम की गवेषणा शून्यवाद में पाई जाती है। आश्चर्य की बात यह भी है कि अद्वैतवादी अपने ब्रह्मतत्त्व को निर्विकल्प एवं 'नेति-नेति' आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं। 'नेति-नेति' व्यवहार के मूल में शून्यता ही परिलक्षित होती है। सद्, असद्, उभय व अनुभय इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त अविद्या निवृत्ति से अभिन्न ब्रह्मतत्त्व का सिद्धान्त अद्वैतवाद में अभ्युपगत है।

गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से पता लगता है कि शून्यवाद और अद्वैतवाद का उद्‌गम किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित है। नागार्जुन ने अपने परमार्थतत्त्व की ओर संकेत करते हुए कहा है -

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितम्।
निर्विकल्पनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम्।।[६]

नागार्जुन ने यह भी विस्पष्टरूप से उद्‌घोषित किया है कि शून्यवाद में ही प्रतिकर्मव्यवस्था या विविध सांसारिक व्यवहार का सामंजस्य होता है अन्यत्र नहीं।

योगाचार के दार्शनिक मत का नाम विज्ञानवाद है। असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, ज्ञानश्री, रत्नकीर्ति आदि आचार्य इस

परम्परा के प्रवर्तक और प्रवर्धक माने जाते हैं। इनका मत है - विज्ञान या चित्त एक मात्र सत्य वस्तु है, उससे भिन्न बाह्य प्रपंच की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। युगयुगान्तर से प्रवाहित व्यवहार की अविरलधारा से प्रसूत अनन्त संस्कारों से युक्त होने के कारण विज्ञान उसी प्रकार घटपटादि अनेक आकारों में प्रतीत होता है, जैसे स्वप्नचित्र के अनेक आकार स्वप्न में प्रतिभासित होते हैं। उनकी बाह्यसत्ता सिद्ध नहीं होती। उसी प्रकार जाग्रत काल के ज्ञान भी बाह्यविषयशून्य या निरालम्बन होते हैं। 'लंकावतार सूत्र' कहता है -

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनैर्लुडितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्तते॥[७]

अर्थात् बाह्य अर्थ सामान्यजनों को जैसा सत्य प्रतीत होता है, वह वैसा वस्तुसत् नहीं होता। केवल विज्ञान या चित्त स्वगत अनन्त वासनाओं के आधार पर वैसा आकार धारण कर लेता है। (भगवान् ने लंकावतार सूत्र में वैसा ही प्रतिपादित किया है - 'विज्ञप्ति मात्रं त्रिभवम्' लं. सू. १०-७७)। धर्मकीर्ति ने भी वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के आधार पर विज्ञप्ति मात्रता का परिपोषण करते हुए कहा है -

संकृत्संवेद्यमानस्य नियमेनधिया सह।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति॥
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
संवित्ति नियमो नास्ति भिन्नयोर्नीलपीतयौः॥
नार्थो संवेदनः कश्चिदनर्थं वापि वेदनम्।
दृष्टं संवेद्यमानं तत्तयोर्नास्ति विवेकिता॥
तस्मादर्थस्य दुर्वारं ज्ञानकालावभासिनः।
ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वं हेतुभेदानुमा भवेत्॥[८]

अर्थात् बुद्धि के साथ-साथ नियमतः सह प्रतीयमान विषय का ज्ञान से भेद कैसे सिद्ध होगा ? अतः जिस प्रकार एकचन्द्र दृष्टिदोष के कारण भ्रान्तव्यक्तियों को दो रूपों में प्रतीत होता है, उसी प्रकार नीलादि विषय और उसका ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं। वस्तुतः भिन्न माने जाएँ तो उनमें वैसे ही ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध नहीं बन सकेगा, जैसे कि हिमाचल और विन्ध्याद्रि में। विषय-रहित ज्ञान एवं ज्ञानरहित विषय उपलब्ध नहीं

होते, अतः विषय एवं विषयी दोनों का विवेक (भेद) सम्भव नहीं होता। इसलिए नियमतः ज्ञान काल में प्रतीत होने वाले विषय का ज्ञान से अभेद सिद्ध होता है।

ज्ञान और ज्ञेय का सह उपलम्भ होने के कारण ज्ञेय का आकार ज्ञान का है, ज्ञान से भिन्न नहीं। जैसे दीपक प्रकाश में आकर ही विषय का प्रकाश किया करता है, वैसे ही ज्ञान पहले प्रकाशित होकर विषय प्रकाशन के योग्य होता है। निराकार ज्ञान का प्रकाश सम्भव नहीं, अतः ज्ञान और ज्ञेय के मध्य में प्रतीत होनेवाला घटादि आकार ज्ञान का मानना होगा, उसी का प्रकाश बन सकेगा। प्रतीयमान आकार ज्ञान का है - ऐसा मान लेने पर बाह्य वस्तु निराकार रह जाती है। निराकार वस्तु होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः बाह्य वस्तु कुछ भी नहीं, स्वप्नजगत् के समान सभी विषय विज्ञानगत संस्कारों के आधार पर आरोपित या कल्पित हुआ करते हैं। जैसा कि ज्ञानश्री कहते हैं -

यत्यत् प्रकाशते तद्तद् विज्ञानं स्वप्नदृष्टवत्।
प्रकाशते च नीलादिः स्वभावो हेतुरित्ययम्।।[९]
तस्मान्नवेदकं किंचिन्न वेद्यं न च वेदनम्।
यदपेक्ष्य तदास्थेयं स्वप्रकाशमिदं जगत्।।
प्रकाशते हि नीलादिर्न चान्यत् तत्प्रकाशकम्।
तत्स्व प्रकाशता सिद्धा विज्ञानत्वं तदेव नः।।[१०]

दार्शनिक शृंखला में सम्भवतः प्रथम शताब्दी के गम्भीर दार्शनिक-विचारक नागार्जुन ने सर्वप्रथम प्रपंच को व्यावहारिक मानते हुए उसकी परमार्थिक सत्ता का निराकरण किया है और उसे मायामय उद्घोषित किया है -

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्व नगरं यथा।[११]

इसी प्रकार गौडपाद ने भी प्रपंच को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या कहा है तथा उसे मायामय माना है -

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।[१२]

यथा स्वप्नमाये दृष्टे यथा वा गन्धर्वनगर दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैरिदं विश्वमपि दृष्टं मिथ्या कल्पितमिति भावः।

गन्धर्वनगरोपमा बौद्धग्रन्थों से पूर्व नहीं मिलती। इस कारिका का भाव भी उनके अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दिङ्नाग का उद्धरण प्रस्तुत है -

यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना, तथोपमाजानथ सर्वभावान्॥[१३]

इसी प्रकार लंकावतार सूत्र में कहा गया है -

गन्धर्वनगराकारा मरीचि स्वप्नसन्निभाः।[१४]
गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माण सादृशाः॥[१५]

माया स्वप्ननिपाभावा गन्धर्वनगरोपमाः।
मरीच्युदकचन्द्राभाः स्वविकल्पं विभावयेत्॥[१६]

भगवान् शंकर ने स्वकीय ब्रह्मसूत्रभाष्य में बौद्धमत का प्रदर्शन करते हुए कहा है- स्वप्नमायामरीच्युदकमगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्य-ग्राहकाकारा भवन्तीति।[१७]

जगत् का मिथ्यात्व केवल स्वप्नदृष्टान्त से सिद्ध करना वेदान्ताभिमत है। जैसा कि गौडपाद ने कहा है -

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तस्थानस्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना॥[१८]

किन्तु चार्वाकादि प्रतिवादियों के द्वारा उद्भावित स्वप्नदृष्टान्त निराकरण भी किया जाता है - जैसा कि सुरेश्वराचार्य कहते हैं -

नापि स्वप्नानुभूतेश्च मिथ्यात्वं स्वप्नवन्मतम्।
बोधानुभवतस्या बाधको नेक्ष्यते यतः॥[१९]

गौडपाद इसे वेदान्तियों का दृष्टिकोण घोषित करते हैं जिसका अनुसरण आचार्य शंकर करते हैं। इसके विपरीत रामानुज 'जगदपि पारमार्थिकम् एव ज्ञायते' इस प्रकार अपना मत प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार जहाँ वेदान्त में स्वप्न और जाग्रत् की एकरूपता का प्रतिपादन किया गया है वहाँ पर शबरस्वामी आदि जगत् परमार्थवादी आचार्यों की दृष्टि का उल्लेख भी किया गया है। सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में भी यही रहस्य प्रकट किया है -

स्वप्ने स्वान्तर्गतं विश्वं यथा पृथगवेक्षते।
तथैव जाग्रत्कालेऽपि प्रपंचोऽयं विविच्यताम्॥

स्वप्ने स्वसत्तैवार्थानां सत्ता नान्येति निश्चिता।
को जाग्रति विशेषोऽस्ति जडानामाशुनाशिनम्॥
स्वप्ने प्रकाशो भवानां स्वप्रकाशान्तहीतरः।
जाग्रत्यपि तथैवेति निश्चिंन्वन्ति विपश्चितः॥
यथा स्वप्ने नृपोभूत्वा भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान्।
चतुरंगबलोपेतः शत्रु जित्वा रणांगणे॥
परान् पराजितो भूत्वा वनं प्राप्य तपश्चरन्।
मुहुर्तमात्रमात्मानं मन्यन्ते कल्पजीविनम्॥
तथैव जाग्रत्कालेऽपि मनोराज्यं करोत्यसौ॥
कालनद्याघयोगेन क्षीणमायुर्न पश्यति॥
मेघच्छन्नोंऽशुमालीव मायया मोहितोऽधिकम्।
किंचित कर्ता च किंचिन्नो लक्षितः परमेश्वरः॥[२०]

जगत् की उत्पत्ति और विनाश, मुमुक्षा, बन्ध और मोक्ष की व्यवस्थाओं के समाधानार्थ सर्वप्रथम माध्यमिक आचार्यों ने कुछ नई दिशाएँ दी थीं। जैसे कि नागार्जुन ने कहा है -

अनिरोधनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागमर्गिमम्॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥

इसी शैली का अनुसरण करते हुए गौडपादाचार्य ने भी कहा है -

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥[२१]

यदि यह विश्व स्वप्नमायादि के समान है तब तो न किसी का नाश, न उत्पत्ति न किसी का बन्ध व न ही किसी साधक की बन्धन से मुक्ति तथा न कोई मुमुक्षु व न कोई मुक्त होगा। चन्द्रकीर्ति ने भी मध्यमकवृति में कहा है - एष न कश्चिद् बद्धो जीवो न च कश्चित् साधको बन्धनतो मुक्तेः। एवं न कश्चिन्मुमुक्षुर्नवै कश्चिन्मुक्तः।

यह बौद्ध महायान सिद्धान्त का निष्कर्ष है। 'न निरोधो न चोत्पत्ति' इस उक्ति की वस्तुतः नागार्जुन की प्रारम्भिक कारिका 'अनिरोधमनुत्पाद' इत्यादि से तुलना कर सकते हैं। बोधिचर्यावतार में भी कहा है -

एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत्॥[२२]

इसी प्रकार लङ्कावतार में भी "अनिरुद्धा अनुत्पन्नाश्च भगवता सर्वधर्मा देश्यन्त इति"[२३] ऐसा कहा गया है। पुनः वहीं "उत्पाद भङ्गरहितो लोकः खपुष्प सन्निभः"[२४] कहा है जो पूर्वोक्त बन्धमोक्ष सम्बन्धी इसी प्रकार का बौद्ध सिद्धान्त है। जैसा कि आर्यदेव ने चतुःशतक में कहा है -

कस्यचित्केनचित्सार्धं बन्धो नाम न विद्यते।
परेण सहबन्धस्य विप्रयोगो न युज्यते॥[२५]

लङ्कावतार में भी 'नात्र कश्चिन्महातमे बध्यते न च मुच्यते' तथा वहीं पर 'न मोक्षो न च बन्धनम्' इसी प्रकार कहा है। मध्यमकसूत्रवृत्ति में उद्धृत आर्यरत्नकूटसूत्र भी दृष्टव्य है। मध्यमक-कारिका के बन्ध-परीक्षा-परिच्छेद की कारिका की वृत्ति के शब्द यहाँ उद्धृत हैं जिनमें कहा है -

"यद्यपि त्वया संसारनिर्वाणे प्रतिषिद्ध तथापि बन्धमोक्षौ विद्येते। न चाविद्यमानस्य भावस्वभावस्य बन्धनमोक्षौ विद्येते। न चाविद्यमानस्य भावस्वभावस्य बन्धमोक्षौ सम्भवतः। तस्माद्बन्धमोक्ष सद्भावाद्विद्यत एव भावानां स्वभाव इति। उच्यते स्यादभावानां स्वभावो यदि बन्धमोक्षावेव स्याताम्। न तु स्त इत्याह -

न बध्यन्ते न च मुच्यन्त उदयव्यय धर्मिणः।[२६]

मध्यमक वृत्ति में उद्धृत आर्यरत्नकूट में भी कहा गया है -

अथयुष्यान्सुभूतिस्तान्भिक्षूनेतदवोचत्। कुत्रायुष्यन्तो गताः कुतो वागताः। तेऽवोचन्। न क्वचिद्गमनाय न कुताश्चिदागमनाय भदन्त सुभूते भगवता धर्मो देशितः। आह। को नामायुष्मतां शास्ता। आहुः। यो नोत्पन्नो न परिनिर्वास्यति। आह कथं युष्माधिधर्मर्मः श्रुतः। आहुः। न बन्धनाय न मोक्षाय।" इति।[२७]

महायान सूत्रालंकार में भी कहा है -

सन्न चा सन्न तथा न चान्यथा, न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत्परमार्थलक्षणम्॥ इति[२८]

जिस प्रकार माया आदि स्वभाव से अनुत्पन्न अविद्यमान होते हुए लोक में मायादि शब्द वाच्य और मायादि विज्ञान गम्य होते हैं, इसी प्रकार

ये भी लोक प्रसिद्धि मात्र से उत्पाद्य किन्तु स्वभाव से अविद्यमान होते हुए भी भगवान् के द्वारा उसी प्रकार से विनेयजनों को अनुग्रह की दृष्टि से निर्दिष्ट हैं। इसलिये कहा है -

त्वक्स्नायुमांसास्थि समुच्छ्रये च,
उत्पाद्य संज्ञां मम पत्निरेषा।
मूढाहि बाला जनयन्ति रागं,
स्त्रियो न जानन्ति यथैव मायाम्॥[२९]
यथा कुमारी सुपिनान्तरस्मिं
सा पुत्र जातं च मृतं च पश्यति।
जातेऽति तुष्टा मृति दौर्मनास्थिता
तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान्॥[३०]
यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका
यथैव माया सुपिनं यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्त भावना
तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान्॥[३१]

नागार्जुन की यही कारिका अवधूतोपनिषद्, आत्मोपनिषद्, त्रिपुरातापन्युपनिषद् तथा आगे का अर्वाचीन उपनिषदों तथा धर्मग्रन्थों व दर्शनग्रन्थों में किंचित् पाठभेद से उद्धृत है।[३२]

मायावाद की संक्षिप्त रूपरेखा ही शांकरमत में पश्चात् पल्लवित होकर विशालरूप में परिलक्षित होती है, गवेषक मनीषिगणों का यही सिद्धान्त है।[३३] अद्वैतवेदान्त में जो स्थान दृष्टिसृष्टिवाद या अजातिवाद को प्राप्त है, वहीं बौद्ध जगत् में शून्यवाद का है। अतएव अजातिवाद का प्रतिपादक 'गौडपाद कारिका' ग्रन्थ भी शून्यवाद की प्रतिपादन शैली लिए हुए विद्वानों के कुतूहल एवं आकर्षण का एकमात्र केन्द्र बिन्दु बना हुआ है।

विज्ञानवाद के मौलिक ग्रन्थ लंकावतारसूत्र[३३] में भी जगत् को मरुमरीचिका व गन्धर्वनगर के रूप में प्रतिपादित किया है। किन्तु लंकावतारसूत्र में नागार्जुन की चर्चा आई है, अतः वह नागार्जुन के पश्चात् की कृति मानी जाती है। उसी के आधार पर चतुर्थ शताब्दी में योगाचार मत के संस्थापक विद्वान् असंग एवं वसुबन्धु ने महायान सूत्रालंकार तथा विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में विज्ञानवाद का विस्तृत सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए

विज्ञान से अतिरिक्त विश्व की सत्ता मानने से इन्कार कर दिया है। विज्ञानवाद से भी शांकरशैली बहुत कुछ प्रभावित प्रतीत होती है।

सह-आचार्य, संस्कृत विभाग, **डा. बाबूलाल शर्मा**
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

टिप्पणियाँ

१. **म. शा.**, पृ. २१५-१६
२. **म. शा.**, २४-९
३. **म. शा.**, पृ. १९५
४. **मध्यमकावतार**, ६.२८
५. **म. शा.**, २४.१८
६. **म. शा.**, १८.९
७. **लं. सू.**, २८५
८. **प्र. वा.**, ३.३८८-३९१
९. **ज्ञा. नि.**, पृ. ३५८
१०. **ज्ञा. नि.**, पृ. ३५८
११. **मध्यमकशास्त्र**, ७-३४
१२. **गौ. आ. शा.**, २.३१
१३. **स. सू.**, ९
१४. **ल. सू.**, म. का. १७.३३
१५. **ल. सू.**, १०.८७५
१६. **ल. सू.**, १०.८७५
१७. **ब्र. सू.**, २.२.२८
१८. **गौ. आ. शा.**, ४.९
१९. **बृ. भा. वा.**, २१७
२०. **मानसोल्लास**, ९-११, १६-१९
२१. **गौ. का.**, २.३२
२२. **बोधिचर्यावतार**, ९.१५०
२३. **ल. सू.**, पृ. १९१

२४. ल. सू., २.१; १०.१
२५. चतु:शतक, १७९
२६. म. का., १९.५
२७. म. वृ. पृ. ४९
२८. महायान सूत्रालंकार, १६.२
२९. म. शा.,. ९.१७
३०. म. शा., ९.११
३१. म. शा., ३७.२७
३२. अवधूतोपनिषद्, ८, आत्मोपनिषद्, ३१, त्रिपुरातापन्युपनिषद् ५, १०, ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १०
३३. There is another doctrinal point in the Madhyamika System which later was developed by Samkaracharya in his Mayavada. It is the introduction of the element of Maya to explain away conflicting views. The madhyamikas have but negative statements to make, corresponding to Upanisadic 'नेति नेति.' (**Madhyamika**sastra, Introduction, Mithila Institute, Darbhanga, 1960, p. XI.)
३४. ल. सू., १०.१४४, १०.८७५, १०.२७९, १०.२९१

ओशो (रजनीश) दर्शन : कुछ मान्यताएँ
(संदर्भ - गीता)

समकालीन भारतीय दर्शन के चिंतन की दिशा पर विचार करें तो अधिकांश कार्य परम्परागत दार्शनिक मान्यताओं के पोषण का हुआ है। इसके अलावा कुछ प्रयासों को छोडकर दार्शनिक चिंतन या तो समकालीन पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित या भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन पर तुलनात्मक कार्य किया गया है। लगभग २६ वर्ष पूर्व प्रकाशित दार्शनिक त्रैमासिक में डा. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय उपर्युक्त लिखित विचार को कार्ल पॉटर के कथन से उद्धृत करते हैं कि '...इस समय भारत में दर्शन केवल शास्त्रीय पांडित्य, भारतीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिक मतों के निरूपण, वर्गीकरण और तुलनात्मक अध्ययन के स्तर पर उतरा हुआ है।'[१] आज भी यह प्रश्न प्रासंगिक है कि क्या कारण है हम अपनी प्राचीन मान्यताओं, परम्पराओं से भिन्न कोई नवीन चिंतन नहीं करना चाहते हैं ? वर्तमान में व्यावहारिक दर्शन पर ध्यान केन्द्रित हो रहा है लेकिन हर तरह का भारतीय चिंतन अंततः अपना निष्कर्ष प्राचीन भारतीय मान्यताओं से प्रमाणित करवाने को आतुर है। दार्शनिक त्रैमासिक के उसी लेख में लेखक ने प्रो. जे. एन. मोहन्ती को उद्धृत किया है । उनका कथन है कि "भारतीय दार्शनिक चाहे वह जिस भी दार्शनिक समस्या या आन्दोलन या प्रविधि से संबंधित क्यों न हो, इसके प्रति सचेत हुए बिना नहीं रह सकता कि वह अपनी परम्परा से किस तरह जुडे।"[२] इस दिशा में यदि परम्परा से कुछ भिन्न, नवीन चिन्तन प्रस्तुत भी किया जाता है तो उसे उतना महत्त्व प्राप्त नहीं हो पाता है। इसका एक उदाहरण ओशो (रजनीश) का दर्शन है। हालाँकि ओशो की विवेचना भी परम्परागत निष्कर्ष पर पहुँचती है लेकिन पद्धति में कुछ अंतर है।

ओशो के दृष्टिकोण को समझने पर एक अत्यन्त आश्चर्यजनक तथ्य की प्राप्ति होती है, भारतीय दर्शन तथा संस्कृति की सभी आधारभूत

मान्यताओं - यथा ईश्वर, आत्मा, मोक्ष, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि - का पिष्ठपेषण करने के बावजूद ओशो क्यों आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखे जाते हैं और दार्शनिकों व विचारकों की किसी भी श्रेणी में उन्हें क्यों मान्यता नहीं हैं? इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने 'साधन' संबंधी मान्यता में भारतीय परम्परा से भिन्न, एक विशेष पद्धति पर ज्यादा जोर दिया। भारतीय परम्परा 'साध्य' की पवित्रता के साथ 'साधन' के शुभत्व को भी अनिवार्य स्वीकार करती है अर्थात् शुभ साध्य हेतु जीवन का संयम, नियंत्रण, स्वाध्याय, सत्य आदि मूल्यों पर अवलम्बित होना अनिवार्य है। जबकि ओशो इच्छाओं तथा इंद्रियदमन को समस्त समस्याओं की जड मानते हैं तथा साधन के रूप में वे सभी प्रकार के दमन का विरोध करते हैं।

ओशो की कुछ मान्यताओं की तुलना गीता के दृष्टिकोण से करके इसे स्पष्ट किया जा सकता है। गीता के अध्याय-२ में विषयी इंद्रियों द्वारा भोगपरक बाह्य विषयों में संयोग से उत्पन्न परिणाम का उल्लेख है। जिसमें बतलाया गया है कि "विषयों का ध्यान करने से आसक्ति होती है। आसक्ति से काम तथा काम की आपूर्ति से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मृति नाश होने के कारण बुद्धि एवं जीवन नष्ट हो जाता है। इसीलिए इंद्रियों को विषयों से उसी प्रकार खींच लेना चाहिए जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने खोल में खींच लेता है।"[३]

बाह्य विषयों से संपर्क में इंद्रिय माध्यम है। यह संयोग होने पर भोग, अनुभव आदि सम्पन्न होता है। गीता के अनुसार चूँकि विषय-सुख, भोग अंतिम नहीं है इसीलिए इस अन्तहीन भटकाव में न उलझकर, मन और इंद्रियों को विवेकपूर्वक संयमित या नियंत्रित रखा जाना चाहिए। इस अवधारणा में इंद्रियों या बाह्य विषयों का निषेध नहीं है वरन् उन्हें 'साध्य' न मानने का निर्देश है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि, "इंद्रियों से घृणा करना उतना ही गलत है, जितना उनसे प्रेम करना। इंद्रियों के घोडों को रथ में से खोलकर अलग नहीं कर देना है, अपितु मन की रासों द्वारा उन्हें वश में रखना है।"[४]

साधन संबंधी इस प्रक्रिया के संदर्भ में ओशो की मान्यता है कि जो कुछ नैसर्गिक या जैविक है, उसे रोका नहीं जा सकता है। व्यक्ति की

विषयसुख, भोग संबंधी इच्छाओं को न तो समाज के भय से, न शिक्षा व संस्कृति से और न ही बुद्धिगत सोच से नियंत्रित किया जा सकता है, यदि जबरदस्ती ऐसा किया जाता है तो उसे दमन कहते हैं। ओशो कहते हैं, ''अगर वह सब तुम्हारी खोपडी से बिल्कुल पोंछ दिया जाए, जो तुम्हें तुम्हारे समाज से, माँ-बाप से, शिक्षा और संस्कृति से मिला है तो भी कामवासना पैदा होगी क्योंकि यह वासना तुम्हें समाज से नहीं मिलती है, ये वासना जैविक रूप से तुममें *बिल्ट-इन* है।''[५] यह ऊर्जा है और जब दमन होता है तो इसका दुष्परिणाम समस्त जीवन-चक्र को खण्डित कर देता है तथा यह ऊर्जा अनेक नकारात्मक रूपों में फूट पडती है। इसीलिए इस ऊर्जा का दमन न होकर रूपान्तरण होना चाहिए। वे कहते हैं, ''छोडने की बात मत सोचो, छोडना नहीं, समझना है। त्याग नहीं, बोध...। जरूरत है इसके समग्रता को समझने की। अगर तुमने समग्रता से समझ लिया तो रूपान्तरण इसका परिणाम है।''[६] यही रूपान्तरण साध्य-प्राप्ति में सहायक है।

इस प्रकार गीता की मान्यता तथा ओशो की मान्यता में अंतर सिर्फ यह है कि गीता विवेकपूर्ण संयम पर बल देती है तथा भोगों के प्रति तटस्थ रहने को अनिवार्य बतलाती है जबकि ओशो नैसर्गिक रूपान्तरण को मानते हैं तथा भोग से गुजर कर, उसकी निःसारता के बोध को केन्द्रित करते हैं। इन दोनों मान्यताओं में साधन की दिशा व क्षेत्र अवश्य भिन्न-भिन्न हैं किन्तु दोनों में लक्ष्य, भोग से उठकर बुद्धिगत विवेक है। अतः यह अंतर गौण है फिर दोनों मान्यताओं में साध्य (मोक्ष) भी समान है।

गीता के मुख्य व्यावहारिक दार्शनिक विचार के संदर्भ में कहा जा सकता है कि एक अद्भुत विचारसरणी, जिसका परिणाम अर्जुन का युद्ध में प्रवृत्त होना इस दृष्टिकोण का प्रतीक है कि सारे समाधान, सभी प्राप्तव्य, इस द्वन्द्वमय भौतिक जगत् में उपस्थित हैं। प्रो. देवराज कहते हैं, ''अर्जुन के सामने समस्या थी कि वह अपने जीवन के क्रांतिकारी अवसर पर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कैसे करे। ...गीताकार ने इस प्रश्न को जीवन के चरम लक्ष्य के बडे संदर्भ में रखकर विचार किया, इस प्रकार गीता का ध्येय मोक्ष की साधना का निरूपण करना बन गया।''[७] हिरियन्ना कहते हैं कि, ''गीता पूर्णता की अवस्था में भी मनुष्य के लिए कर्म करते रहना

आवश्यक बताती है।''[८] इस प्रकार इस जगत् में कर्ममय जीवन के प्रति गीता का दृष्टिकोण व्यावहारिक, सकारात्मक तथा व्यक्ति को ओजस्वी व ऊर्जावान् बनाना है।

ओशो भी कहते हैं, ''मैं संन्यासी को संसार से जोडना चाहता हूँ। मैं ऐसे संन्यासी देखना चाहता हूँ जो दुकान पर बैठे हों, दफ्तर में काम भी कर रहे हों, खेत पर मेहनत भी कर रहे हों - जो जिंदगी की पूरी सघनता में खडे हों-हार नहीं गए हों। भगोडे न हों-एस्केपिस्ट न हों-पलायन न किया हो।''[९] यह सत्य भी है कि यदि दर्शन व्यावहारिक समस्याओं को नकार दे, उपेक्षा भाव रखे, उनके प्रति निषेधात्मक या निवृत्यात्मक दृष्टिकोण रखे तो इससे समस्याएँ समाप्त नहीं हो जातीं वरन् जीवन अव्यवस्थित और दुविधापूर्ण हो जाता है । फिर दार्शनिक सिद्धांत यदि व्यावहारिक नहीं हो सकते हैं तो वह मात्र बौद्धिक व्यायाम है। अतएव एक ऐसी विचारधारा या जीवन शैली अनिवार्य है जो व्यक्तिगत, सामाजिक समस्याओं में संग्रहीत होकर, उन्हें व्यवस्थित तथा हल करते हुए साध्य को लक्षित करे। ओशो कहते हैं कि, ''मैं तुम्हें अखंड दृष्टि देना चाहता हूँ जिसमें कुछ भी निषेध नहीं है। मैं तुम्हें विधायक धर्म देना चाहता हूँ।''[१०] इस प्रकार गीता तथा ओशो व्यावहारिक, प्रवृत्तिवादी, आशावादी चिंतन व जीवन के समर्थक हैं।

गीता की एक अन्य विशेषता समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। मजहबी, साम्प्रदायिक न होते हुए गीता अनेक विचारों, सिद्धांतों, व्यवहारों का संगम है। एक मनोवैज्ञानिक मान्यतानुसार सभी व्यक्तियों में समान रूप से उपस्थित अभिप्रेरक तत्त्व बुद्धि, भावना तथा आन्तरिक कर्म (संकल्प, चयन) होते हैं। इनमें किसी एक तत्त्व की अधिकता तथा अन्य की न्यूनता एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करती है इसीलिए अलग-अलग स्वभाव के व्यक्ति होते हैं। बुद्धिगत स्वभाव के व्यक्ति को भावनात्मक क्रियाएँ असंगत लगती हैं। भावाधिक्य स्वभाव के व्यक्ति के लिए बौद्धिक तथ्य, विवेचनाएँ नीरस व दुरूह होती है। इसी प्रकार कर्मशील या मेहनती स्वभाव के व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम संतुष्टोपादक तथा सृजन का माध्यम है। यदि व्यक्ति को उसके स्वभावानुकूल दिशा या क्षेत्र प्राप्त होता है तो संभवतः सरलतापूर्वक साध्य उपस्थित होता है। गीता की यह विशेषता है

कि इसमें सभी प्रकार के स्वभाव के व्यक्तियों के लिए साधन या मार्ग का वर्णन है। ज्ञानियों के लिए ज्ञानमार्ग, योगियों के लिए राज मार्ग, भावुक स्वभाव के व्यक्तियों हेतु भक्तिमार्ग व साधारण जन हेतु निष्काम कर्ममार्ग की अवधारणा है। गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें प्रत्येक स्वभाव के व्यक्ति के बंधन का मनोवैज्ञानिक निदान उपलब्ध है तथा गीता न तो किसी एक विशिष्ट विचारधारा को प्रस्तुत करती है न ही अन्य साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों का निषेध करती है। "उसका उपदेश किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं है, उसने अपना कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया किन्तु मनुष्य मात्र के लिए उसका निर्दिष्ट मार्ग खुला है। सब प्रकार की उपासना पद्धतियों के साथ उसकी सहानुभूति है।"[११]

ओशो की विचारधारा में भी यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है। वे अपने चिंतन को किसी विशेष साँचों में ढालने का प्रयास नहीं करते वरन् जो कुछ सहज व स्वाभाविक है, उसे ही प्रकट करना चाहते हैं। ओशो कहते हैं, "मैं किसी धर्म का नहीं हूँ अतः मेरे लिए कोई भय का कारण नहीं है। मेरा कोई दर्शनशास्त्र नहीं है।"[१२] सभी पंथों, सिद्धांतों आदि में केंन्द्रित सत्य को स्वीकार करते हुए ओशो प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुकूल मार्ग का चयन करने को कहते हैं। "अपनी नियति, अपने व्यक्तित्व, अपने सायकोलॉजिकल टाईप को ठीक से समझकर अपने अनुकूल साधना-पद्धति को चुन लेना चाहिए।"[१३] इसे ही वे दूसरे शब्दों में कहते हैं कि, "धर्म जन्म से नहीं तय होना चाहिए, धर्म का चुनाव किया जाना चाहिए।"[१४] इसीलिए ओशो ने परस्पर विरोधी विचारधाराओं पर भी बिना पक्षपात के सहजतापूर्वक अपने विचार प्रकट किए हैं। कृष्ण, बुद्ध, महावीर, अष्टावक्र, पंतजलि ही नहीं वरन् उपनिषद्, तंत्र, ताओ, झेन, सूफी दर्शन आदि पर भी उनके व्याख्यान हैं। कबीर, नानक, मीरा, सहजो, वाहिद, फरीद, आदि संतों की वाणियों को आधुनिक मनोविज्ञान से संदर्भित कर व्यावहारिक विवेचन के अलावा राजनीति, कला, शिक्षा, समाज, परिवार आदि पर भी उनका मौलिक चिंतन उपलब्ध है। ओशो ने भी अपने दर्शन को किन्हीं परिभाषाओं तक सीमित न रखकर सभी प्रकार के विचारों का उसमें समन्वय किया है।

इसमें कोई विवाद नहीं है कि २१वीं शताब्दी में दर्शन को स्थापित

व प्रमाणिक करने के लिए ध्यान-योग सर्वप्रमुख कारक या माध्यम है। ओशो भी कहते हैं कि, "अगर भविष्य में कभी किसी दुनिया में धर्म का विज्ञान स्थापित होगा तो इसकी आधारशिला योग बननेवाली है।"[१५] ध्यान योग एक प्रकार की आंतरिक सामन्जस्यता है। यह एक ऐसी विधि या प्रक्रिया है जिसमें आंतरिक ढाँचे को इस प्रकार संयोजित कर लिया जाता है जिससे व्यक्ति हर परिस्थिति में अविचलित रहता है तथा इस अविचलित अवस्था में आंतरिक ऊर्जा का क्षय न होकर समुचित प्रयोग होता है। गीता में योग से अभिप्राय मन इन्द्रियादि की पवित्रता व परम सत्ता की ओर अभिमुखता से है। श्री अरविन्द कहते हैं, "गीता के योग में कोई नियमबद्ध और शास्त्रीय श्रेणी-विभाग का विधान नहीं है, वह योग तो स्वाभाविक आत्मविकास की प्रक्रिया है।"[१६] योग की यही रामबाण महत्ता है कि वह किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक या दार्शनिक आदि मान्यताओं से आबद्ध न होते हुए एक ऐसी सार्वभौमिक अभिक्रिया है जिसका परिणाम प्रामाणिक तथा जिसे अपनानेवाला व्यक्ति निश्चयात्मक, एकाग्र और संतुलित हो जाता है। ओशो कहते हैं, "योग न तो आस्तिक है, न नास्तिक, योग एक सीधा विज्ञान है।"[१७] योग को आधुनिक मनोविज्ञान से जोडकर ओशो ने सामूहिक ध्यान पद्धतियों के अनेक रूपों में विकसित किया है। इसकी उपादेयता के संदर्भ में उनका मान्यतायुक्त कथन है कि, "ध्यान हमारी जिंदगी में उस डायमेंशन, उस आयाम की खोज है, जहाँ हम बिना प्रयोजन के, सिर्फ होने मात्र में, जस्ट बीइंग में आनंदित होते हैं।"[१८] इस प्रकार गीता तथा ओशो की उपर्युक्त कुछ मान्यताएँ व्यावहारिक तथा समान हैं।

इस तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होता है कि ओशो की मान्यताएँ परम्परामुख होने के बावजूद, सिर्फ साधन संबंधि नवीन दृष्टिकोण होने के कारण प्रतिष्ठित नहीं हैं, जबकि ओशो ने विज्ञान की नई खोजों, आधुनिक मनोविज्ञान आदि का उपयोग कर दर्शन का पुनर्विश्लेषण किया है। वर्तमान में मानव का जो समग्र रूप होना चाहिए, इसकी कल्पना ओशो ने की है वे उसे 'जोरबा द बुद्धा' कहते हैं। 'जोरबा द बुद्धा' ऐसा मानव है जो भौतिक जीवन का पूरा आनन्द मनाना जानता है और जो मौन होकर ध्यान में उतरने में सक्षम है । अर्थात् जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह से समृद्ध है। ओशो कहते भी हैं, "मैं भौतिकता और धर्म के बीच

समन्वय का सेतु बना रहा हूँ। मैं चाहता हूँ यह देश धनी भी हो, ध्यानी भी हो।''[११] इस प्रकार ओशो की मान्यताएँ वर्तमान, भविष्य हेतु एक उत्कृष्ट जीवनशैली है तथा ओशो इस सदी व अगली सदी के महान् विचारक व दार्शनिक है।

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र, **डा. हरनाम सिंह अलरेजा**
शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय,
राजनांदगाव (छत्तीसगढ)

टिप्पणियाँ

१. दार्शनिक त्रैमासिक - १९७५, पृ. १४०
(गोष्ठी - समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति - लेखक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय)
२. वही - पृ. १४०
३. **गीता**, २-६२-६३,५८
४. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, **भगवद्गीता**, सरस्वती विहार, दिल्ली, १९८२, पृ. १२०
५. ओशो, **तंत्रसूत्र**, भाग-२, रेबल पब्लिशिंग हाऊस, पुणे, पृ. १६
६. वही, पृ. ३५, संदर्भ - ओशो टाईम्स, अप्रेल, १९९८, पृ. २९
''मनुष्य जिन चीजों को दबा लेता है, उन्हीं के साथ बँध जाता है। उनको छोडकर हट नहीं सकता और कहीं जा नहीं सकता।''
''मैं कहता हूँ नाचो, गाओ, उत्सव मनाओ लेकिन नाचना, गाना, उत्सव मनाना गन्तव्य नहीं है, लक्ष्य नहीं है, साधन है, साध्य परमात्मा है।'' ओशो टाईम्स, अगस्त, १९९७, पृ. २१
७. देवराज, नन्द किशोर, **भारतीय दर्शन**, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९९५, पृ. ९७
८. हिरियन्ना, एम., **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९९७, पृ. १२८
९. ओशो टाईम्स, जनवरी, १९९७, पृ. १८
१०. ओशो टाईम्स, अगस्त, १९९७, पृ. २२
११. सर्वपल्ली, राधाकृष्णन, **भारतीय दर्शन**, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली,

१९९५, पृ. ४२६
१२. ओशो टाईम्स, नवम्पर, १९९९, पृ. ५५
१३. ओशो टाईम्स, सितम्बर, १९९९, पृ. ३३
१४. ओशो, **तंत्रसूत्र**, भाग-२ रेबल पब्लिशिंग हाऊस, पुणे, पृ. १५३
१५. ओशो टाईम्स, मार्च, १९९८, पृ. १३
१६. श्री अरविन्द, **गीता प्रबंध**, श्री अरविन्द सोसायटी पाण्डिचेरी, १९६९, पृ. १५
१७. ओशो टाईम्स, मार्च, १९९८, पृ. ३३
१८. ओशो टाईम्स, मई, १९९७, पृ. १५
ओशो टाईम्स, मार्च, १९९७, पृ. १५
''योग का पहला काम तो यह है कि उन नब्बे प्रतिशत शक्तियों में जे जो सोई पडी हैं, उन शक्तियों को जगाना, जिसके माध्यम से अन्तर्यात्रा हो सके।''
१९. ओशो टाईम्स, फरवरी, १९९७, पृ. ७
ओशो टाईम्स, अगस्त, १९९७, पृ. ६
''मैं, एक जागते हुए, जीते हुए, हँसते हुए, नाचते हुँए धर्म को पृथ्वी पर फैलता देखना चाहता हूँ। ...जो जीवन का त्यागी न हो, जो जीवन का निषेध न करता हो।''

वैज्ञानिक ज्ञान का बहुआयामी परिप्रेक्ष्य

हरेक ज्ञान-क्षेत्र की अपनी प्रविधि होती है । इस दृष्टिसे विज्ञान की भी अपनी प्रविधि है जिसके द्वारा वह ज्ञान की प्राप्ति करता है । विचार और तकनीक की दृष्टि से मानव इतिहास में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों का महत्त्व इसलिए है कि इन सदियों में विज्ञान का बहुमुखी विकास संभव हुआ जिसने किसी न किसी रूप में, समाज, प्रकृति, ब्रह्मांड, मानव और मानवेतर प्राणियों के रहस्यों और प्रक्रियाओं को एक तर्कसम्मत आधार दिया जो वस्तुतः प्रेक्षण, प्रयोग और साक्ष्यों के आधार पर निगमित होने के कारण 'वस्तुगत व्याख्या' की एक ऐसी प्रविधि का विकास हुआ जिसने कमोवेश रूप से ज्ञान के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया । यदि इस परिप्रेक्ष्य में विज्ञान के इतिहास को देखें तो हम विज्ञान के दो पक्षों का सापेक्ष स्वरूप प्राप्त करते हैं - एक उसका तकनीकी पक्ष और दूसरा उसका वैचारिक या चिंतन पक्ष । वैज्ञानिक ज्ञान के ये दो पक्ष हैं । बर्ट्रेंड रसेल ने तकनीकी पक्ष को 'शक्ति-मूल्य' की संज्ञा दी है जिसका प्रयोग नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार का हो सकता है । सामान्य रूप से हम इसी तकनीकी पक्ष को विज्ञान का पर्याय समझने लगे जबकि यह विज्ञान का मात्र एक पक्ष है, उसका अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका वैचारिक पक्ष है जिसे रसेल 'प्रेम-मूल्य' की संज्ञा देता है । यह पक्ष विज्ञान के सार्थक रूप को व्यक्त करता है क्योंकि इसके द्वारा हम प्रकृति, ब्रह्मांड, जीव, जगत् तथा मानव के संबंधों और रहस्यों को साक्ष्यों और प्रयोगों के आधार पर निगमित करते हैं । इस प्रकिया में तकनीकी पक्ष का प्रयोग ज्ञान के विकास के निमित्त किया जाता है । असल में, यह विज्ञान तकनीक का सकारात्मक प्रयोग है । इसके द्वारा हम नकारात्मक प्रयोग का समाना कर सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि सही विवेक-दृष्टि जो हमें विज्ञान द्वारा प्राप्त है, उसके माध्यम से आज हमारे सामने जो 'विविध संकट' हैं, उनका निदान भी 'मानवीय वैज्ञानिक दृष्टि' के द्वारा ही संभव है ।

महापंडित राहुल ने वैज्ञानिक ज्ञान को 'प्रयोगात्मक चिंतन' से जोड़ा है जो परोक्ष रूप से तकनीक (प्रयोग) और चिंतन का सापेक्ष रूप है। राहुल जी प्रयोग तथा प्रेक्षण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर किसी वस्तु की 'वस्तुवादी व्याख्या' को अर्थ देते हैं जो उनके सृजन और चिंतन का आधार है। ज्ञान का यह प्रयोगात्मक पक्ष जहाँ ज्ञानप्राप्ति का साधन है, इस साधन का न्यूनाधिक प्रयोग हमें अन्य ज्ञानक्षेत्रों (यथा पुरातत्त्व, मनोविज्ञान, इतिहास तथा समालोचना आदि) में भी मिलता है जो यह तथ्य प्रकट करता है कि वैज्ञानिक पद्धति मात्र विज्ञान के लिए ही उपयोगी नहीं है वरन् उसका प्रयोग एक बृहत्तर परिदृश्य को समक्ष रखना है जो परोक्षतः अंतःअनुशासनीय परिप्रेक्ष को भी संकेतित करता है। इस वैज्ञानिक पद्धति में वैज्ञानिक दृष्टि का समावेश रहता है जो प्रयोगाश्रित विवेक का फल है।

वैज्ञानिक ज्ञान मूलतः गत्यात्मक और द्वंद्वात्मक है। इस गति में पूर्व के सिद्धन्तों और संप्रत्ययों का महत्त्व रहता है क्योंकि इन्हीं के आधार पर ज्ञान का क्रमशः विकास होता है। यह अवश्य है कि इनमें से कुछ संप्रत्यय और सिद्धान्त उतने प्रासंगिक नहीं रह जाते हैं जो आगे के ज्ञान विकास को गति दे सकें, मगर इनका ऐतिहासिक महत्त्व रहता है। यह स्थिति कमोवेश रूप में सभी ज्ञानानुशासनों में प्राप्त होती है। विकास की यह प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है। इस प्रक्रिया के प्रकाश में विज्ञान में 'विश्लेषण' (एनालिसिस) की धारणा को समझना आवश्यक है। विज्ञान-चिंतन में विश्लेषण वह प्रक्रिया है जो 'पूर्ण' (होल) और 'अंश' (पार्ट्स) के संबंध को रेकांकित करती है। विज्ञान में 'पूर्ण' वह तत्त्व है जो 'अंशों' में विकसित हो सके। इसी का स्पष्टीकरण प्रो. इडिंगटन इस प्रकार करते हैं- "संसार के समस्त रूप-प्रकार, जो प्रेक्षणीय हैं, वह तत्त्वों के मध्य भिन्न संबंधों के द्वारा व्यक्त होते हैं।" (All the varieties in the world, that all is observable come from the variety of relations between them) दूसरे शब्दों में अंश, घटना, क्षण और व्यक्ति का महत्त्व इसमें है कि वे कहाँ तक 'पूर्णता' के व्यंजक हैं क्योंकि 'अंशों' का सहअस्तित्व 'पूर्णता' की सापेक्षता में व्यक्त होता है। असल में, विज्ञान इस 'अंश' या

क्षण आदि के द्वारा प्रकृति के सूक्ष्म स्तरों की ओर गतिशील होता है । इस आणविक युग में प्रत्येक 'क्षण' 'अनंतता' का द्योतक है। प्रकृति और ब्रह्मांड की उपआणविक स्थितियाँ इसी ओर संकेत करती हैं जो विज्ञान के हरेक क्षेत्र, चाहे वह गणित, भौतिकी, अंतरिक्ष विज्ञान या जीवशास्त्र हो - सभी में कमोवेश रूप से इस 'सूक्ष्म' की ओर गतिशील हैं । भौतिकी में इलेक्ट्रान, न्यूट्रान आदि, जीवशास्त्र में कोश, अतक (टिशू) तथा वाइरस आदि - ये जितने भी तत्त्व हैं, वे सूक्ष्म संरचना की ओर संकेत करते हैं । अतः, पदार्थ का इस सूक्ष्मीकरण की ओर संकेत इस बात का सबूत है कि प्रकृति और विश्व इन उपआणविक तत्त्वों के द्वारा अपनी संरचना को इंगित करते हैं ।

विज्ञान के स्वरूप तथा विकास में अनेक विज्ञानचिंतकों का मत है कि न्यूटन का गणित विज्ञान के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और आगे चलकर विज्ञान के विकास में ज्यामीति (ज्यूमेट्री) के साथ अंकगणित का ज़ो स्थान रहा है, वह एक ऐसा तत्त्व है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है । ए. एन. वाइटहेड का तो यहाँ तक मत है कि "गणित ने वह आधार प्रस्तुत किया जिसने 'कल्पनात्मक विचार' (इमैजिनेटिव थॉट) के द्वारा वैज्ञानिकों को प्रकृति के प्रेक्षण की ओर अग्रसर किया ।" गणित के क्षेत्र में अंकों और अक्षरों का प्रयोग विश्व की गणना और संरचना को इस तरह प्रस्तुत करता है कि विश्व का सारा परिदृश्य वृत्तों, रेखाओं और बिंदुओं का संसार ही हो जाता है । आइन्स्टाइन ने विश्व को वृत्तों तथा वक्र-सरल रेखाओं के द्वारा निर्मित माना है । गणित का शून्य अंक (जीरो) एक व्यापक धारणा है । ऋग्वेद में शून्य अंक के बारे में कहा गया है कि यह वह तत्त्व है जो ब्रह्मांड को गतिमान् करता है (वैदिक सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, प्रकाश परिमल, से)। यह शून्य अंक दर्शन, धर्म, साहित्य, विज्ञान तथा समाज में वृत्त, गोलक, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मांडीय अंडकोश (कास्मिक एग), चक्र (पहिया) आदि रूपों में अपने प्रतिकार्य को व्यक्त करता है । चक्र वह रूप है जो सभ्यता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में विकसित होता है । गोलक और वृत्त मिथकीय आद्यरूप (आरकिटाइप्स्) के अर्थ को व्यक्त करते हैं तथा ब्रह्मांडीय अंडकोश विज्ञान के क्षेत्र में सृष्टि के आदिरूप को संकेतित

करता है । इस प्रकार शून्य अंक गणित का अंक होते हुए भी भिन्न ज्ञान क्षेत्रों में अपने प्रतिकार्य के साथ प्रयुक्त होता है । शून्य अंक का यह एक व्यापक परिप्रेक्ष्य है ।

विज्ञान के व्यापक क्षेत्र में विचारों तथा अवधारणाओं का विस्फोट हुआ है और अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में भी । विज्ञान की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं यथा गणित, भौतिकी, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र तथा खगोल-विज्ञान आदि । अतः यहाँ पर मैं उन्हीं विचारों को लूँगा जो मेरी दृष्टि से विज्ञान के व्यापक परिदृश्य को संकेतिक कर सकें । इन संप्रत्ययों तथा विचारों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्य ज्ञान-क्षेत्रों को प्रभावित किया है । ऐसे विचार और संप्रत्यय हैं - विकासवाद, सापेक्षवाद, प्रमात्रा सिद्धान्त तथा खगोल-विज्ञान ।

विकासवादी विचारधारा में मानव और मानवेतर प्राणियों के क्रमिक विकास को दर्शाते हुए उनके मध्य एक 'सूत्र' को व्यक्त किया है । मानवनामधारी प्राणी को उसने विकास का उच्चतम रूप माना तथा किसी दैवी शक्ति के द्वारा उसके अवतरण को अस्वीकार किया जो धर्म की एक प्रमुख धारणा है, विशेषकर ईश्वरवादी धर्मों की । इस विकासवादी सिद्धान्त ने अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्राकृतिक निर्वाचन तथा योग्यतम की विजय या प्रभुत्व के तत्त्वों के द्वारा जीवजगत् के विकास को, द्वन्द्वात्मकता के द्वारा प्रदर्शित किया और इन्हें मानव प्राणी पर भी घटित किया । यहाँ पर यह तथ्य ध्यान में रखना जरूरी है कि योग्यतम और बलवान की विजय का नियम मानव पर पूरी तरह से लागू नहीं होता है । इसी के साथ इस विकासक्रम ने यह भी दिखाया कि जैसे जैसे विकास निम्न से उच्चतर प्राणियों की ओर अग्रसर होता है, वैसे वैसे 'संगठन की जटिलता' भी बढती जाती है और मानव में आकर यह जटिलता अपने चरम रूप में प्राप्त होती है । मस्तिष्क की संरचना, प्रजनन क्रिया की जटिलता, आगे के दो पैरों का हाथों के रूप में कार्यशील होना तथा मुख-विवर की जटिलता से ध्वनि और शब्दों का उच्चारण - ये कुछ ऐसी जीवशास्त्रीय विशेष्यताएँ हैं जो मानव को मानवेतर प्राणियों से अधिक विकसित और विशिष्ट बनाती हैं ।

ज्यूलियस हक्सले, हाल्डेन तथा डी. काम्ते ने मानव को इसी अर्थ

में विशिष्ट और दिव्य माना है जो विकास का परिणाम है न कि अनायास अवतरण ! डी. काम्ते ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टनी' में यह मत रखा है कि जहाँतक शारीरिक संगठन का प्रश्न है, अब मानव का विकास उस क्षेत्र में संभव नहीं है, लेकिन मानसिक स्तर पर वह विकास कर सकता है । यह भावी विकास का संकेत है । आज मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान तथा चेतना की उच्चतर अवस्थाओं का जो लगातार विकास हुआ है, वह एक तरह से मानव के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का फल है । मनोविश्लेषण तथा परामनोविज्ञान ने मानवीय चेतना और उसके रहस्यों तथा अभिवृत्तियों का जो वस्तुगत आधार (वैज्ञानिक पद्धति द्वारा) प्रदान किया है, वह मानवीय चेतना का द्वन्द्वात्मक रूप ही है । फ्रायड तथा युंग ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने मानवीय चेतना के स्तरों का जो उद्घाटन किया है, वह मूलतः वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही संभव हुआ है । विकास-क्रम में 'द्वन्द्वात्मकता' का विशेष स्थान है जो मार्क्सवादी-दर्शन का एक प्रमुख तत्त्व है । बौद्ध-दर्शन में द्वन्द्वात्मकता का एक रूप उनके 'प्रतीत्यसमुत्पाद' अवधारणा में प्राप्त होता है जो एक उत्पाद से दूसरे उत्पाद को उत्पन्न मानता है और गुणात्मक परिवर्तन को विकास का मूल ! द्वन्द्व-प्रक्रिया को ज्ञान के भिन्न क्षेत्रों जैसे इतिहास, दर्शन, साहित्य तथा विज्ञान आदि में भी स्थान प्राप्त है ।

विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्ष-दर्शन या सापेक्षतावाद का अपना वैचारिक महत्त्व है क्योंकि इस सिद्धांत ने ब्रह्म और जगत् की संरचना पर नए तथ्य समक्ष रखे हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि न्यूटन के समय तक दिक् और काल को निरपेक्ष तथा अनंत स्वीकार किया गया, पर आगे चलकर आइंस्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष तथा आबद्धहीन माना (अनबाउंडेड)। सारा ब्रह्मांड दिक्-काल के चतुर्मितीय सातत्य में (फोर डाइमन्शनल स्पेस टाइम कान्टिनुअम्) विद्यमान है। आइन्स्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष मानते हुए उसे "द्रष्टा" और गति-सापेक्ष माना। यहाँ वस्तुवादी दृष्टि के साथ व्यक्ति या द्रष्टा और उसकी गति को स्वीकार किया गया। यह विषयीगत दृष्टि (सब्जेक्टिब) का विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप है जो वस्तुगत दृष्टि की सापेक्षता में अपना महत्त्व रखता है। विज्ञान में अब यह भी मान्य हो गया है जब द्रष्टा किसी वस्तु का

प्रेक्षण करता है, तो वह उस वस्तु में 'क्षोभ' उत्पन्न करता है, अतः दृष्टा (उपकरण) का हस्तक्षेप किसी न किसी रूप में होता है। अतः दृष्टा और वस्तु का, मन और पदार्थ का तथा पदार्थ और ऊर्जा का - ये सभी युग्म सापेक्ष हैं। यह अवधारणा निरपेक्षवादी दर्शनों के प्रतिकूल पडती है।

विचारों के क्षेत्र में 'सापेक्षवाद' ने जो नयी भूमिका अदा की, वही भूमिका हाइजेनबर्ग के अनिश्चितता सिद्धांत ने प्रस्तुत की। उसके अनुसार भौतिक पदार्थ के दो पहलू सदा पाए जाते हैं, एक पहलू 'कण' (पार्टिकल) और दूसरा तरंग (वेव)। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक तत्त्व किसी समय 'कण' की तरह और दूसरे समय 'तरंग' की तरह कार्य करते हैं। प्रकाश (फोटान) तथा इलेक्ट्रान कणो में ये दोनों पहलू स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं।

प्लांक ने यह भी प्रदर्शित किया कि प्रकाश और भौतिक पदार्थ में कोई अंतर नहीं है। हाइजेनबर्ग के अनुसार किसी भी समय एक कण की यथार्थ स्थिति और वेग को एक साथ जानना असंभव है। अतः किसी कण की यथार्थ स्थिति और वेग को युगपत् रूप में ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। यह अवश्य होता है कि संभाव्य नियमों का प्रयोग करके वैज्ञानिक अनेक कणों के परिप्रेक्ष्य में "पूर्वकथन" कर सकते हैं अर्थात् सांख्यिकी नियमों के प्रयोग के द्वारा वह 'कण' के भविष्य के बारे में पूर्वकथन कर सकते हैं। अतः कण और तरंग का मापन ठीक एक समय नहीं हो सकता। उपआणविक तंत्र में इलेक्ट्रान की कक्षा निश्चित न होने के कारण उसकी स्थिति को निश्चित रूप से बताया नहीं जा सकता है। अनिश्चितता यह बताती है कि भौतिक पदार्थों में व्यवस्था नहीं है और यदि है तो वह भी सांख्यिकीय दृष्टिकोण से आरोपित की जा सकती है। अतः परिमित मापक्रम (फाइनाइट स्केल) के द्वारा ही भौतिक सत्ताओं में व्यवस्था प्रदर्शित की जा सकती है।

क्वांटम या प्रमात्रा भौतिकी में भौतिक सत्ताओं का सम्पूर्ण वस्तुपरक अर्थ-निर्णय नहीं किया जा सकता है। असल में इन क्वांटम ऊजाओं का स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हें पूरी तरह से मापना असंभव है। उसका दार्शनिक पक्ष यह है कि प्रकृति में "धुंधलापन" का रूप है और इस बिंदु

पर डाना जोहार (Danah Zohar) का कथन है कि 'प्रमात्रा-अनिश्चियवाद' दर्शन के केंद्रीय प्रश्न से सीधे टकराता है और वह है "यथार्थ का स्वरूप" जो संभाव्य का विषय है।

इससे एक अन्य तथ्य यह प्रकट होता है कि उपपरमाणविक सत्ताएँ कार्य-कारण के नियम को पूरी तरह से पालन नहीं करती हैं। अतः यहाँ पर कारणता का नियम (काजेशन) पूरी तरह से लागू नहीं होता। दूसरी ओर के. आर. पॉपर के अनुसार 'स्थूल वस्तुओं संबंधों में कार्य-कारण नियम भी कार्य करता है; अतः इन दोनों क्षेत्रों के बीच जो विरोधी भाव है, उसे दूर किया जाना कठीन कार्य है (पॉपर की पुस्तक "लाजिक आफ सइन्टिफिक डिस्कवरी" से) । मेरे विचार से हरेक नियम में अपवाद होते हैं जो एक वैज्ञानिक दृष्टि है, यही स्थिति यहाँ पर भी है।

प्रमात्रा सिद्धांत इलेक्ट्रान में प्रोटो-चेतना (आरंभिक रूप) के रूप को प्रस्तुंत करना है जो एक प्रकार की "सजगता" (अवेयरनेस) का रूप है। प्रत्येक इलेक्ट्रान संवेदनशील होता है और साथ ही उसकी तरंग-ऊर्जा में एक अव्यक्त अर्थ निहित रहता है जो सारी स्थिति में एक प्रेरक तत्त्व के रूप में विद्यमान रहता है। यह दशा चेतना के आरंभिक रूप को प्रकट करती है जो "सजगता" का रूप है। इसे स्वतंत्र इच्छा-शक्ति (फ्री विल) का आदिम रूप कह सकते हैं। इस प्रकार इस आदिम चेतना का क्रमिक विकास अजैव और जैव जगत् में होता है। यहाँ पर डायना जोहार का मत है कि यह तथ्य प्रकट करता है कि विश्व में एक मूल प्रकार का 'पदार्थ' से जिससे अजैव और जैव जगत् का क्रमशः विकास हुआ। इनमें से कुछ विकसित जीवन चेतना को प्रदर्शित करते हैं, और प्रमात्रा स्तर पर, उनमें एक "सृजनात्मक संवाद" पदार्थ और चेतना के मध्य होता है। मनुष्य में यह अजैव पदार्थ प्रत्येक सात वर्ष में परिवर्तित होता है। अतः पदार्थ और चेतना दोनों "मूल पदार्थ" के दो रूप हैं अर्थात् मानसिक और भौतिक का एक मूल स्रोत है और वे सापेक्ष संबंधित हैं।

"तरंग" और "कण" में भी यह सापेक्ष संबंध है जो भौतिक तत्त्व के दो स्तर या पहलू हैं। अतः वाइटडेड का कथन है कि मानसिक और भौतिक में कोई अंतर नहीं है, एक मूल वास्तविकता दोनों का आधार है-

स्रोत है। (''क्वांटम सेल्फ'', डाना जोहार से) अतः प्रमात्रा स्तर पर भी आरंभिक या प्रोटो चेतना का रूप प्राप्त होता है और इस प्रोटो-चेतना को अजैव और जैव जगत् से संबंधित कर यह तथ्य प्रकट होता है कि प्रोटो-चेतना का महत्त्व विकास-प्रक्रिया में भी है।

विज्ञान के क्षेत्र में प्रमात्रा सिद्धांत का अपना महत्त्व है, तो दूसरी ओर, खगोल विज्ञान में ब्रह्मांड की संरचना को लेकर नए तथ्य सामने आए है। खगोल वैज्ञानिक यह स्वीकार करने लगे हैं कि यह ब्रह्मांड कुछ आधारभूत सत्ताओं द्वारा बना है। उस दृष्टि से सारे विश्व की व्याख्या की जा सकती है। आइन्स्टाइन ने ''संगठन क्षेत्र-सिद्धांत'' (यूनीफाइड फील्ड थियोरी) के द्वारा यह सत्य प्रस्तुत किया कि ब्रह्मांड की सारी वस्तुएँ, घटनाएँ, और प्रक्रियाएँ यथा ग्रह, नक्षत्र, नीहारिकाएँ, भिन्न प्रकार की तरंगें किरणें आदि एक संगठित क्षेत्र के अंदर अवस्थित और क्रियाशील हैं। विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धांत ने यह तथ्य सामने रखा कि ब्रह्मांड का दिक् शून्य नहीं है, उसमें भौतिक सत्ताएँ क्रियाशील रहती हैं। ऐसे स्थलों को 'क्षेत्र' कहा गया। मैक्सवेल ने इस 'क्षेत्र' की व्याख्या इस तरह की कि इस क्षेत्र में विद्युतीय और चुम्बकीय क्षेत्रों का सम्पर्क होता है तथा ऊर्जा का सतत् भौतिक पदार्थ के साथ सम्पर्क होता है (जे. सी. मैक्सवेल की पुस्तक ''मैटर एण्ड मोशन'' से) आइन्स्टाइन ने अपने सापेक्षवादी सिद्धांत में ऊर्जा और पदार्थ का व्यापक प्रयोग किया और यह मत रखा कि ऊर्जा और पदार्थ में कोई मूलभूत अंतर नहीं है क्योंकि ऊर्जा पदार्थ में और पदार्थ ऊर्जा में रूपांतरित होते हैं। यह सृष्टि की सतत् प्रक्रिया है।

सृष्टि की संरचना को लेकर एक अन्य महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय प्रसरणशील ब्रह्मांड (एक्सपाडिंग यूनीवर्स) का है जो इस शताब्दी की (बीसवीं तथा इक्कीसवीं भी) एक महत्त्वपूर्ण घटना है। खगोल वैज्ञानिक इस तथ्य से परिचित थे कि निहारिकाएँ हमसे दूर जा रही हैं। दूर होते जाने का यह प्रेक्षण हमें ब्रह्मांड के इतिहास के बारे में जानकारी देता है। हमारी आकाशगंगा भी एक नीहारिका है और इसकी तुलना में भिन्न नीहारिकाएँ भिन्न गति से दूर भागती जा रही हैं। अधिक दूर नीहारिकाएँ २०,००० कि. मी. प्रति सेकेंड की गति से दूर होती जा रही है। हब्बल ने इन प्रेक्षणों

के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि इन नीहारिकाओं के दूर जाने की गति का मान हमारी दूरी पर निर्भर करता है। उस प्रकार, नीहकारिकाओं की दूरियाँ ज्ञात की जा सकती हैं। अतः प्रसरणशील ब्रह्मांड से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मांड का विस्तार समरूप से हो रहा है अर्थात् प्रेक्षकों की सापेक्षता में सभी नीहारिकाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं कि वे दूर जा रही हैं। ब्रह्मांड के प्रसरण से यह मतलब नहीं है कि नीहारिकाएँ और उनका समूह स्वयं फैल रहा है।

अब प्रश्न है कि ब्रह्मांड में सतत ऊर्जा का जो स्रोत है, वह कहाँ से आता है ? इसके लिए वैज्ञानिकों ने ''पृष्ठभूमि पदार्थ'' (बैकग्राउंड मैटैरियल) और 'अदृश्य पदार्थ' की संकल्पना की है। यह एक तात्त्विक संदर्भ है जो भौतिक तत्त्व के आधार पर निगमित किया गया है।

एक अन्य संकल्पना खगोल वैज्ञानिकों की यह है कि हमारा यह विश्व अपरिमित नहीं है, वरन् परिमित है। यह संभव है कि हमारे विश्व के अलावा और भी अनेक ब्रह्मांड 'दिक्' में हो। हमारा यह विश्व भौतिक पदार्थों से बना है, पर दूसरी ओर अन्य विश्व भौतिक तत्त्वों के विपरीत तत्त्वों से निर्मित हुए हैं। हमारे ब्रह्मांड को ''कॉसमास'' कहा जाता है और इस दूसरे ब्रह्मांड को ''एंटीकॉस्मास'' कहा जाता है। अतः खगोल वैज्ञानिकों का यह मानना है कि यह सारा विलोमी ब्रह्मांड भौतिक पदार्थों के विपरीत तत्त्वों से बना है। यह हमें तात्त्विक आशय की ओर ले जाता है जो यह प्रकट करता है कि विज्ञान भौतिक आधार के बल पर यदा कदा तात्त्विक आशयों की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान अपनी प्रविधि तथा संप्रत्ययों के द्वारा प्रकृति, ब्रह्मांड, मानव तथा मानवेतर प्राणियों के संबंध की तथा उनकी प्रक्रियाओं को जहाँ वस्तुगत आधार देता है, वही वह विषयीगत हस्तक्षेप को भी आवश्यकतानुसार मान्यता देता है। यह भी वैज्ञानिक प्रविधि की व्यापकता है कि यह अन्य ज्ञान-क्षेत्रों में प्रवेश कर अधिकतर ज्ञानानुशासनों की इस लालसा को व्यक्त करता है कि वे भी अपने को विज्ञान कहलाने की स्थिति तक पहुँचा सकें।

विज्ञान ने उपआणविक स्थिति में चेतना के प्रोटो या आदि रूप को

संकेतित कर, उसे अजैव व जैव जगत् से संबंधित किया है। अतः विज्ञान का यह वैचारिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है जिसके उचित निर्धारण की आवश्यकता है।

५ झ १५, जवाहरनगर,
जयपुर - ३०२००४

डा. वीरेन्द्रसिंह

पर्यावरण दर्शन : व्यावहारिक नीतिशास्त्र का एक नवीन विचार

पर्यावरण पर विश्व का ध्यान आकर्षित करने के लिए विश्व का प्रथम सम्मेलन ५ से १४ जून १९७२ ई. को स्वीडन के स्टॉकहोम में सम्पन्न हुआ। इसमें स्पष्ट कहा गया कि पर्यावरण प्रदूषण एक अंतर्राष्ट्रीय खतरा है। इसके संरक्षण के लिए सम्मिलित प्रयास किये जाने आवश्यक हैं। आचार्य तुसली का कथन है - ''कहने को यह कहा जाता है कि आज मानव ने बडा विकास किया है, पर जरा बारीकी से टटोलें, क्या वास्तव में ऐसा हुआ है ? क्या उसने अपने जीवन में सुख और शांति पाई है ? स्पष्ट झलकेगा, नहीं। उसका जीवन आज बुरी तरह प्रताडित और पीडित जैसा है। बहुत कुछ पाने पर भी खोया-खोया सा है।''[१] दिन प्रतिदिन मानव का मानव के प्रति सम्मान, विश्वास और प्यार कमसेकम तर होता जा रहा है। हम सबको इसका कारण खोजना होगा।

आज हमारी सम्पूर्ण सोच 'मैं' तक सीमित होकर रह गई है। 'मैं' और 'मेरा' के इस दुष्चक्र ने हमारे विवेक को जैसे कैद ही कर लिया है। हमारी 'स्व-केन्द्रित' जीवन-पद्धति ने हमारे समक्ष अनेकों समस्याओं का अम्बार लगा दिया है। भ्रष्टाचार, पर्यावरण-विनाश, दहेज, अशिक्षा इत्यादि समस्याओं के मूल में जाने पर हम पाते हैं कि हमारा मन ही प्रदूषित हो गया है। हमारा चिंतन, हमारी सोच, हमारे विचार जैसे सब ही प्रदूषित हो गये हैं।

हमारे दूषित चिंतन ने हमारे आचरण को, हमारे चरित्र को दूषित कर दिया है। इसी कारण हमारे 'अविवेकपूर्ण भोग' ने हमारे समक्ष पर्यावरण-विनाश का महासंकट खडा किया है। ''अब तो मूल सवाल अस्तित्व और विनाश का है। क्या हम एक पुंजाति के रूप में जिंदा रहना चाहते हैं या हमेशा-हमेशा के लिए सामूहिक मौत की ओर बढना चाहते

हैं ?''[२] इस भयावह परिस्थिति का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हमने अपना आदर्श पश्चिम के उद्योगप्रधान देशों को माना है। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए हमने उनकी पद्धतियों को अपनाया है।[३] भारत का तथाकथित शिक्षित, बुद्धिजीवी व अपने को प्रबुद्ध मानने वाला वर्ग सांस्कृतिक धारा से बहुत दूर चला गया है, पर आज भी सामान्य जन अपने युग-युग के संचित आदर्शों को जीवित रखे हुए हैं और इसीलिए भारत आज भी अजेय है।[४] आज सबसे समृद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका में इस भोगप्रधान सभ्यता ने बाह्य पर्यावरण को तो दूषित किया ही है, लोगों की कलात्मकता, सृजन का सुख, प्रदूषणमुक्त तकनीकी आदि को भी बुरी तरह प्रभावित किया है। परिवार टूट गये हैं, ५० प्रतिशत लोग विवाहोच्छेद से परेशान हैं, २५ प्रतिशत परिवारों में एक ही व्यक्ति है और प्रत्येक ६ में से १ व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से विक्षिप्त या मानसिक रोग से पीडित है।[५]

केवल बाहरी विकास ही वास्तव में सम्पूर्ण विकास नहीं है। इसीलिए गांधीजी ने बाह्य जगत् की खोज के साथ अंतःजगत् की खोज करने के लिए अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का विचार रखा था। उनके अनुसार अध्यात्म के बिना विज्ञान अंधा है, और विज्ञान के बिना अध्यात्म पंगु। आज की सभ्यता एकांगी है, इसीलिए वह शरीर-सुख में ही धन्यता को अपना आदर्श समझती है। शरीर-सुख की कभी तृप्ति नहीं हो सकती।[६] कहा गया है - 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।'

अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडम्।
करधृतकंपितशोभितदंडं तदपि मुंचति आशापिंडम्॥

भारतीय नीतिशास्त्र ने चित्तशुद्धि की अनिवार्यता दर्शाते हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि दुर्गुणों पर विजय पाने तथा अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, इन्द्रियसंयम आदि सद्गुणों के अभ्यास की शिक्षा दी गई है।[७] विचार और व्यवहार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि चित्त शुद्ध है तो निश्चित रूप से व्यक्ति का व्यवहार भी ठीक होगा।

भारत में नैतिक विचारणा के आधारभूत प्रश्नों का उत्तर दर्शन तथा धर्म देते आये हैं। नीति को धर्म से केवल स्वीकृति और अनुज्ञा ही नहीं अपने अस्तित्व का मौलिक आधार भी मिला है।[८] मनुष्य का जन्म बडी

कठिनाइयों के बाद, बडी तपस्या के बाद प्राप्त होता है इसका सदुपयोग किया जाना चाहिए। रामचरित मानस में कहा है -

बडे भाग मानुस तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥[१]

मनुष्य जीवन की गरिमा को स्थापित करते हुए, गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि मनुष्य जीवन बडे ही भाग्य से प्राप्त होता है, क्योंकि यही जीवन है जहाँ संकल्प की स्वतंत्रता है, अपनी स्वेच्छा से कर्मों के चुनाव करने के लिए मानव स्वतंत्र है। सत्कर्म करके व्यक्ति अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकता है। देवता अपने पूर्व के कर्मों के फल को ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु नवीन कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु मनुष्य अपने सत्कर्मों के द्वारा जैसा चाहे वैसा भविष्य निर्मित कर सकते हैं।

विभिन्न भारतीय दर्शनों में नैतिक मूल्यों के संवर्धन पर जोर दिया है, किंतु वर्तमान में हम इन मूल्यों से दूर जा रहे हैं। 'साधन-साध्य शुचिता' को हमने अपने जीवन से विस्मृत ही कर दिया है। आज परिणामवादी संस्कृति में प्रतिफल को ही अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। तथा मन, वचन व कर्म की एकता समाप्त हो गई है। वर्तमान में हमारी मन, वचन व कर्म की एकरूपता भंग हो गई है। हमारी सोच में, कुछ और घटित हो रहा है, हमारे वचनों में कुछ और ही है, और हमारे कर्म कुछ और। इस प्रकार मन, वचन और कर्म की दिशा परस्पर एक दूसरे से विपरीत हो गई है। जिसने हमारे विचार और आचार में अन्तर पैदा कर दिया है, जो कि आधुनिक भोगवादी समाज की मानसिक अशांति का मूल कारण बनता जा रहा है।

चित्र - १
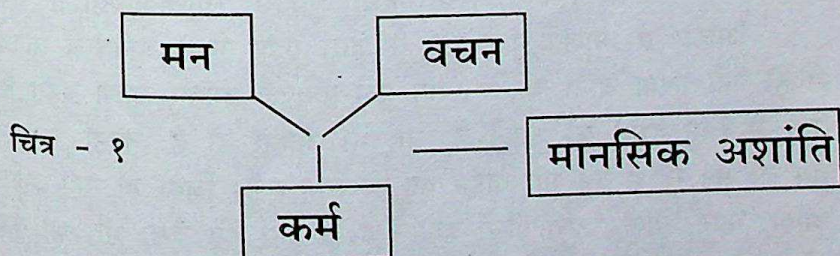
मन, वचन व कर्म के परस्पर विपरित होने से उत्पन्न अशांति का चित्रण

इसके विपरित पूर्वकाल में मनुष्य में मन, वचन व कर्म की एकरूपता कायम थी, जिसके कारण मानसिक शांति की अवस्था सहजता के साथ प्राप्त हो जाया करती थी। जिसे इस प्रकार दर्शित किया जा सकता है-

चित्र - २
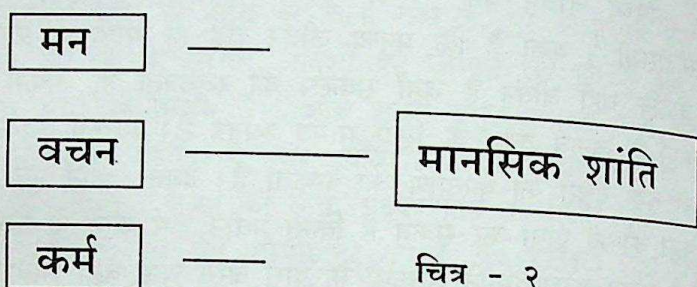
मन, वचन व कर्म एक दिशा में होने से उत्पन्न शांति का चित्रण

भारतीय मनीषियों ने मानव के सम्पूर्ण जीवन की सूक्ष्म विवेचना की है, किस प्रकार व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ बन सकता है उसकी विस्तृत शृंखला है। हमारे यहाँ कहा गया है 'जैसा अन्न वैसा मन', 'जैसा मन वैसा चिंतन', 'जैसा चिंतन वैसा विचार', 'जैसा विचार वैसा आचार', 'जैसा आचार वैसा कर्म', 'जैसा कर्म वैसा फल' और 'जैसा फल वैसा जीवन'। इस प्रकार हमारे चिंतन का संबंध हमारे आहार से भी है। कहा गया है आहार की शुद्धता से चित्त की भी शुद्धता हो जाती है। गीता में सात्त्विक आहार के बारे में कहा गया है-

आयुः सत्त्व बलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥[१०]

आहार से आशय मात्र मुख के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले पदार्थों से ही नहीं लिया जाना चाहिए। हम पल-प्रतिपल आहार ग्रहण करते हैं। नेत्रों से जिन दृश्यों को देखते हैं, वह भी आहार ही है, कानों के द्वारा हम जो सुन रहे हैं वह भी आहार का ही स्वरूप है। जिह्वा ही नहीं अपितु आँख, कान, नाक, स्पर्श पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम जैसा भी, जो कुछ भी ग्रहण करते हैं वह सभी आहार के रूप में हमें प्राप्त होता है। यहाँ

सद् आहार से आशय पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सात्त्विक आहार को ही ग्रहण करने से है।
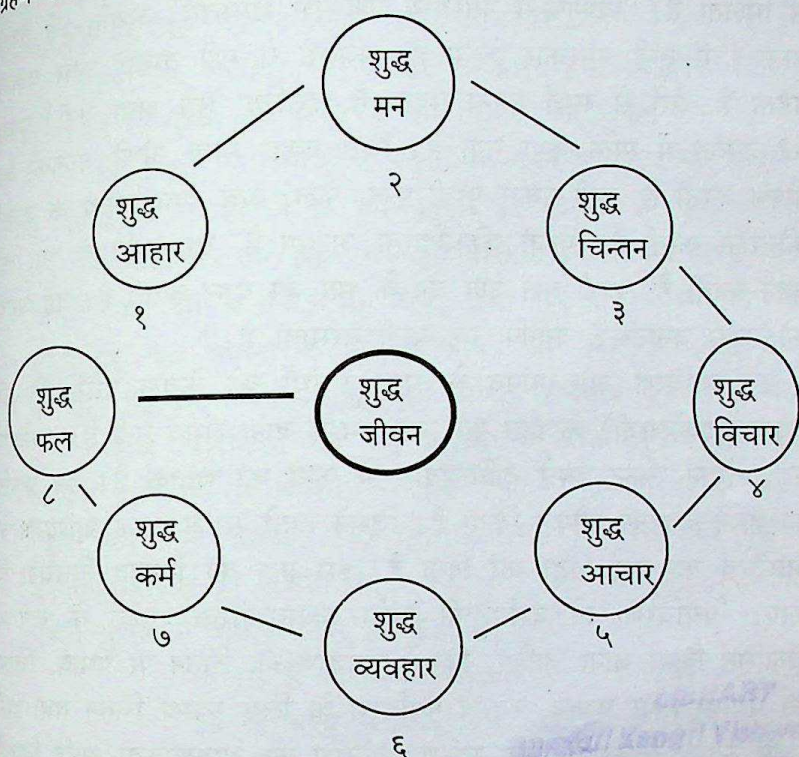
चित्र - ३ शुद्ध व सात्त्विक आहार का जीव पर प्रभाव

आज आवश्यकता राजसी और तामसी प्रवृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली भोगवादी सभ्यता के जीवनमूल्यों को ध्वस्त कर, उनके स्थान पर सात्त्विक प्रवृत्तियों पर आधारित जीवनमूल्यों की स्थापना करने की है। पूरी दुनिया में चलने वाली भोगवादी की आँधी के बीच हमारे लिए आशा की किरण हमारी संस्कृति है, जिसका आधार प्रकृति के साथ प्रेम-मूलक संबंधों की स्थापना, और सादगी व संयम की प्रतिष्ठा है।[११]

२१वीं सदी भयंकर जल संकट लेकर आ रही है। प्रति व्यक्ति जल की उपलब्धि भारत में सन १९०१ के मुकाबले २००१ में केवल १४ प्रतिशत ही रह जायेगी।[१२] यह कैसी विडंबना है कि जीवन देने वाला जल

ही प्रदूषण के कारण आज मौत का कारण बनता जा रहा है।

धरती के प्रति मनुष्य का व्यवहार कैसा हो इसका संकेत इस प्रार्थना से मिलता है। 'विष्णुपत्नीं नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्वमे' अर्थात्- हे धरती माता ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मजबूरी से मुझे तुम्हारे ऊपर चलना पडता है, पैरों से स्पर्श करना पडता है, इसलिए मुझे क्षमा करो। पृथ्वी को ऋग्वेद में माता कहा गया है। जिस प्रकार माता अपने बालकों का पोषण करती है, उसी प्रकार पृथ्वी फल, फूल, अन्न देकर मनुष्य के जीवन की रक्षा करती है। पृथ्वी की उदारता अनुपम है, वह पर्वत के भार को वहन करती है, पृथ्वी वृक्ष और वन के भार को वहन करती है। वह धरती को उर्वरा बनाती है क्योंकि वह पानी बरसाती है।[१३]

पर्यावरण और मानव के मध्य संबंधों को केवल परिस्थिति की विज्ञान (इकोलाजी) के द्वारा पूरी तरह समझा जाना संभव नहीं है। पर्यावरण का वर्तमान संकट हमारे दायित्वबोध में कमी का द्योतक है। इस प्रकृति का हमने बेतहाश शोषण किया है। जिसने हमारे समक्ष आज प्राणिमात्र के अस्तित्व का प्रश्न खडा कर दिया है। इस प्रश्न की विस्तृत विवेचना के लिए, 'पर्यावरण को दर्शन की पूर्णतः व्यावहारिक शाखा के रूप में विकसित किया जाना चाहिए, जिसमें पर्यावरण का चिंतन पर प्रभाव, चिंतन का पर्यावरण पर प्रभाव, स्वस्थ पर्यावरण के लिए स्वस्थ चिंतन तथा इसी प्रकार स्वस्थ चिंतन के लिए स्वस्थ पर्यावरण की आवश्यकता आदि विषयों के साथ ही विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, पारिवारिक पर्यावरणों का विस्तृत अध्ययन किया जाना समय की आवश्यकता है। वर्तमान में पर्यावरण के नाम पर हम केवल भौतिक पर्यावरण (जैसे वायु, जल, ध्वनि, मृदा आदि) का ही अध्ययन करते हैं जबकि इसका अध्ययन और गहराई से किये जाने की आवश्यकता है। गीता में कहा गया है-

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगे भवति दुःखहा।।[१४]

पर्यावरण के संकट की समस्या का निदान वास्तव में नैतिक मूल्यों के पुनर्बोध से ही संभव है। नैतिक दायित्वों के निर्वहन के लिए हमें-

१. मन, वचन और कर्म की एकरूपता पुनःस्थपित करनी होगी तभी मानसिक शांति प्राप्त हो सकती है।

२. 'साधन-साध्य-शुद्धता' की महत्ता की पुनर्स्थापना जरूरी है।

३. 'प्रेम', 'सौहार्द', परस्पर सम्मान और परस्पर विश्वास के भावों का विकास और पल्लवन किया जाना आवश्यक है।

उपरोक्त सुझावों पर अमल के द्वारा हम पर्यावरण विनाश के महासंकट से मुक्ति की दिशा में ठोस प्रयास कर सकते हैं।

हम प्रकृति का हिस्सा हैं प्रकृति से अपने को काट कर केवल 'स्व' के मंगल की कामना ने ही हमें प्रकृति का विरोधी ही नहीं अपितु घोर शत्रु बना दिया है। हमें इस 'स्व' को विस्तारित करना है। इतना विस्तारित जिसमें 'पर' भी समाहित हो जाये, तभी हम सच्चे अर्थों में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के अनुरूप जीवन जी सकते हैं। इसी में प्रकृति का हित है, इसी में मानव ही नहीं अपितु जीवमात्र का हित निहित है।

आज दार्शनिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि पर्यावरण पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए 'पर्यावरण-दर्शन' को अपने चिंतन का केन्द्र बनाएँ, तभी वर्तमान समय में दर्शन की व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

दुष्यंत कुमार ने शायद ठीक ही कहा है-

हो गई है पीर पर्वत सी, पिघलनी चाहिए।
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।
सिर्फ हंगामा खडा करना मेरा मकसद नहीं।
मेरी कोशिश है, कि ये सूरत बदलनी चाहिए॥

हेमन्त नामदेव

दर्शनशास्त्र विभाग
माधव महाविद्यालय,
उज्जैन

टिप्पणियाँ

१. आचार्य तुलसी, **संभल सयाने**, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९९२, पृ. १४७

२. सुन्दरलाल बहुगुणा, **धरती की पुकार**, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९६, पृ. १०१

३. वही, पृ. ८६

४. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष ३५ अंक १-४ जनवरी-दिसम्बर, १९८९
५. रामजीसिंह, गांधी विचार, मानक पब्लिकेशन प्रा. लि., दिल्ली १९९५, पृ. ३७
६. वही, पृ. ३७
७. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष ३५ अंक १-४ जनवरी-दिसम्बर १९८९, पृ. ८१
८. डॉ. राजबली पाण्डेय, **भारतीय नीति का विकास**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६५, पृ. ६
९. **रामचरित मानस**, ७/४३/७-८
१०. **श्रीमद् भगवद्गीता**, अध्याय १७ श्लोक ८
११. सुन्दरलाल बहुगुणा, **धरती की पुकार**, पृ. ५३
१२. वही, पृ. ५४
१३. हरीन्द्रप्रसाद सिन्हा, **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९९९, पृ. ४७
१४. **श्रीमद् भगवद्गीता**, अध्याय ६, श्लोक १७

अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या

अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या भाषा और अर्थ सम्बन्धी विचारों से गहरे रूप से जुडी है। अतः इसपर विचार करने के पूर्व भाषा तथा अर्थ के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय देना विषय को समझने की दृष्टि से आवश्यक है।

भाषा पर दो तरह से विचार किया जाता है। पहले के अनुसार भाषा वह है जिसे हम अर्थ संकेतन के लिए बोलते या लिखते हैं। यह अर्थ से पृथक् मानी गयी है तथा अर्थ को भाषा से परे किन्तु भाषा से संकेत्य या व्यंग्य माना गया है। यह विचार भाषा और अर्थ के द्वैत के विचार को बलवती बनाती है। भाषा अर्थ की प्रतिनिधि है और मनोस्तर पर अर्थ के आभास को अभिव्यक्त करती है। भाषा और अर्थ सम्बन्धी इस तरह के विचारों को यथार्थवादी/वस्तुवादी तथा ऐसे विज्ञानवादी भी मान्यता देते हैं जो यथार्थ को पर एवं भाषा से निरपेक्ष किन्तु व्यंग्य स्वीकार करते हैं। ये विचारक भाषा को अर्थ का प्रतिनिधि मानते हैं। दूसरे के अनुसार भाषा बोलने और सुनने की प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं है। यह बोधरूप है। बोध या विचार रूप भाषा आन्तर्प्रदत्त है और बोलियों/लिपियों के द्वारा यह अभिव्यक्त होती है। ज्ञान के लिए अभिव्यक्ति ही पर्याप्त नहीं होती। ध्वनियों/लिपियों से अभिव्यक्त होने पर यह आन्तस् भाषा पहले अपने स्वरूप (विचार-रूपता) को प्रकाशित करती है और तब अभिन्न रूप से उसके अर्थ का प्रकाश भी उसी से होता है। यह परिभाषा भाषा और अर्थ की अभिन्नता की अवधारणा पर अवलम्बित है। इस परिभाषा के अनुसार चूँकि समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है अतः भाषा से स्वतंत्र अर्थ, ज्ञान का विषय न होने से, दार्शनिक चिंतन का विषय नहीं बनता। भारतीय चिंतन में इस सिद्धांत को प्रतिपादित करनेवाले दार्शनिक भर्तृहरि हैं।[१]

इस परिचर्चा में हमने पूर्व पक्ष के रूप में बी. के. मतिलाल तथा

यशदेव शल्य के विचारों को रखा है। मेरी मान्यता है कि उनके भाषा एवं अर्थ सम्बन्धी विचार, एतद् सम्बन्धी यथार्थवादियों एवं विज्ञानवादियों के विचारों का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ पर मैं उनके भाषा और अर्थ सम्बन्धी विचारों का उल्लेख मात्र उतने ही संदर्भ में कर रहा हूँ जितने से अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या पर अपनी बात को समझाने में मुझे असुविधा न हो सके।

बी. के. मतिलाल ने अपनी पुस्तक *'दी वर्ड एण्ड दी वर्ल्ड'* में जैक्स डेरिडा का उद्धरण देते हुए लिखा है - 'Language is often uncritically thought to be a vehicle of thought or meaning. And from this flows the pervasive idea that in a multilingual world, the same thought is or can be conveyed by different expressions which are distinguishable parts of different languages. It is probably what a modern philosopher, Jacques Derrida, would call the metaphysician's age-old desire to search for a transcendental signified, that is a concept independent of language, that forces upon us the duality and opposition of the signifier and the signified.[2]

मतिलाल ने अर्थ को भाषा से निरपेक्ष पर अर्थ मानते हुए वाचक तथा वाच्य के द्वैत को दर्शाया है और यह बताया है कि पर-अर्थ विभिन्न भाषीय अभिव्यक्तियों, अनुवादों का स्थिर विषय है, यद्यपि अनुवादों का वाच्य पर अर्थ से भिन्न होता है। वे लिखते हैं- The duality that is foisted upon us has generated the platitude that *pure signified* is what remains constant between different translations, just as in a change of currency the value of the money is supposed to remain intact.[3]

मतिलाल ने यह दिखलाया है कि चूँकि अनुवादों के स्थिर विषय के रूप में वाचक-वाच्य के द्वैत या वाचक से परे पर-वाच्य या अर्थ की अवधारणा अनुवादों की आवश्यक शर्त होती है और यह शर्त वाचक-वाच्य में अभेद माननेवाले सिद्धान्तों में संभव नहीं है अतः मूल विचार

का एक भाषा से दूसरी भाषाओं में परिर्वतन (transfer) रूप अनुवाद सम्भव नहीं है। The very idea that meaning, thought or 'what is real', is isolatable from the speech or text seems repugnant to Bharirhari's holistic conception of laguage. Hence the so called translation, in the sense of transfer of thought from one garb to another, seems impossible in the theory.[4]

यशदेव शल्य के भाषा एवं अर्थ सम्बन्धी अवधारणाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भाषा को सार्थक ध्वनि तथा अर्थों को भाषा से स्वतंत्र किन्तु भाषा से व्यंग्य मानते हैं। वे यथार्थ, पदार्थ एवं वस्त्वर्थ का भेद करते हैं। उनके अनुसार पदार्थ एवं वाक्यरूपेण रचित अर्थ पर-अर्थ के व्यंजक होते हैं और वस्त्वर्थ प्रत्यक्ष के द्वारा जाने जाते हैं। वे यथार्थ को विज्ञान या आदर्शलोक में निगूढ मानते हैं। उनके अनुसार यथार्थ का मानसिक स्तर पर आभास ही विभिन्न रूपों में अनुवाद का विषय होता है। मूल और अनुवाद के बीच मौलिक अंतर को स्वीकार करते हुए किन्हीं दो भाषाओं के सरल वाक्यों के सम्यक् अनुवाद की सम्भावना को भी शल्यजी नकारते हैं, यद्यपि उनका सापेक्षिक अनुवाद सम्भव मानते हैं। उनके अनुसार सापेक्षिक अनुवाद तब सम्भव है जब १) अनुवाद की भाषा की रचनावली एवं अर्थ रचना की व्यवस्था शब्द, शब्द रूपों एवं वाक्य रचनाओं का अत्यन्त अन्तर न हो, २) भाषीय परिवारों की परस्पर निकटता तथा दूरी के भेद के आधार पर सापेक्षिक अनुवाद सम्भव हो सकता है, सम्यक् नहीं, एवं ३) मूल की वस्तुस्थिति या शब्दार्थ की अतिक्रमिता के स्तर पर या अतिभाषा के स्तर पर आरूढ होने की स्थिति में अनुवाद की सम्भावना बनती है।[५]

भाषा से पर या अतिक्रामी पर-अर्थ जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है उसे जैक्स डेरिडा ने विलम्बित एवं अनुपस्थित बताकर उसपर आधारित विचारों को अव्यवस्थित करने का प्रयास किया है।[६] रिकर ने इसे मृगमरीचिका या भ्रम कहा है। उनके अनुसार अर्थ के विचार को हम भाषा में ही सोच सकते हैं।[७] किन्तु उनके आलोचनामूलक प्रयासों से अनुवाद एवं विश्लेषण की समस्या के समाधान के लिए कोई मौलिक सोच सामने

नहीं आ पाती। प्रस्तुत निबंध में मैंने वाचक-वाच्य की अभिन्नता के विचार से यह दिखाने का प्रयास किया है कि अनुवाद और विश्लेषण की समस्या का समुचित समाधान तो इस विचार से होता ही है, डेरिया आदि द्वारा अपनाए 'डिकन्स्ट्रक्सन अस्त्र' भी वाचक-वाच्य के इस बोधरूप अवधारणा पर असरहीन हो जाता है।

प्रथम सिद्धान्त में अनुवाद की समस्या के समाधान के लिए एक पर-अर्थ की अवधारणा को मान्यता दी जाती है। पर-अर्थ विभिन्न भाषाओं में होनेवाले सभी अनुवादों में स्थिर विषय है। भाषा निरपेक्ष इस शुद्ध या पर-अर्थ की मान्यता को भाषा के प्रति तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण रखने वाले भारतीय एवं पाश्चात्य भाषा-दार्शनिक स्वीकार करते हैं। भाषा के प्रति तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य यह बतलाना है कि ऐसे दृष्टिकोण में भाषा को अर्थ का प्रतिनिधि (Reprsentative), संकेतक (Mark) या व्यंजक माना जाता है और अर्थ की शुद्धता या भाषा से परे अर्थ के विचार को प्रभावशाली माना जाता है। अनुवाद-वाक्यों के अर्थों से मूल-अर्थ को पर माना जाता है। अर्थ 'पर' इस अर्थ में भी है कि अनुवाद की भाषा से पृथक् और उसके अर्थ से स्वतंत्र है यद्यपि सभी अनुवादों का स्थिर विषय है। दूसरे सिद्धान्त में चूँकि भाषा और अर्थ को अभिन्न माना गया है तथा पर-अर्थ को मान्यता नहीं दी गई है, अतः यह दिखाया जाता है कि यहाँ अनुवाद के आधारभूत पर-अर्थ की मान्यता के अभाव में अनुवाद की सम्भावना नहीं बनती। पर-अर्थ की अवधारणा अनुवाद की आवश्यक शर्त है। दूसरे सिद्धान्त में इस शर्त की कसौटी से अनुवाद अथवा एक भाषा से दूसरी भाषा में अर्थ के रूपान्तरण की असम्भाव्यता दिखायी जाती है। किन्तु गहराई से विचार करने पर पर-अर्थ की शर्त स्वयं प्रथम सिद्धान्त में भी अनुवाद की सम्भावना को क्षीण करती है क्योंकि पर-अर्थ को अनुवाद की भाषा और अर्थ से पृथक् मानने पर वह अनुवाद में आएगा कैसे ? यदि वह अनुवाद की अभिव्यक्तियों की स्थिर विषयवस्तु है तो अनुवाद की भी विषयवस्तु होगी अन्यथा अनुवाद की भाषा और अर्थ से पृथक् यह पर-अर्थ अनुवाद की भाषा का विषय नहीं हो सकता। पृथक् या पर-अर्थ की स्थिति में अनुवाद सम्भव नहीं है और अनुवाद मानने पर अर्थ 'पर' नहीं होगा। दूसरे सिद्धान्त में मूल और अनुदित का

'विषय' नहीं बदलता; केवल उसको व्यक्त करनेवाली ध्वनियाँ/लिपियाँ बदलती हैं। इस सिद्धान्त में मूल और उसके अनुवादों को व्यक्त करनेवाले वाक्यों से होने वाला ज्ञान नया होता है, यद्यपि उनका विषय एक ही होता है। इस सिद्धान्त में ज्ञान और ज्ञान के विषय में अंतर किया जाता है।[८] ज्ञान, ज्ञान के विषय का ज्ञान होता है और उसी विषय का ज्ञान होता है और उसी विषय को व्यक्त करनेवाले हर भाषीय प्रत्यय में स्वयं ज्ञान अथवा यूँ कहें विषय की स्वचेतना की चेतना नयी होती है। उनका ज्ञान भिन्न होता है, विषय को व्यक्त करनेवाली अभिव्यंजक ध्वनियाँ या लिपियाँ नई होती हैं, भिन्न होती हैं परंतु उनका विषय वही होता है। चूँकि इस ज्ञान के विषय को दूसरे सिद्धान्त में सामान्य या जाति माना गया है, अतः अनेक समुदायों में प्रचलित ध्वनियों/लिपियों द्वारा यही व्यक्त होता है और व्यक्त होने पर इसका प्रकाश या ज्ञान होता है। इस स्थिति में यह जाति विभिन्न ध्वनि/लिप्यनुबद्ध भाषा से अभिव्यक्त होने से उनका स्थिर विषय है और लिप्यन्तर, ध्वन्यन्तर से इसमें भेद नहीं होता। विभिन्न समुदायों में इस जाति प्रत्यय को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न लिपियों का प्रयोग परम्परा से होता है। अतः लिप्यन्तर से विषयान्तर का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। भिन्न-भिन्न लिपियों में इसके प्रत्यायित होने की चेतना को ही ज्ञान कहते हैं। अतः मूलार्थ का लिप्यन्तर या अनुवाद भी मूलार्थ को ही प्रकाशित करता है। वाक्य से भी जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नया और मौलिक ही होता है। मूल लिपि से भिन्न लिपि में होने से या लिप्यन्तर विशेष से उसी अर्थ (मूल्य) को व्यक्त करने को अनुवाद कहा जाता है। विषय चाहे भाषा हो या अन्य अर्थ, यहाँ ध्यान रखने की बात है कि भाषा-विश्लेषण अथवा किसी भी प्रकार के ज्ञान में भाषा (आन्तस्-भाषा) और उससे अभिन्न रूप में प्रकाशित उसका अर्थ भी विषय बनता है। दोनों का स्पष्ट अभिन्न प्रकाश होने पर मूल का प्रकाश हो सकता है, और उसी रूप से अनुवाद में भी प्रक्रिया चलती है। अतः मूल तथा अनुवाद दोनों में ज्ञान नया होता है क्योंकि हर क्षण का ज्ञान नया ज्ञान होता है। लिप्यन्तर या ध्वन्यन्तर होता है, किन्तु मूलानुवाद में विषय वही रहता है जो मूल का विषय होता है।[९]

मूल वाक्य और उसका वाक्यार्थ वाचक-वाच्य सम्बन्ध से संबंधित

होते हैं और अनुवाद भी उसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं। यह कहना सर्वथा ज्ञान की वास्तविकता से मुँह मोडना है कि अनुवाद वाक्य में वाचक-वाच्य सम्बन्ध नहीं होता अथवा इसका वाचक-वाच्य तथा दोनों में सम्बन्ध मूल से भिन्न होता है क्योंकि वे ही वाचक-वाच्य दोनों तरह के वाक्यों के स्थिर विषय होते हैं। भिन्न केवल ध्वनियाँ/लिपियाँ होती हैं और ध्वनियों/लिपियों की भिन्नता से न तो वाचक भिन्न होता है और न वाच्य। वाचक और वाच्य दोनों आन्तस्-प्रत्यय या विचार रूप होते हैं। जिसमें पहला दूसरे का अभिन्न प्रकाश माना जाता है। इन्हें भिन्न मानने पर भाषा अर्थ की प्रकाशक न होकर संकेतक होगी और संकेतकों के भेद से संकेत्यों का भेद होगा। भाषा से पर होने से संकेत्य अनुवाद्य नहीं और अर्थ से स्वतंत्र भाषा का अनुवाद सम्भव नहीं होगा। पुनः सभी भाषीय समुदाओं में व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त संकेतकों की विलक्षणता उनके अनुवाद्य होने की सम्भावना को क्षीण करती है। दूसरी स्थिति में भाषा वाचक, आन्तरिक, सर्वगत, अखण्ड है। ध्वनियों/लिपियों द्वारा अभिव्यक्त होने पर इसका प्रकाश होता है। इसके प्रकाशित होने पर इससे अभिन्न रूप से इसके अर्थ का प्रकाशन होता है। चूँकि यह प्रकाश है और प्रकाशरूपता ध्वनियों/लिपियों का न गुण है, न स्वरूप अतः ज्ञान के विषय का प्रकाशन वाचक शब्द के बिना नहीं हो सकता। भर्तृहरि ने वाचक-वाच्य को ध्वनियों/लिपियों तथा जिसके ये व्यवहारतः संकेतक होते हैं उनसे भिन्न माना जाता है। उनका सिद्धान्त भाषा के प्रतिनिधि सिद्धान्त, संकेतक सिद्धान्त से भिन्न भाषा को प्रकाशक मानता है। संकेतक या प्रतिनिधिरूप लिपियों के भिन्न होने से भी अनुवाद का वाचक-वाच्य नहीं बदलता अर्थात् यह वहीं रहता है जो मूल का। चूँकि इस वाचक-वाक्य की अभिव्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न लिपियों की प्रसिद्धि है, अतः अनुवाद लिप्यन्तर में मूल वाचक-वाच्य का प्रकाशन है- ऐसा मानने पर अर्थ (वाच्य) को शब्द (वाचक) से स्वतंत्र पर-अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं होती और अर्थ की व्याख्या भी हो जाती है। यह अनुवाद भी चाहे मूल का भाषान्तर हो, भावार्थ हो, या किसी दार्शनिक के ग्रन्थों के बार-बार पढने पर उसके अर्थ का भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण रूप अनुवाद हो, भांषानुविद्ध ही अभिव्यक्ति होती है।[१०]

प्रश्न है ग्रहण अर्थ का होता है अथवा भाषा का अथवा दोनों का। अर्थ का ग्रहण भाषा से ही होगा, भाषा से स्वतंत्र नहीं। अगर अर्थ भाषा से स्वतंत्र होगा तो भाषा से अभिव्यक्त नहीं होगा। भाषा निरपेक्ष मूल अर्थ या पर-अर्थ अनुवाद का विषय भाषा के माध्यम से ही बन सकता है। अनुवाद में मूल की भाषा और अर्थ दोनों अनुवाद की भाषा और अर्थ से स्वतंत्र होते हैं - ऐसा मानने पर मूल की सक्रियता/जीवन्तता अनुवाद के लिए अनावश्यक होगी और तब अनुवाद केवल स्मृति पर आधारित कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। अनुवाद को भी जब हम ग्रहण करते हैं तो हमारे सामने वही मूल होता है किन्तु पूर्व मत से उसका ग्रहण भी एक अनुवाद होगा अर्थात् हम अनुवाद का अनुवाद जानते हैं। ऐसी स्थिति में अनुवाद में अन्तर होगा, मूल और अनुवाद में नहीं। इस तरह मूल हमारी पकड से बाहर की चीज होती है। वह शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की तरह है जिसे प्रत्येक प्रयास में बुद्धि सगुण रूप में ही जान सकती है और निर्गुण को जानने के लिए सगुण से ऊपर उठना, सगुण-दृष्टि का अत्यन्त परिहार आवश्यक होता है। वस्तुतः निर्गुण सगुण नहीं होता। ऐसी स्थिति में सारे अनुवादों की निराधारता सिद्ध होगी, उनका अनौचित्य सिद्ध हो जाएगा। मूल हमारी पहुँच से परे हो जाएगा। यदि अर्थ भाषा से निरपेक्ष पर-अर्थ हो तो भाषा की पकड में हर बार या तो नया होगा या अनुवाद (मूल की भाषा में भी), ऐसी स्थिति में अनुवाद और मूल का अन्तर कैसे होगा ? यदि मूल को अनुवाद से स्वतंत्र माने तो अनुवाद मूल की स्मृतिमात्र होगा। स्मृति को सिद्ध करने का प्रसंग होगा। क्या अनुवादकर्ता केवल स्मृति कर्म में लिप्त होता है ? यदि हाँ, तो अनुवाद दार्शनिक क्रिया नहीं होगी और यदि अनुवादक दार्शनिक कार्य करता है तो उसका कार्य ज्ञानमूलक होगा। इस प्रकार अनुवाद भी उपरोक्त अर्थ से भिन्न नया होगा। इस नए ज्ञान के अनुवाद होने की योग्यता की शर्त इस ज्ञान का मूल ज्ञान से अभिन्न होना होगा और ऐसी स्थिति में अर्थ को भाषा से पर-अर्थ नहीं माना जा सकेगा। अतः प्रथम दृष्टि से अनुवाद की व्याख्या असंगत होगी।

जहाँ तक अनुवाद के अच्छे और बुरे होने का प्रश्न है प्रथम सिद्धान्त में मूल के ज्ञान की स्मृति अथवा अनुमान के आधार पर अनुवाद की मान्यता होने से और अनुदित ज्ञान की नवीनता को नकारने से यह

ज्ञान का ज्ञान होगा। लेकिन कोई भी ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान का विषय/वस्तु नहीं बनता क्योंकि वस्तु होने पर यह ज्ञान नहीं होगा। ज्ञान अनुदित नहीं होता क्योंकि प्रत्येक ज्ञान नया होता है। ज्ञान की वस्तु विषय अनुदित होती है। प्रथम सिद्धान्त में मूल की वस्तु और अनुदित वस्तु में पहला प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान या स्मृति पर आधारित होने से भिन्न-भिन्न प्रकृति के होंगे। इस स्थिति में कोई अनुवाद अच्छा है या बुरा है - इस तरह के ज्ञान का आधार क्या होगा ? पर-अर्थवादियों के अनुसार अनुवाद वाक्य से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं, प्रभावों, अभिप्रेरणाओं और वरीयताओं के आधार पर अनुमित किया जाता है कि कोई अनुवाद अच्छा अथवा असह्य स्तर तक बुरा हो सकता है। बी. के. मतिलाल लिखते हैं - "The goodness or badness of a translation, the distortion, falsity or correctness of it would not be determined simply by the interlinguistic or intra-linguistic semantic rules but by the entire situation of each translation with all its uniqueness that is by the kind of total reactions, effects, motivations and preferences it generates on that occasion.[११] किन्तु अनुवाद के अच्छे-बुरे के इस निर्णय में वे सारी खामियाँ आ जाती हैं जो अनुवादक में संभव होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का सांस्कृतिक एवं मानसिक लगाव अनुवाद करने और इसके अच्छे-बुरे के निर्णय के अवसरों को प्रभावित कर सकता है। ऐसी स्थिति में अच्छाई-बुराई के निर्णय का एक वस्तुगत आधार खोजना कठिन है। यही कारण है कि कोई व्यक्ति किसी अनुवाद को पसन्द करता है तो दूसरा किसी अन्य को अच्छा मानता है। अच्छाई-बुराई का यह आधार व्यक्तिगत हो जाता है। व्यक्तिगत चीजें होने पर इसका उपयोग-पूर्व निर्धारण होना आवश्यक होता है तथा यह निर्धारण नियमित नहीं होने से एक मान्य निर्णय नहीं हो सकता।

दूसरे सिद्धान्त में ज्ञान एवं ज्ञान की वस्तु में भेदपूर्वक यह माना जाता है कि मूल और अनुवाद के ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। उनकी भाषा (ध्वनियाँ/लिपियाँ) भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उनका विषय (वाचक-वाच्य चाहे वह सामान्य हो या व्यक्ति) जब वही रहता है जो मूल में, तो अनुवाद

को अच्छा तथा उससे विचलित होने पर विचलन के अनुपात में उसे बुरा, बर्दाश्त की हद तक बुरा, होने का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में मूल के वाचक और वाच्य तथा अनुवाद के वाचक-वाच्य के एक ही होने पर लिप्यन्तर एवं ज्ञानान्तर के बावजूद भी अनेकों अभिव्यक्तियों से ज्ञान के विषय के ऐक्य का ज्ञान होने पर अनुवादों के अच्छा होने का भी ज्ञान होता है। ऐक्य ज्ञान से भिन्न, विचलित होने पर अनुवाद को बुरा कहा जाता है। चूँकि ज्ञान के आधार पर आधारित अच्छाई-बुराई का निर्णय इस सिद्धान्त में मान्य है अर्थात् बुरे का भी ज्ञान शब्द से ही प्रकाशित होता है और अच्छे का भी ज्ञान शब्द से ही होता है अतः इस सिद्धान्त में ऐसे निर्णयों का एक बोधमूलक आधार होने से इसे नकारना ज्ञान की वास्तविकता को नकारने जैसा है।

प्रथम सिद्धान्त में पर-अर्थ की अवधारणा को मान्यता देने से मूल तक पहुँच की बौद्धिक क्षमता के स्तर के अनुपात में अनुवाद की अच्छाई-बुराई का निर्णय स्वीकार किया जाता है। यशदेव शल्यजी[१२] की मान्यता के अनुसार यथार्थ का मानसिक स्तर पर आभास ही विभिन्न रूपों में अनुवाद का विषय होता है। जो कथन यथार्थ, जो उनके अनुसार, अस्तित्वातिक्रमी होता है, को जिस स्तर तक अभिव्यक्त करने में समर्थ हो पाते हैं उसीके आधार पर उनके संगतता-असंगतता, गुणागुण्य, साफल्य-असाफल्य का निर्धारण होता है। इन अभिव्यक्तियों में यथार्थ स्थिर होता है तथा मनोस्तर पर उसकी झलक मात्र मिलती है। चेतना के जिस स्तर की अभिव्यक्ति मूल में हुई है उसकी हद तक या उसके नजदीक तक पर-अर्थ की, यदि किसी अनुवाद में, अभिव्यक्ति हो तो वह अपेक्षाकृत अच्छा और उससे दूर हटने के अनुपात में अपेक्षाकृत बुरा होता है। यह सिद्धान्त अपेक्षा के निर्णय की अपेक्षा रखता है और हर स्थिति में पर-अर्थ के आदर्श प्रत्यय को संरक्षित रखने का प्रयास करता है। इस स्थिति में अनुवादर्थ और पर-अर्थ या मूलार्थ के द्वैत का प्रसंग उपस्थित होता है जो एक अनुवादक या अनुवाद के पाठक को स्वीकार नहीं होगा क्योंकि वे अनुवाद को बदले वस्त्र में मूल के रूप ही लेते हैं। दूसरे सिद्धान्त में अनुवाद और अनुवाद तथा मूल और अनुवाद के अन्तर का कारण व्यक्ति की सांस्कृतिक एवं मानसिक क्षमता के भेद को नहीं बल्कि

लिप्यन्तर, ध्वन्यन्तर को स्वीकार किया गया है। एक ही लिपि में दो भिन्न अनुवादों एवं मूल से उनके अन्तर को हम मूल के वाचक-वाच्य से अनुवादों के वाचक-वाच्य के भेद एवं अभेद के आधार पर जानते हैं। अभेद ऐक्य ज्ञान है और यह वाचक-वाच्य का ऐक्य ज्ञान अनुवाद को तो संभव बनाता ही है उसके अच्छे अनुवाद होने की शर्त को भी पूरा करता है।

यहाँ हम विश्लेषण की समस्या पर विचार करेंगे। भाषीय चिन्तन में अर्थ स्पष्ट करने के उपाय के रूप में विश्लेषण को महत्त्वपूर्ण तो माना ही गया है इसके अतिरिक्त भी इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। खासकर वे दर्शन विश्लेषण को अत्यधिक महत्त्व देते हैं जो भाषा एवं अर्थ को बोध रूप अखण्ड इकाई स्वीकार करते हैं। विश्लेषण के बिना दार्शनिक चिंतन संभव नहीं है। अखण्ड को खण्डों के माध्यम से ही समझा और समझाया जा सकता है अन्यथा अखण्ड चिन्तन एवं व्यवहार का विषय ही नहीं बन पाएगा। यद्यपि विश्लेषण एक कृत्रिम प्रक्रिया है जिसमें अखण्ड को खण्डों के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयास होता है फिर भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता ज्ञान के समस्त प्रसार के रूप में सिद्ध है।[१३] यह एक कृत्रिम प्रक्रिया इसलिए है कि इसके द्वारा अखण्ड वास्तव में विभाजित नहीं हो जाता। वह अखण्ड ही रहता है और विश्लेषण द्वारा व्यवहार का विषय भी बन जाता है। भाषा को बाधा रूप मानने वाले दार्शनिक भर्तृहरि ने दो तरह से विश्लेषण किए जाने को मान्यता दी है। पहले के अनुसार, जिसे वे अपोद्धार[१४] कहते हैं, ध्वनियों या लिपियों (वैखरी भाषा) को नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्म, प्रवचनीय एवं कर्ता, क्रिया, कर्म, विशेषणादि रूप में भाषीय विभागपूर्वक अलग-अलग करना, उसकी व्युत्पत्ति को बताना, विश्लेषण का एक प्रकार है और यह एक इकाई वाक्य को छोटे-छोटे एकक पदों/खण्डों में विभाजन की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। दूसरे अर्थ में विश्लेषण एक दार्शनिक क्रिया है जिससे अर्थ को स्पष्ट करने की दिशा में विभिन्न दार्शनिकों की किसी अवधारणा सम्बन्धी विचारों की खण्डशः प्रस्तुति इस तरह की जाती है कि अवधारणा सम्बन्धी किन-किन तथ्यों को वह समाहित करता है या किन तथ्यों को समाहित नहीं करता है- स्पष्ट हो जाय। अवधारणा की स्पष्टता से प्रस्तुति के लिए आवश्यक

पक्षों को इस तरह अनावृत्त कर देना विश्लेषण के अंतर्गत समाविष्ट हो जाता है जिससे इसका स्पष्ट बोध या विवेक हो जाय। भर्तृहरि चूँकि भाषा (वाक्य, पद, प्रत्ययादि) तथा अर्थ (वाक्यार्थ, पदार्थ, प्रत्ययार्थादि) को प्रत्यय या अवधारणा रूप इकाई मानते हैं अतः इस स्थिति में उनके लिए विश्लेषण क्रिया दार्शनिक क्रिया है। चूँकि भाषा और अर्थ अभिन्न हैं अतः उनके चिंतन में भाषा का विश्लेषण अर्थ विश्लेषण भी है। भाषा का विश्लेषण अर्थ का विश्लेषण कैसे है ? इस विषय पर विस्तार से चर्चा आगे की जाएगी।

भाषा और अर्थ सम्बन्धी प्रथम सिद्धान्त से विश्लेषण की समस्या पर विचार करने पर प्रश्न उठता है कि यदि अर्थ भाषा से स्वतंत्र है, तो इसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक स्वीकार की जा सकती है किन्तु तब, क्या भाषा का विश्लेषण पर-अर्थ का विश्लेषण होगा ? भाषा से पर होने से अर्थ विश्लेषण के लिए इस सिद्धान्त में प्रस्तुत ही नहीं है। इस स्थिति में भाषा का विश्लेषण अर्थ-विश्लेषण नहीं होगा और भाषीय विश्लेषण प्रयोजनहीन होगा। बल्कि हम यह कह सकते हैं कि इस प्रयोजनहीन विश्लेषण का भी एक ज्ञानमूलक आधार होना चाहिए। चूँकि इस मत में भाषा माध्यम मात्र मानी गई है, इसका बोधमूलक आधार नहीं माना गया है, अतः भाषीय-विश्लेषण में भाषा स्वयं अपना विषय नहीं बन सकती। अतः भाषा-विश्लेषण भी तर्कतः सम्भव नहीं होगा। पुनः इस भाषा-विश्लेषण का विषय क्या होगा ? यह किसके आधार पर विश्लेषित होगी? ध्वनियों/संकेताक्षरों/लिपियों के स्वयं-चेतन रूप या विचार रूप न होने और क्षणमात्र ही धारित होने से स्वयं इनके द्वारा इनका विश्लेषण कैसे सम्भव होगा ? यदि किसी तरह स्वीकार भी करें कि ऐसा हो सकता है तो यह भाषा का ही विश्लेषण होगा, इसे पर-अर्थ का विश्लेषण कैसे कहा जा सकेगा ? जो भी हो, भाषा से अर्थ को स्वतंत्र पर-अर्थ मानने पर भाषा का विश्लेषण अर्थ का विश्लेषण नहीं होगा। भाषेतर अर्थ दार्शनिक चिन्तन, विश्लेषण का विषय नहीं माना जा सकता है।

अर्थ का मनोविश्लेषण भी भाषा के बिना सम्भव नहीं है। पुनः भाषा से स्वतंत्र पर-अर्थ की स्थिति में अर्थ का मनोविश्लेषण यदि स्वीकार भी करें तो यह भाषा का मनोविश्लेषण नहीं होगा। विश्लेषण की आवश्यकता

तब होती है जब अर्थ स्पष्ट न हो। अर्थ तब स्पष्ट नहीं होता जब वह अखण्ड हो। अखण्ड को ज्ञानी लोग जानते हैं और उसका बुद्धि से विश्लेषण कर खण्डों के माध्यम से उसे अबुद्धों को समझाते हैं ताकि वे भी अखण्ड को खण्ड के माध्यम से समझें। जिन्हें अखण्ड स्पष्ट नहीं वे विश्लेषण किस आधार पर करेंगे ? अर्थ स्पष्ट तब भी नहीं होता जब शब्द स्पष्ट नहीं होता क्योंकि दोनों अभिन्न होते हैं (न कि अर्थ भाषा से परे या भाषा अर्थ से परे)। अतः पर-अर्थ का सिद्धान्त भाषीय सिद्धान्त के विरुद्ध है।

भाषा सम्बन्धी दूसरे मत से भाषा से अर्थ पृथक् नहीं बल्कि भाषा से प्रकाशित होता है (शब्दार्थोः अर्थः) कोई भी ज्ञान भाषा से प्रकाशित हुए बिना सम्भव नहीं है और कोई भी अर्थ, अर्थ इसलिए होता है कि वह भाषा से प्रकाशित है। भाषा भी अपना प्रकाश किए बिना अर्थ का प्रकाशन नहीं कर सकती। पहले भाषा और तब उससे अभिन्न रूप में अर्थ प्रकाशित होता है। दोनों के विचार रूप में प्रकाशित होने से दोनों की चैत्सिकता स्वीकार है। भाषा सर्वगत, अखण्ड तथा आन्तर्प्रदत्त विचार है और ध्वनियाँ तथा लिपियाँ केवल माध्यम होती हैं जिसके द्वारा अभिव्यक्त होकर यह प्रकाशित होती है। योगियों की स्थिति में इन माध्यमों के बिना भी आन्तर्भाषा का प्रकाश होता है एवं दार्शनिक जब दार्शनिक चिंतन में लगा होता है बिना ध्वनियों एवं लिपियों के भी आन्तर्भाषा का प्रकाश होता है। विचार रूप भाषा के कारण ही ध्वनियों एवं लिपियों के सामने न होने पर भी वह दार्शनिक स्वचेतन क्रिया करता है। कोई भी स्वचेतन क्रिया (विश्लेषण और अनुवाद सहित) आन्तस् भाषा के अभाव में सम्भव नहीं हो सकती।

इस सिद्धान्त को मानकर चलने पर चूँकि भाषा प्रकाश्य प्रकाशक रूप है,[१५] अर्थ से अभिन्न है, दोनों का नित्य सम्बन्ध है और यह नित्य संबंध भाषा की अर्थ व्यक्त करने की नित्य योग्यता है, अतः[१६] इस सिद्धान्त में भाषा का विश्लेषण अर्थ का भी विश्लेषण होगा, मानने में कोई तार्किक अथवा ज्ञानमूलक विरोध सम्भव नहीं है। पुनः भाषा का भाषा के द्वारा विश्लेषण भी तभी होगा जब उच्चारित या पंक्तिबद्ध लिखित भाषा विश्लेषण का माध्यम हो और इससे प्रकाशित आन्तरिक भाषा

इसके विश्लेषण का विषय एवं बोधमूलक आधार हो तथा विश्लेषण क्रिया का फल विश्लेषित पदार्थ हों। केवल ध्वनियों/लिपियों तक भाषा को सीमित मानने पर इसके विश्लेषण का आधार क्या होगा ? बोध रूप न होने से ये स्वयं अपना विश्लेषण कैसे कर सकते हैं ? इन प्रश्नों की संगत व्याख्या सम्भव नहीं हो पाती। किन्तु आन्तस् भाषा के सिद्धान्त में, शब्द और अर्थ की अभिन्नता एवं इन्हें बोध रूप इकाई मानने से, शब्द का विश्लेषण अर्थ का भी विश्लेषण होगा। ध्वनियों/लिपियों से निरपेक्ष भाषा के रूप मानने से इस सिद्धान्त में विश्लेषण का विषय, आधार और प्रयोजन भी निश्चित हो पाएगा। जहाँ तक विश्लेषण की प्रेरणा के आधार की बात है, मस्तिष्क में प्रकाशित शब्दार्थ ही दूसरे अनुवादों को समझाने-समझने के लिए विश्लेषण प्रक्रिया के प्रेरक बनते हैं। इस सिद्धान्त को मानकर चलने पर विश्लेषण एक दार्शनिक कार्य सिद्ध होता है क्योंकि दार्शनिक का कार्य स्वचेतन माना गया है। भाषा के बिना स्वचेतन क्रिया सम्भव नहीं है। स्वचेतन क्रिया दार्शनिक क्रिया है इसमें चेतना स्वचेतन की चेतना होती है। स्वचेतन क्रिया का विषय लिपियों/ध्वनियों द्वारा प्रकाशित आन्तस् शब्द तथा उससे अभिन्न उसका अर्थ होता है। ध्वनियाँ/लिपियाँ माध्यम होती हैं जिसके द्वारा स्वचेतन विषय को या आन्तरिक विचार रूप शब्द अथवा उससे संपृक्त अर्थ को उनके ज्ञान के आधार पर खण्डों में विश्लेषित कर समझाया जाता है। वास्तव में बाह्य अर्थ का विश्लेषण सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्यायित विषय ही स्वचेतन क्रिया के विषय होते हैं। विश्लेषण एक दार्शनिक क्रिया है, स्वचेतन की क्रियाशीलता है और इसका आधार, विषय, क्षेत्र, उद्देश्य, मस्तिष्क में प्रत्यायित पदार्थ होते हैं। कोई भी प्रत्यय भाषा के बिना सम्भव नहीं। भाषा से निरपेक्ष प्रत्यय की बात आत्मघाती है। यद्यपि भाषा से प्रत्ययित पदार्थ अखण्ड होता है फिर भी इसी का विश्लेषण सम्भव है, अन्यों का नहीं, क्योंकि मस्तिष्क में प्रकाशित प्रत्यय का ही कृत्रिम विभाजन संभव है। परमाणु अविभाज्य है किन्तु मस्तिष्क में प्रकाशित इसके प्रत्यय को लेकर ही परमाणु के भी आधे में आधे संबंधी व्यवहार होता है। किसी अणु में किस परमाणु का आधा भाग दूसरे परमाणु के किस आधे भाग से संबंधित है; यह सारा व्यवहार मस्तिष्क में प्रत्यायित पदार्थ को लेकर ही सम्भव है।

यद्यपि विश्लेषण एक कृत्रिम प्रक्रिया है किन्तु अज्ञानी को समझाने तथा खण्ड रूप से अखण्ड को समझाने के लिए उपयोगी एवं एकमात्र उपाय है। अर्थ अखण्ड होता है। अखण्ड को एकबारगी समझना केवल बुद्धों के वश की बात है। अबुद्ध तो अखण्ड को खण्ड के द्वारा ही समझ सकते हैं। इस तरह विश्लेषण का एक दार्शनिक उद्देश्य अखण्ड को, जो अबुद्धों को स्पष्ट नहीं होता, खण्ड के माध्यम से स्पष्ट बोध कराने का उपाय होना सिद्ध होता है।

भाषा का विश्लेषण भी भाषा द्वार ही होता है और ऐसा करना तभी सम्भव है जब हम भाषा के बोधरूप और ध्वन्यात्मक/लिप्यात्मक दोनों रूपों को स्वीकार करें। दोनों रूपों को स्वीकार करने की स्थिति में ध्वन्यात्मक/लिप्यात्मक भाषा के माध्यम से विचार या प्रत्ययरूप भाषा का विश्लेषण होता है। चूँकि शाब्दबोध में पहले भाषा अपना प्रकाश करती है, अतः वह वाचक बनती है और उससे अभिन्न रूप से उसका अर्थ प्रकाशित होता है जो उसका वाच्य होता है। यह वाच्य भी भाषा का ही वाच्य है जो विश्लेषण की क्रिया का विश्लेष्य बनता है। वाचक वाच्य में अभिन्नता होने से विश्लेषण की प्रक्रिया में अपेक्षा अनुसार जो वाचक है उसके माध्यम से वाच्य का विश्लेषण होता है और विश्लेषण की अपेक्षा से वाच्य भी वाचक की स्थिति में प्रत्यापित होता है और तब उसके माध्यम से उसका वाच्य विश्लेष्य बनता है। इस तरह भाषा की भाषा के द्वारा विश्लेषण की सम्भावना बनती है। किन्तु यदि भाषा को ध्वनियों अथवा लिपियों तक ही सीमित माने तो वाचक-वाच्य रूप में पूर्व की भाँति सम्बन्ध नहीं होने से विश्लेषण की सम्भावना नहीं होगी। यही नहीं, चूँकि ध्वनियाँ/लिपियाँ स्वरूपतः बोधरूप नहीं होतीं, और अर्थ से अभिन्न नहीं होतीं, अतः वाचक और वाच्य के परस्पर स्थिति बदलाव भी उनमें सम्भव नहीं होगा। अतः भाषा से भाषा के विश्लेषण की सम्भावना नहीं बन सकती। अगर एक तरह की ध्वनियों अथवा लिपियों को अर्थ प्रत्यय की समानता के आधार पर दूसरे तरह की ध्वनियों/लिपियों में परिवर्तन कर उसका अध्ययन विश्लेषण माने तो विश्लेषण दार्शनिक क्रिया नहीं होगा। विश्लेषण दार्शनिक क्रिया तब होता है जब इसका सम्बन्ध विचार या बोध से होता है और यह स्थिति विचाररूप शब्द एवं अर्थ के सिद्धान्त में ही

बनती है। बुद्धि भी उन्हीं अर्थों का विश्लेषण कर सकती है जो इसमें प्रत्यायित होते हैं। चूँकि शब्द भी बुद्धि में प्रत्यायित सत्ता है अतः उस अखण्ड प्रत्यय में वाचक वाच्य भेदपूर्वक बुद्धि उसे अपने विश्लेषण का विषय बना पाती है और इस तरह भाषा के द्वारा भाषा का विश्लेषण सम्भव हो पाता है।

भाषा और अर्थ सम्बन्धी दूसरे विचार में अर्थाभिव्यक्ति में भाषा तटस्थ या निष्क्रिय न होकर सक्रिय होती है। सक्रिय इसलिए कि अर्थ में भाषा को यहाँ प्रकाश्य-प्रकाशक रूप माना गया है। यह पहले अपना प्रकाश करती है और भाषा का प्रकाश होने पर उससे अभिन्न रूप में उसका अर्थ प्रकाशित होता है। भाषा से अर्थ पृथक् नहीं है। समस्त ज्ञान भाषानुविद्ध है और भाषानुविद्ध प्रत्यय ही दार्शनिकों के चिंतन का विषय या दार्शनिक विषय है जिसे नकारकर कोई भी चिंतन दार्शनिक चिंतन नहीं हो सकता। भाषा से प्रत्यायित भाषा एवं अर्थ की अवधारणा डेरिडा के *डिकन्स्ट्रक्सन अस्त्र* से सुरक्षित इस अर्थ में है कि यह न तो कोई तात्त्विक विषय या अर्थ है और न ही भाषा के पर-अर्थ की व्याख्या को अपने में स्थान देता है। बल्कि डेरिडा ऐसे भाषा प्रत्यायित अर्थो के आधार पर ही पर-अर्थ को विलम्बित एवं अभाव रूप दिखाने में प्रवृत्त हो पाते हैं। निष्कर्षतः वाचक के बोधरूप मानने, उससे प्रकाशित अर्थ से उसकी अभिन्नता स्वीकार करने तथा ध्वनियों एवं लिपियों को इसकी अभिव्यक्ति का माध्यममात्र स्वीकार करने से दूसरे सिद्धान्त में अनुवाद एवं विश्लेषण की व्याख्या के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है। इस सिद्धान्त में आन्तस् भाषा एवं उससे अभिन्न उसका अर्थ अनुवादों का स्थिर विषय बनता है। अनुवादों में विषय वही रहता है जो मूल का विषय होता है, केवल ध्वनियों अथवा लिपियों, जिनसे आन्तस् भाषा अभिव्यक्त होती है, भिन्न होती है किन्तु लिप्यन्तर अथवा ध्वन्यन्तर से विषय का अन्तर नहीं होता और उसी आधार पर अनुवादों के अच्छा होने का निर्णय देना भी सम्भव हो पाता है। चूँकि इस सिद्धान्त में आन्तर्प्रदत्त भाषा और अर्थ का अभेद माना गया है अतः भाषा का विश्लेषण अर्थ का भी विश्लेषण है। ऐसा मानना तर्कतः सम्भव तभी दिखाया जा सकता है जब ध्वनियों/लिपियों के अतिरिक्त आन्तस् भाषा को स्वीकार किया जाय। आन्तस् भाषा

बोधरूप होने से अखण्ड है फिर भी, समझने-समझाने के लिए ध्वनियों/लिपियों के माध्यम से इसका कृत्रिम विभाजन स्वीकार करना दार्शनिक एवं व्यावहारिक प्रयोजन के लिए महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक प्रयोजन के लिए इस अर्थ में कि व्यवहार विश्लेषण के बिना सम्भव नहीं है। दार्शनिक प्रयोजन के लिए इस अर्थ में कि दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से ही चिंतन में अग्रसर हो सकता है। अनुवाद तथा विश्लेषण भी दार्शनिक क्रिया तभी हो सकते हैं जब हम ज्ञान की शब्दानुविद्धता को स्वीकार करें। चूँकि यह सिद्धान्त ज्ञान के बोधमूलक व्याख्या एवं विश्लेषण को अपनाने पर बल देता है अतः दार्शनिक दृष्टि से अधिक श्लाघनीय है।

स्वातकोन्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा ८४६००४

देवेन्द्रनाथ तिवारी

टिप्पणियाँ

१. इस दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन भर्तृहरि ने अपने ग्रंथ वाक्यपदीय में किया है। वाक्यपदीय ध्वन्यात्मक/लिप्यात्मक भाषा और आन्तस्भाषा (स्फोट) का अन्तर, ज्ञान की शब्दानुविद्धता तथा भाषा एवं अर्थ की अभिन्नता के आधार पर भाषा-दर्शन की सांगोपांग दार्शनिक व्याख्या करने वाला प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ है।
२. B. K. Matilal, **The Word And The World**, p.122, Oxford University Press, Oxford, 1990.
३. वही, पृ. १२२
४. वही, पृ. १२२
५. शल्यजी के एतद् सम्बन्धी विचार विशेष रूप से **समाज : दार्शनिक परिशीलन** पृ. ४७-६३,६४-८० तथा पृ. १०-२५, इलाहाबाद संग्रहालय की पार्थका 'माया' पृ. १०-२५ में प्रकाशित 'भारतीयभाषा चिन्तन : भाष्य एवं आलोचना' तथा 'मधुमति' पृ. १३-१५ जून १९९७ में देखे जा सकते हैं।
६. Derrida's Critique of the presence of the signified and his counterclaim that the signified is always defferred

and absent unsettles the concition of the subject as presence. R. Sundara Rajan, Phenomenology, Hermeneutics and Deconstruction. p. 249, ICPR, New Delhi, 1991.

७. सुन्दर राजन ने पाल रीकर के निबन्ध **'Existence and Hermeneutics'** जो जोसफ ब्लेन्डर द्वारा सम्पादित पुस्तक 'Contemporary Hermeneutics, 1980 में प्रकाशित है, के पृष्ठ २४२-४३ पृ. पर, जैकस डेरिडा की दृष्टि से विश्लेषित करते हुए, लिखा है "The idea of Being as the transcendental signified of all signifiers, any such idea of a transcendency of discourse is a mirage, for the very idea of reference is thinkble only in terms of language." Ibid. p. 233

८. देखें - **जाति समुद्देश** १०१-१०५

९. संस्कृत एवं संस्कृतेतर भाषाओं से होने वाले ज्ञान में पहले भाषा और तब उससे अभिन्न अर्थ का ज्ञान होता है - इस विषय पर, भर्तृहरि ने, अपभ्रंशों से ज्ञान की व्याख्या के अवसर पर संकेत किया है। देखें-**वाक्यपदीय पर भर्तृहरि की वृत्ति** १/१४७/१५५

१०. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानम् सर्व शब्दे भासते।। **वाक्यपदीय** १/१२३

११. बी. के. मतिलाल, १९९०, पृ. १२३

१२. देखें - यशदेव शल्य, **समाज : दार्शनिक परिशीलन**, पृ. ६४-८०

१३. उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। **वाक्यपदीय** २/२३८

१४. अपोद्धार की विशद व्याख्या भर्तृहरि ने वाक्यपदीय प्रथम खण्ड के कारिका २४-२६ की वृत्ति में की है।

१५. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते।। **वाक्यपदीय** १/५५

१६. देखें Philosophy of relation between word and meaning, JICPR, Vol, XI, No. 2, pp. 43-55, 1994

१७. विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाशते।
न सत्तैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः।
अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं ग्राह्यते तथा। **वाक्यपदीय** १/५६-५७

परिचर्चा में

'धर्मवीर भारती - व्यक्तित्व और कृतित्व' पर प्रतिक्रिया

दिवंगत धर्मवीर भारती के निधन के बाद तीन सालों में ही तीन पुस्तकें सामने आना अपने आप में एक खास बात है। यों तो, हिन्दी में अज्ञेयजी के बाद भारतीजी पर ही खूप जमकर चकल्लस हुई है। उक्त तीन पुस्तकें हैं : 'अनन्त पथ के यात्री धर्मवीर भारती' (श्री विष्णुकान्त शास्त्री); धर्मवीर भारती - व्यक्तित्व और कृतित्व' (श्री. चंद्रकांत बांदिवेडकर); तीसरी श्रीमती पुष्पा भारती द्वारा संकलित व संपादित 'धर्मवीर भारती की साहित्य साधना।' यहाँ संप्रतिकृत हैं बांदिवडेकरजी की कृति और तीसरी पुस्तक में छपे उनके तीनों लेख।

किसी भी कृति व्यक्तित्व के बारे में न केवल व्यक्ति-विशेष के अपने वक्तव्य-मंतव्य-भाषण-पत्र आदि प्रत्युत् दूसरों के जानना-परखना-समझना आवश्यक है। अन्यथा 'समग्र परिचित' नहीं हो पाती। स्मृति-शेष व्यक्ति के कृतित्व और व्यक्तित्व के बारे में तो यह बहुत ही मुश्किल हो पडता है, कारण संबंधित कुछ छिपे हुए खास पहलुओं पर अतिरिक्त कुछ भी कहना-लिखना नक्कार खाने में तूती की आवाज कौन जानना-सुनना चाहता है...। इसीलिए यहाँ बांदिवडेकरजी की पुस्तक तथा उनके लेखों पर एक संप्रतिक्रिया है। यह 'आलोचना की कैसी भी प्रत्यालोचना' कतई नहीं है। बांदिवडेकरजी ने अपनी कृतियों में 'अच्छे पडोसी' और 'सुपरिचित' होने के स्वसामर्थ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति की है, यह सर्वथा स्वीकार्य है। इन पुस्तकों द्वारा भारती जी के साथ अच्छी-खासी जान-पहचान संभव है। कीर्तिकाय की यही तो विशेषता होती है।

प्रथम अध्याय 'जीवन-वृत्त' में केवल सात ही पृष्ठों में बांदिवडेकरजी

ने भारती जी की वैयक्तिक गाथा समेट दी है। वस्तुतः वह एक समूचे उपन्यास का विषय है जिसे आदरणीय पुष्पाजी ही अंजाम दे सकती हैं, बशर्ते, वे स्वयं एकदम वस्तु-विषयनिष्ठ रह सकें। बांदिवडेकरजी की भारती जी की समस्त रचनाओं से वानगी या नमूने की रचनाओं का एक संग्रह भी प्रकाशित करानी चाहिए। भारती ग्रंथावलि के नौ खण्ड तो सब के द्वारा अनुशीलन असंभव है।

दूसरे अध्याय में 'भारती की कविता' पर लेखकीय विदग्धता प्रत्येक पन्ने पर अंकित है। यह कहना एकदम ठीक है कि नये कवियों ने अपनी रचना को जीवन के अछूते प्रश्नों को छूने की जो अतिरिक्त जागरुकता अपनायी वह युगानुरूप और परम्परा के जडोंसे अलग रहने के प्रयास युगानुसार ही सूखने भी लगी, हवाई महलों या बालू के घरौदों सा विलम गयी। कविता पुनः नयी या पुरानी कविता नहीं रही। 'उत्तराधुनिक कविता' या कालातिक्रान्त युगाग्रगामी नहीं बनी। 'प्रगतिशील' और 'प्रयोगधर्मा' विशेषण तो सदा ही वाञ्छनीय हैं। वही मानवीय सर्जकता का वैशिष्ट्य एक तरह से प्राकृत सर्जनाओं से पृथक्त्व है। अतः बांदिवडेकरजी का प्रथम अनुच्छेद शीर्षक ठीक ही है : जीवन्त परम्परा और सशक्त नवीनता का उन्मेष। याने भारतीजी के कवि-कर्म-कलाप में 'पाश्चात्त्यों का अन्धानुकरण' या अतिरिक्त प्रभाव; 'भारतीय परम्पराओं की अवमानना' या परम्परा की सही अवधारणा का अभाव; 'सामाजिकता अथवा जन-कल्याण की उपेक्षा' या परिस्थिति परिवेशसे कटाव-अलगाव; 'अतिव्यक्तिवाद', कुण्ठा, अश्लीलता, बौद्धिकता की प्रचुरता और दुर्बोधता, 'आरोपित मनःस्थितियाँ, आदि दोष नहीं हैं। भारतीजी ने परम्परागत मिथक, सांस्कृतिक बिम्ब, ऐतिहासिक, घटनाओं का सदुपयोग किया है, शब्दों का सम्मान बरकरार रखा है। (देखें 'ठण्डा लोहा' प्रथम कवितागुच्छ)

लेकिन 'सातगीत वर्ष' में उनकी कविताएँ आन्तरिक भावमय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही नहीं युगानुरूप शंकाएँ, व्याकुलताएँ, वंचनाएँ, वैयक्तिक अकेलापन, गहन चिन्तन भी परिवेषित करती हैं। "अब प्रकृति की रंगमयी, रसमयी छवियाँ कवि के लिए सहज आकर्षण की वस्तु न रहकर थके मन और ऊबे क्षणों का सहारा हो गयी हैं। 'प्रभू' शब्द का व्यंगभरा प्रयोग भी हुआ है। उसके गीतों में कस्बाई, गेंवई जीवनबिम्ब

बेझिझक प्रयुक्त है। बांदिवडेकरजी ने यह सब सोदाहरण दिखाया है। कवि में स्वल्पालाप में संयत स्वरों का महत्त्व बिम्बों के कलात्मक प्रयोग की क्षमता, शैल्पिक सचेतनता भरपूर हो उठती है।

पुस्तक में सर्वप्रथम 'प्रस्तावना' से ही जाहिर है कि यह भारती जी की 'माहात्म' का लेखा-जोखा है : 'वरिष्ठतम रचनाकारों में से एक', 'बहुआयामी प्रतिभा', 'विलक्षण अभिव्यक्ती क्षमता का मणिकांचन योग' के साथ कर्म-कौशल का संभाव अवश्य ही खटकता नहीं है।

भारतीजीने जो भी किया है वह बहुत ही कार्यनैपुण्य के साथ किया है। गहन-संवेदना को लोग प्रायः व्यावहारिकता पर हावी नहीं होने देते। वे तो 'जे विनुकाज दाहिनेहु बाँये' जैसे लोगों को भी अपना घोर दुश्मन नहीं बनाते हैं। जीवन संघर्ष में उनका लोहा सभी मानते हैं। और वे सामान्य जनों को भी अपनी संकीर्णताओं से निकलने को बाध्य करते हैं। हिन्दी पत्रकारिता में इसी से भारती जी को अभूतपूर्व सफलता मिली। परिस्थितियों का चिन्तन एवं युक्तिपूर्ण विश्लेषण यह उनकी विशेषता हमेशा बनी रही और साहित्यिक होने के नाते उसमें सरसता भी बरकरार मिलती थी। यह सुखद आश्चर्य की बात थी।

बांदिवडेकरजी ने 'प्रस्तावना' में जो कुछ इंगित किये हैं उनकी यथायथ विवेचना ही सारी किताब में है, अतः यह प्रस्तावना पाठकों के लिए अवश्य पठनीय है। सचमुच भारती जी की साहित्य-साधना की सिद्धि वैपरित्य और वैविध्य के बीच सुसंगत समन्वय है। लेखकीय अभिमत पहले सात अध्यायों में ही है। आठवें में भारती की कविताओं से कुछ चुनी गयी हैं कालक्रम से; ये अनेक काव्य वैशिष्ट्य के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की निदर्शनाएँ हैं। नवें में भारती की प्रकाशित कृतियों की सूची है। इसमें रचनाओंके काल का भी निर्देश रहता तो और भी अच्छा होता।

"तन का केवल तन का रिश्ता भी
मांसलता से कितना ऊपर उठ जाता है।
अब यह जूहीके फूलोंसा तन नहीं रहा
पर इनमें पहले से कहीं अधिक जादू है।'

कारण तन-मन अभेद्य हैं - सदा सहचर, देश-काल जैसे भेदाभेद के मूर्त प्रत्यय। 'शरीर' और 'शव' एक नहीं होते, अन्तर्द्वंद्व, कारुण्य, प्रेम

आदि सभी मनोव्यापार शारीरिक तंत्र की सापेक्षता के सहारे ही व्यक्त हो सकते हैं। अतः यह उपस्थापना कि कविता में यत्र-यत्र सर्वत्र प्रायः सारी रोमांटिकता के बावजूद भारती के कवि में अन्वेषा और आस्था के सशक्त स्वरों का आरोहावरोह और तानों की समृद्धि भी पर्याप्त थी। यह अध्याय (पृ. १८ से ६७) भारतीजी की कविता की आलोचना में शायद ही कोई खूबी बाकी छोडता है। मूलतः उसमें एक 'सचेतन कलाकार की अन्तर्मुखता है।'

सामाजिक अव्यवस्था और मूल्यभ्रष्टता की वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ कवि में जहरी छटपटाहट को जनमती है और यथार्थ बोध की कडवाहट उसे व्यंगस्वर ऊँचा रखने पर मजबूर करती है। बांदिवडेकरजी कविताओं को शीर्षक देकर यह अच्छी तरह बता देते हैं। विशेषतः प्रमथ्युगाथा की विवेचना बहुत ही अच्छी बन पडी है। उनका यह कहना वाजिब है कि प्रमथ्यु मिथक यों तो साहित्यस्रष्टा मानस को सदा-सर्वत्र-सर्वदा झकझोरती रही है। किन्तु भारतीजी ने उसे 'अनेक नए आयाम दिये हैं।' भारती जो इस दिशा में संलग्न रहे जैसा कि उनकी परवर्त्ती काव्यकृतियों से भी जाहिर हुआ है। (देखें 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया'।)

इस पुस्तक में उपर्युक्त दोनों कृतियों की भरपूर समालोचना मिलती है। हिन्दी के और भी कुछ आलोचकों ने इन पर कडवी-मीठी बातें कही हैं। वे सभी पठनीय हैं। सभी से हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि सत्य हरेक युग में समसामयिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक रीति-नीति से भिन्न रहता है। आदर्शों और मर्यादाओं का निर्वाह या अनुशीलन पालन पूरी तरह कभी नहीं हुआ, न हो पाता है, न होगा। इसलिये कोई भी युग-विशेष न अन्धा होता है न सूझता या सूजता। हम सभी 'अन्धेनैव यथान्धाः' उदाहरण हैं। कमोबेश (ज्यादा-थोडे) की बात अलग है। इसके अलावा कथनी-करनी या सोच-विचार, बातें और काम-काज में समन्वय कोई भी व्यक्ति/समाज राष्ट्र और राष्ट्रों के समुदाय नहीं कर पाते। इतिहास इसका गवाह है।

प्रायः सभी साहित्यकार इतिहास और मिथकीय वाङ्मय में, वक्तव्यों में घपला करते रहते हैं। और यह भी कि इतिहास भी मात्र देशकाल की घटनाओं का, प्रवृत्तियों का या रुझानों का लेखा-जोखा नहीं है। वह सारे

का समग्र संदर्शन होता है। परिवर्तन ही पुनरावर्तित होते हैं, यहाँ तक कि, प्राकृतिक संघटनाएँ भी समाज या ज्यों की त्यों नहीं घटतीं। दूसरी बात यह कि उत्तम सृजन या सर्जना-शक्ति का उपयोग वह है जिसमें युगानुरूप नये मिथक गढें जायें, पुराने मिथकों से छेड-छाड जरूरी नहीं। हाँ, उनकी समझ और उसका संप्रेषण नयी प्रक्रियाएँ अपना सकते हैं। पर ये भी सद्यतम ज्ञानविज्ञान, अनुभव एवं अभिव्यक्ति से संपृक्त हो तभी स्वीकार्य होती है। अन्यथा शब्दसंयोजन, प्रतीक, बिम्ब, रीति, शैली आदि सभी फीके पड जाते हैं।

रामायण, महाभारत और समग्र अन्य सगुण-निर्गुण-भक्ति-परक वैष्णव साहित्य का यथायथ समग्र अनुशीलन करें तो भारतीजी के 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' युवा मानस के विस्फोट से लगते हैं। इनमें कोई क्लासिकल तत्त्व ढूँढना या नयी मानसोपलब्धि पाना हमें संभव नहीं लगता। बांदिवडेकरजी ने भी इनकी विवेचनाएँ प्रचलित धारणाओं के अनुकूल ही की हैं।

महाभारत में द्वैपायनकृष्ण और वासुदेव कृष्ण (पहले कृष्ण या व्यास परंपरा द्वारा सृष्ट) तथा कृष्णा (अयोनिजा, यज्ञसंभवा, द्रौपदी, पंचपातिका) इन तीनों के इर्द-मिर्द ही सारा ताना-बाना है। रामायण(णों) में पूर्वतर्त्ती अपनी मिथकीयता के कारण सीता और राम की तरह पति-पत्नी नहीं न ही 'भागवत' के प्रेमी-प्रेमस्वद राधा-कृष्ण; अथवा गीता के कृष्ण-अर्जुन जैसे 'बन्धु'। परम्परागत राम और कृष्ण इतने जटिल चरित्र-पात्र हैं, या हो चुके हैं कि, शायद ही ऐसे मिथक अन्यत्र किसी वाङ्मय में उपलब्ध हों।

बांदिवडेकरजी ने भारती-काव्य-भाषा के स्वयं कवि के वक्तव्यों से उद्धरण देकर यह भली-भाँति बताया है कि भाषा भाव की अनुगामिनी रहे, वह पत्थर का ढोंगा बनाकर कविता के गले में न लटका दी जाय न वह रेशम का ऐसा जाल बने कि कविता में मर्म की बातें भी उलझी रहें। आवश्यकतानुसार भारती जी शब्द और वाक्य दोनों का समुचित उपयोग कर कवि की भावाभिव्यक्ति की 'युनिट' बनकर। अतः भाषा की दृष्टि से अपनी तरह भारती प्रसाद और पन्त की परम्पराओंका निर्वाह करते हैं। प्रयोगों से उन्हें तोडते नहीं, सशक्त अवश्य करते हैं। उनकी सर्जनात्मक

काव्य-प्रतिभा कभी निष्क्रिय वा मन्द नहीं पडी। उसमें पहले की 'रोमानी तत्त्व संयत, परिपक्व और साझे में भोगे हुए दर्द की समझ तथा चिन्तन की परिपक्वता से अधिक आस्वाद्य बन गये। सबसे अधिक ध्येय है यहाँ कविताओं की सहृदय व्याख्या, या कहिए, कवि से सहानुभूति के स्तर पर काव्य के संवेग और संवेदनाओं का अहसास जो हर स्तर में व्यक्त है। वे सभी अहम उद्धतियाँ 'भारती की कविता' के पृष्ठों में संयोजित हैं जो पाठक की जिज्ञाए, भावुकप्रवणता, भाव-शबलता अनुभूतियों का मीठा दर्द बढाती हैं। तरंगित शक्तिशाली जीवन का एक आभास होता है।

बांदिवडेकर जी पग-पग पर 'पर्वणि पर्वणि यथा रस विशेषः' कराते हैं। जैसे 'आखिरकार', 'एक सुखान्त ? प्रेम की कहानी', 'प्यार पकी उम्र का', या अतीत-अमर स्मृतियों और प्राकृतिक चिन्मय अनुभूतियों की काव्याभिव्यंजनाएँ एवं उनकी व्याख्याएँ इस पुस्तक की हृद्य, संवेद्य, संग्राह्य भौतिक अंश हैं। भारतीय मनीषा का आत्मिक रिश्ता प्रकृति (निसर्ग प्रधान) से इस प्रकार संवादित है कि वह मानवीय चेतना को चिन्मयी लगती है। यह गाव महज कल्पना नहीं, चिर भारतीय संस्कार सच्चिदानन्द परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति का सुफल है। चराचर जगत्, समस्त वैभव-सम्पन्नी जगती भारतीयों के संवेदना प्रवण चैतन्य में काव्य के सशक्त उपादान लगते हैं। प्रकृति-पुरुष (चैतन्य) के समाहार 'एक विचक्षण गरमाहट आ जाती है। सचमुच प्रकृति तादात्म्य' कवि व्यक्तित्व का एक अद्वितीय आयाम प्रकट करती है।'

बांदिवडेकरजी के अनुसार भारतीजी की आपात कालिक कविता रचनाएँ उत्कृष्ट हैं, जैसे कि शायद उस युग में कम ही लिखित और प्रकाशित हुईं; गोष्ठियों में पढी अवश्य गईं। 'भारती की कविता' शीर्षक इस अध्याय में लेखक ने पचास पृष्ठों में जो समालोचना की है वह बहुत से 'समीक्षकों' को राह दिखाती है। उसका यह निष्कर्ष भी अविवाद्य है कि भारती ने 'धर्मयुग' के सम्पादक रहते हुए भी अपने 'काव्यानुभव' को 'अखबारी' नहीं होने देकर 'काव्य को कविता की कलात्मक शर्तों पर प्रस्तुत किया। फिर भी वे कभी कलावादी नहीं रहे। कविता के मुहावरों में बदलाव, अनेक भाषिक प्रयोगों का काव्यानुभव में घुलाव, व्यंगों का कसब, विरोध, वक्रता, विडम्बना, असंगति भरे भाव, नाटकीयता,

सामन्तगाही आदि का जमाव, दुर्बोधता का अभाव है।'

'कथाकार भारती' शीर्षक तीसरे अध्याय के ६५ पृष्ठ भी अहम हैं। हिन्दी पाठक जगत् में 'गुनाहों के देवता' को संमिश्र स्वागत मिला। १९४९ में छपे इस के सात संस्कारणों के बाद इस उपन्यास के १९९१ में बाईसवें मुद्रण का होना उसकी लोकप्रियता का सबूत है, यद्यपि सफलता का यह बौना मापदण्ड है - साहित्यिक जगत् में। फिर भी यह मान्यता ठीक है कि यह उपन्यास मात्र किशोर-वय की भावुकता की सशक्त अभिव्यक्ति नहीं है। इसमें यथार्थ और आदर्श वास्तविकता और कल्पना, रोमान और बौद्धिक विमर्श, व्यक्तिवाद और समाष्टिवाद, अतीत और वर्तमान, कालिकता और कालातिक्रमण सब का समन्वय है। कारण में साहित्य के उपादान परस्पर-विरोधी नहीं पूरक होते हैं। इनके विरोधाभास का यथेच्छ परिहार सदा-सम्भव है कुशल रचना-प्रक्रिया द्वारा। उस वक्त के इलाहाबाद का जो चित्र इसमें अंकित है वह भी लेखकीय समग्र जीवन-दृष्टि का परिचायक है। इसमें गांभीर्य और मजाक संवादों में यथास्थान अभिव्यक्त है। कथोपकथन भी सशक्त है, जिससे जीवनानुभव रोचक कौतुहल जगाते हैं। सम्प्रेषण का दायरा बढता है। कथावस्तु में व्यापक सामाजिक स्तर सिमट आते हैं - विशेषतः मध्यमश्रेणी में लिये जाते पारिवारिक जीवन के।

गुनाहोंका देवता - यह २० पृष्ठीय लेखाजोखा सुनिश्चित रूप से हर पाठक में पढने की ललक जगाता है और भारती के कलाकार के प्रति उत्सुक आग्रह संबंधित पुनरुक्तियाँ विरक्त नहीं करतीं और न कटु आलोचना से निरत/भारतीजी के प्रत्येक कहानी संग्रह को चंद्रकान्तजी पुंखानुपुंख रीति से अधीत एवं आलोचित पेश करते हैं। यह साधारण पाठकों में कहानी-उपन्यास के प्रति सूझबूझ जगाती है। खूबी यह है कि बांदिवडेकर जी यदि किसी आलोचकीय मान्यता की स्थापना करते हैं तो उसे उदाहृत और प्रमाणित भी करते हैं, फतवे नहीं देते। सचमुच वे प्रखर आलोचक हैं। भारती के कथा-संसार की सारी घटनाएँ सारे चरित एक नई रोशनी से जगाए दिये हैं। पाठकों को भारती ग्रंथावली (२ खंड) पढने से पहले या बाद में यह पुस्तक अवश्य पढनी चाहिये। इसका यह मतलब नहीं की बांदिवडेकरजी सिर्फ् तारीफों के पूल बाँधते हैं। वे औपन्यासिक कमजोरियाँ भी बताते हैं जैसे अन्तःसंवादों में कहीं कहीं शिथिल कलात्मक

और बडबोलापन, उसकी अन्तर्ग्रन्थियों का विश्लेषण जिससे चन्दर और सुधा (नायक-नायिका) की प्रतिमाएँ स्वतः विकृत या परिवर्तिन होने लगनी हैं। क्या ये सारी बातें भारती जी को इच्छित थीं ? नहीं, शायद नहीं। भारती जी से इसका ठीक उत्तर मिल सकता था। कुछ तो उनके आत्मकथनों में हैं ही। हमें और एक बात लगती है कि 'गुनाहों के देवता' और कहानियों में नारी चरित्र नर चरित्रों की अपेक्षा अधिक सशक्त हैं। यह बात शरत्चन्द्र चटर्जी के रचना संभार में थी। यह रोमानियत के बाहुल्य से ही होता है। यथार्थ-चित्रण की नींव आदर्शों का अधूरा या पाखण्डी परिपालना नींव में ज्यादा बालू-वास्तविकता के मजूबत महल टिकाऊ नहीं बनने देती। आदर्शों की तरह प्रायः अनुभव भी मिथ्या होते हैं।

बांदिवडेकर जी सुधा-चरित्र को भारतीकृत रूपायण में 'कलात्मक भूल' देखते हैं। यद्यपि वे उसे भारतीय मानस की पृष्ठभूमी में स्वाभाविक नहीं मानते हैं परन्तु कलात्मक स्वर पर भारती द्वारा 'यथायथ संप्रेषित' भी समझते हैं। कारण गेसू, पम्मी और विचली के चरित एक तरह का संतुलन ला देते हैं। जाहिर है कि भारती जी की स्त्रियचरित्र की समझ में कोई भूल नहीं थी। सुधा जैसी लडकियाँ सारे भारतीय समाज में यत्र-तत्र बिखरी मिलती हैं। उन्हें संभालना चंदर जैसों के लिए जीवन भर एक चुनौती बनी रहती है। सुधा की अकाल मृत्यु के संवंध में चंद्रकान्त जी का वक्तव्य सटीक है। विलकुल सही। किन्तु यह नहीं कि विनती 'चन्दर की अवचेतन में दबी हुई आदर्शपरकता के ऊपर के स्तंर पर लगने का काम करती है। कारण बात इसके सर्वथा विपरीत है। अन्तर्मन में दबी है प्राकृत लैंगिक भावना (डॉ. शुक्ला की संपत्ति को हथियाने की इच्छा आदि) जो ऊपरी चेतन मन द्वारा सेन्सर्ड होकर ओढी हुई आदर्शपरकता बनती है। सुधा की भी वही हालत है और उसमें युग-युग से परम्परित विकृत प्रथा बने रूढी हुए नारी निर्यातन से और भी जटिल हो पडती है। गेसू के व्यक्तित्व में अपेक्षा कृत इस्लामिक अवदान भी हैं, पर उसका कट्टरपन आडे आता है। वे लैला और शीरीं के अलग अपने को गढती हैं। उसका मानस हिन्दू आबोहवा में बना है। यह मिश्रण ही उसका है। उसमें अन्दर-बाहर का पर्याप्त सामंजस्य इस्लामिक देन है और आदर्शवादी हिन्दवी या भारतीय। शुरू से आखिर तक पम्मी में ईसाइयत का प्रभाव स्पष्ट है। वह सर्वः स्वार्थ

समीहते कहने वाली चुस्त-दुरुस्त, चतुर-चालाक है। या कि 'आत्मनोहितं, जगद्धितीयां का मर्म समझती है, इस्तेमाल करती है। जो भी हो, गुनाहों के देवता के बारे में बांदिवडेकर जी की यह राय खूब समीचीन है।

बांदिवडेकर जी ने भारती के दूसरे उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोडा' की अच्छी समीक्षा की है जिसमें नर-नारी-प्यार के विविध नमूनों से पूरा कथानक सर्जित है। हमें इतना ही कहना है कि इनके प्रयोगों में प्रेम-प्यार, प्रीति, स्नेह (नेह-सनेह) वासना-कामना की जन्म-जात प्रवृत्ति, यौन, खिंचान और तृप्ति, ठोस और ठस्स-इन सब का भेद स्पष्ट होना चाहिए। प्रायः ऐसा नहीं किया जाता। आखिर क्यों ?

दुःख-सुख, आनंद क्या तन-मन के व्यापार मात्र हैं या इनका कोई और भी गंभीर उद्देश्य या महत्त्व हैं? क्या उच्चवर्गीय लोगों-लुगाइयों में आर्थिक सुविधाओं के कारण अज्ञानाधारित नैतिक आवर्जनाएँ, जातिमय घमण्ड, मज्जागत भय एवं भोगों लालसा, स्वप्निलं तन्द्राछन्न जीना बदल या मिट जाते हैं ? उपनिषदों में 'नेति नेति' एक प्रक्रिया मात्र है 'तत्त्वमसि', 'सर्व खल्विदं ब्रह्मं', 'ब्रह्मं एकमेवाद्वितीय' और अन्त में 'अहं ब्रह्मास्मि' तक पहुँच है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ (माने आत्मिक उपलब्धियाँ) हैं। क्या भारती जी की आस्था व्यंग्य और वस्तु-स्थिति उपस्थापना और भी किसी लक्ष्य में अनुप्राणित है। पुराने साहित्य-स्रष्टा लोग कविकर्म (साहित्यकारिता) के लक्ष्यों और सिद्धियों में यश, अर्थप्राप्ती (प्रयोजन-सिद्धि) अकल्याण का विनाश और तुरन्त परानिर्वृत्ति का सामंजस्य मानते थे; और नये 'जीवन की सम्यक् आलोचना' जीने के तरीकों की सम्यक् विधि विवेचना आदि बतलाते हैं। आज की 'हिन्दी साहित्य रचनाएँ क्या इस तरह दशा-दिशा दर्शन भलीभाँति पेश करती हैं ? सात घोडे तो वस्तुतः सतरंगी किरणों के प्रतीक हैं या कि लाईट, फ्रीक्वेन्सीज, माणिक आदि के कौन कौनसे रंग हैं ? जीवन की सारी रंगीनियों में वे कितने अहम् हैं, याकि सभी मदरंग हैं ?

देह और देही के जिस द्वन्द्वसे सारा वैश्विक चिन्तन आक्रांत है उसे क्या कभी मिटाया जा सका, हटाया जा सकता है, याकि वह अभी-कभी-जभी-सभी तरह मिटेगा-हटेगा से, जड से जीवन की मूल ऊर्जा सक्रिय कम अक्रिय कम-ज्यादा होती रहती है। विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा

और प्रकाशवादी आत्मा, इन शब्दों को, शाब्दिक प्रत्ययों के दोहरान केवल तोता-रटन्त है।

उपन्यास आदि साहित्यकार भारती अपने कथ्य, शिल्प, शैली उद्देश्य, जीवन-दृष्टि, जगत्-नजरियों के लिए जाने-माने हैं। उनके काव्य-नाट्य साहित्य में सरसता, रोज-ब-रोज घटती घटनाओं का समाहार, जीवन्त प्रसंग वर्णन-श्रवण, सवाल-जबाब, पूर्णता का आभास, सगतिक निरूपण प्रभाव आदि सभी कुछ हैं - बांदिवडेकर जी की ये मान्यताएँ शायद सब को स्वीकार्य न हों। लेकिन यह निस्सन्देह तथ्य है कि सारी पुस्तक में यह सुस्पष्ट करने की कोशिश है और वह प्रायशः कामयाबी का सेहरा पहने है। यह कितना छायालोक कितना-व्यामिश्र जगत् है यह कौन कह सकता है। बेशक भारती जीने की सम्रगता में अपनी प्रयोगधर्मिता भी जोड सके और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी बने रहे - यह मानने में शायद ही किसी को हो सकता है या होगा। पूर्वाग्रह (ईर्ष्या-द्वेष-जनित) की बात अलग है। वैसे यह मात्र एक मिथ्या-मिथक-मात्र है कि सूरज के एक पहिए को सात घोडा रथ है वह आगे बढता है या पीछे हटता है। सूर्य मात्र एक गैसीय पदार्थ-पुँज है जिसके काले धब्बों (ब्लैक होल्स) की सद्यतम व्याख्या फिलीप हाकिन्स ने अपने समय के इतिहास में की है। सूर्य का यदि कोई रथ या घोडे हैं तो वे अचल हैं और स्वयं सौर मण्डल या ब्रह्माण्ड में एक कण जैसा है, इसीलिए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म की कल्पना की जाती है - ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी का लय-स्वरूप अनिर्वचनीय, अवाङ्मनसगोचर।.....

बांदिवडेकरजी ने उपेक्षित सशक्त कहानियाँ और युवा लेखकीय व्यक्तित्व की अच्छी खासी सहृदयता से समीक्षित की हैं। यह उनकी हिन्दी कथा-समीक्षा को नई देन है। यह सिद्ध किया है कि 'साहित्य की मूल्यवत्ता संख्या पर नहीं, समय के फैशन पर नहीं, लेखक की उम्र पर नहीं बल्कि चिन्तन में स्पन्दन पैदा करने की उसकी क्षमता पर है।' (पृ. १०८)। भारतीजी कुल ३२ कहानियों (चारों संग्रहों प्रदत्त) पर विशद समीक्षा कर चन्द्रकान्त जी का यह निर्णय संवेद्य है कि, 'सात-आठ कहानियाँ निश्चित रूप से सशक्त कहानी है।.. सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं 'गुल की बन्नो', 'सावित्री नंबर दो', 'यह मेरे लिए नहीं', और 'बन्द गली का'-

ये चारों कहानियाँ विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में शामिल की जा सकती हैं।''

चौथें और पाँचवें अध्यायों को एकत्र भी किया जा सकता है और हमें पहले पाँचवा ! भारती की संस्कृति अवधारण पहले पढना ज्यादा जँचा, चौथा 'समीक्षक भारती' तो उसीके निदर्शन पेश करता है। दोनों में भारती जी के प्रखर प्रज्ञा-प्रतिज्ञा-प्रस्तुति कौशल बहुत ही अच्छी और सूझबूझ से पेश हुए हैं - इस पुस्तक के दिलो दिमाग जैसे। छठे और सातवें 'पत्रकार भारती' और 'बहुआयामी प्रतिभा के धनी भारती' भी भारती जी के कृतित्व के साथ भारती जी के व्यक्तित्व की समग्रता पूरी करतें हैं। सातवें में ही 'निबन्धकार और यायावर भारती जी के महल उजागर हैं - संक्षेपतः पुस्तक सचमुच स्पृहणीय और संग्रहणीय है।

३३, पूर्वपल्ली, डा. पृथ्वीनाथ शास्त्री
शांतिनिकेतन, ७३१२३५

ग्रंथसमीक्षा

लोक, संपा. पीयूष दईया, प्रका.-भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर (राज.) ३१३००१, पृ.-७०२, सन २००२, मूल्य : रु.७५०/-

मनुष्य की चेतना के विकास में लक्षित-अलक्षित तौर पर लोक-संस्कार की महती भूमिका है। सभ्यता और परिवेश के बदलाव के साथ मनुष्य का अन्तर्बाह्य जितना भी बदल गया हो, एक-न-एक क्षण ऐसा आता ही है जब व्यक्ति को अपनी विशिष्ट पहचान के लिए किसी लोक या जन-समुदाय से जुडना पडता ही है या दूसरे लोग उसके कर्म, विश्वास, आचार-व्यवहार या भाषा आदि में लक्षित किये जाने वाले किन्हीं विशेष लक्षणों के आधार पर उसे जन-समुदाय विशेष के साथ जोड कर देखते हैं। एक प्रकार से लोक हमारी वह भूमि है जिससे हमारे व्यक्तित्व और व्यवहार का सहजात स्वभाव-संबंध है। हमारी असमता और पहचान की भूमि है लोक।

मानववंशशास्त्रियों, इतिहासविदों, मनोवैज्ञानिकों, धार्मिकों, समाज-शास्त्रियों, भाषाविदों, कलाविदों और साहित्य-चिंतकों, सबकी चिंता का विषय रहा है लोक। मौखिक परंपरा में, क्रियात्मक रूपों में, आदिम अभिव्यक्ति चिह्नों में, विश्वासों और अनुष्ठानों में, मिथकों और पुराकथाओं में, प्रतीकों में, कलाओं में, लोकोक्तियों और कहावतों में अपरिमेय विस्तार से लोक की भावना का प्रसार पाया जाता है। क्षेत्रीय और कालगत सीमाओं, मानव समुदायों की विभक्ति और संगठनों ने लोक-भावना और लोक-संस्कार को जहाँ एक ओर विविधता का एक भरा-पूरा संसार दिया है वहाँ दूसरी ओर इस सबमें एक अंतवर्तिनी एकता भी प्रदान की है। अपनी जडों को खोजते हुए चिंतकों ने देश-विदेश की कलाओं आदि के अध्ययन से लोक-चेतना के जिस व्यापक और अतिविस्तीर्ण संसार का उद्घाटन किया है उससे उक्त दोनों ही रूपों की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं। स्वाभाविक है कि भारत जैसे विशाल और प्राचीन संस्कृति वाले देश में, जहाँ अपने स्वार्थ के लिए विदेशी आक्रमकों ने विभेद के ही बीज-बोये और सांस्कृतिक संस्थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, विभेद में अभेद की खोज की दृष्टि से यहाँ की लोक-संस्कृति के अध्ययन का अपरिसीम महत्त्व है। इस दिशा में देश में जो विद्वान, कलाकार, शोधकर्ता, रंगकर्मी और

चिंतक कार्यरत हैं और जो संस्थाएँ विलुप्त या विलुप्तप्राय और अज्ञानवश अथवा विदेशी सभ्यता के मोहवश उपेक्षित कर दी गयी सामग्री के पुनरुद्धार तथा उपयोग में लगी हुई हैं, उनमें श्री देवीलाल सामर और उदयपुर (राजस्थान) की संस्था 'भारतीय लोककला मण्डल' का विशिष्ट स्थान है। उक्त मण्डल की स्थापना के पचास साल पूरे होने पर उक्त ग्रंथ 'लोक' का प्रकाशन किया गया है। ग्रंथ के संपादक पीयूष दईया हैं ।

'लोक' में इकहतर लेख सम्मिलित हैं। चूँकि ये हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी सहित सर्व भारतीय भाषाओं से गृहीत हैं और हिंदी में अनूदित हैं, इसलिए व्यापक सहयोग और व्यवस्था की एकरूपता संपादन-कौशल की दृष्टि से ऐसी विशेषताएँ हैं जो पाठकीय पक्ष से अचीन्ही नहीं रहतीं। अनुवाद किसी अन्य मूल भाषा-भाषी अथवा उस भाषा के अच्छे जानकार किसी हिंदी भाषी के द्वारा पूरा हुआ है। यदि कमी विषय-भेद से एक ही लेखक के दो लेख संग्रह करना जरूरी हो गया तो कभी अनुवाद के लिए भी किसी-किसी अनुवादक को एकाधिक लेखों का अनुवाद सौंपना पड गया है। संपादकीय व्यवस्था में इस विवशता से कई बार समझौता करना ही पडता है। विषय के साथ अधिकाधिक न्याय हो सके और उद्देश्य पराजित न हो, इसके लिए ऐसा करना पड जाता है। ऐसा ही हुआ भी है। पर अनुवादकों की पुनरावृत्ति विशेषतः मराठी और बाङ्ला लेखों के प्रसंग में हुई है, जबकि मराठी के दो तीन लेखकों के लेख सीधे हिंदी में भी लिखे गये हैं। निशिकांत ठकार ने मराठी के छह लेखों का हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया है और उत्पल बैनर्जी ने चार बाङ्ला लेखों का अनुवाद किया है। हो सकता है कि यह एक संयोग मात्र हो कि संपादक ने विषय के महत्त्व की दृष्टि से जहाँ से भी इन लेखों का चयन किया हो, वे पहले से ही इनके द्वारा अनूदित रहे हों।

यह बात तूल देने की नहीं है, एक तथ्य का उल्लेख पर है। महत्त्वपूर्ण है विषय की व्याप्ति और विवेचन की उपलब्धि। लोक के अध्ययन में क्लोद लेवी स्त्रास का विशिष्ट स्थान है। ग्रंथारंभ में ही उनके तीन सुदीर्घ लेखों का हिंदी भाषांतर देने के साथ-साथ स्वयं उनके विषय में आक्टेवियो पाज का लेख दिया गया है। स्त्रास के लेखों में प्रजाति के रूप में व्यक्ति के अंतर्गत बोरनीओ के खानाबदोश पेनान लोगों में व्यक्ति-

नामों के रखने की विधि का अध्ययन-विश्लेषण किया गया है। इस अध्ययन की सीमा मनुष्य के साथ-साथ पशु-पक्षियों और पौधों - फूलों के नामों तक को समेट कर समाप्त होती है। दूसरे, इन नामों में व्यक्ति संबंध, लिंग, वय, स्थिति आदि से अथवा विधि-निषेध के कारण उत्पन्न हुए प्रकार-भेद का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। सहज ही यह अध्ययन मिथक को भी अपने में समेट लेता है। दूसरा लेख मिथक और इतिहास के आपसी रिश्ते और दोनों के बीच की विभाजक रेखा की पहचान कराता है, जबकि तीसरे लेख में 'सीमशियन इण्डियन' से विकसित आसदीवाल की कहानी के चार रूपांतरों में प्राप्त समानताओं और भिन्नताओं के विश्लेषण से वैज्ञानिक पद्धति पर जातीय जीवन के मूल रूप को प्राप्त करने और कहानी में हुए परिवर्तनों के कारणों को समझने का एक प्रयोग किया गया है। स्त्रास के ये लेख, विशेषतः पहला और तीसरा, अभ्यासियों के लिए आदर्श-मॉडल का काम करते हैं।

पाज का विश्लेषण स्त्रास के मिथक-विचार पर केंद्रित है और यह समुचित है कि विषय-केंद्रित होकर लिखा जाय न कि व्यक्ति-केंद्रित होकर। कर्तृत्व के सम्मान में ही व्यक्ति का सम्मान निहित है। इस दृष्टि से ग्रंथ में संकलित अंतिम लेख 'देवीलाल सामर : पुनर्मूल्यांकन के सिलसिले में' भी विशेष उल्लेखनीय बन जाता है। मोहन कृष्ण बोहरा ने ४० पृष्ठ के इस सुदीर्घ लेख में सामर जी के व्यक्ति रूप का नहीं, उनके लोक-नाट्य तथा लोक-नृत्य-चिंतन का विश्लेषण किया है और जहाँ जरूरत हुई अपना मतभेद भी निस्संकोच व्यक्त किया है। श्री बोहरा ने सामर जी के चिंतन में आत्मनिष्ठता और विरोधाभास, दोनों की उपस्थिति की शंका व्यक्त की है और वैसे विषयों में कुछ और गंभीर विचार की आवश्यकता अनुभव की है। हम समझते हैं, सामर जी के प्रति यह एक सच्ची श्रद्धांजलि है और ग्रंथ की गरिमा बनाए रखने का एक जरूरी हिस्सा है।

इसी प्रसंग में तीन और लेखों का उल्लेख भी यहीं करना उचित लगता है, भले ही तीनों में ग्रंथ-योजना में स्थान और विवेच्य कर्म का काफी फासला है। ये तीन लेख हैं : शम्मा शाह लिखित 'उज्ज्वल नीलमणि', 'अपनी जमी पर' और उदयप्रकाश के द्वारा प्रस्तुत 'हमारा समय और लोक'। अंतिम दो साक्षात्कार हैं और पहला लगभग रेखाचित्र। ये

तीनों ग्रंथ में समाविष्ट सामग्री के विधा-वैविध्य के अंग तो हैं ही, तीनों के विवेचित विषयों में भी अंतर है। 'उज्ज्वल नीलमणि' शीर्षक से इसे इसी नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ से साथ जोड कर देखने की भूल की जा सकती है, पर पढते ही यह भेद खुल जायगा कि इसका संबंध सीधे कुंभ-निर्माण कला की उत्पत्ति, उसका मणिपुरी विकास और उस कला को अतिविशिष्टता तक विकसित करने में राष्ट्रपति-सम्मान 'मास्टर क्राफ्टवूमन पुरस्कार' तथा अन्य पुरस्कारों से सम्मानित श्रीमती नीलमणि देवी से है। 'अपनी जमी पर' विशिष्ट रंगकर्मी श्री हबीब तनवीर का शम्मा शाह द्वारा लिया गया साक्षात्कार है जो उनके लेखन और रंगकर्म की परतें खोलते हुए उनके इस देश की धरती, लोक और लोक-कला से गहरे जुडाव की गवाही देता है। 'हमारा समय और लोक' कोमल कोठारी से उदयप्रकाश की बातचीत है जो भारतीय लोक-कला और लोक-संस्कृति को उत्तर-आधुनिकतावादी उपभोक्ता-संस्कृति के रूबरू खडा करके हमारी कला और संस्कृति पर पडनेवाले दबावों में उनकी सुरक्षा, संरचनात्मक शक्ति और संभावित अंतर्सूत्रों की खोज की चिंता में प्रवृत्त होती है। उपभोक्ता संस्कृति, नये प्रसार माध्यमों और नवीनतम तकनीक आदि के कारण बदलती जनरुचि के साथ कुछ कलाओं के लोप और नये उपकरणों की तलाश तथा उनके उपयोग आदि के कितने ही महत्त्वपूर्ण और ज्वलंत प्रश्न इस समस्या से जुडे हुए हैं। उन सबकी गहरी पडताल इस बातचीत में संभव हुई है।

इसी प्रसंग में कर्नाटक के श्री चंद्रशेखर खम्बार का लेख 'पारंपरिक रंगमंच से संपूर्ण रंगमंच तक' भी उल्लेखनीय है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, यह लेख भी लोकनाट्य, पारंपरिक नाटक और आधुनिक नाटक तथा रंगमंच को ऐसे आपसी रिश्ते में जोड कर आमने-सामने रखता है जिसमें आपसी लेन-देन की, विशेषतः लोकनाट्य और लोकमंच से आधुनिक नाटक या मंच के आदान की, संभावनाओं की प्रतीति होती है। भारतीय रंगकर्मियों, रचनाकारों और चिंतकों के आत्मबोध को जगाये रखने के लिए उक्त साक्षात्कार के क्रम में इस लेख का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लोक-परंपरा में भी हिंदू-मुसलमान का भेद या उनका संश्लेष पाया जाता है। ग्रंथ में संकलित दो लेख इस दृष्टि को प्रमाणित करते हैं। एक

है शैल मायाराम का 'मेवों महाभारत' और दूसरा है 'आई पंथ और निजारी इस्माइली पंथ'। इस दूसरे लेख के लेखक हैं डॉ. सुरेश मिश्र। हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक मिलन को रेखांकित करने वाले ये दोनों लेख सामयिक संदर्भ में जातीय विद्वेष के विरुद्ध ऐक्य-बोध को जगाने की दृष्टि से बडे काम के हैं। इसी प्रकार 'यौन चेतना का विकास : बैगा जनजाति में' और यौन अभिप्राय' शीर्षक दी लेख छत्तीसगढी बैगा जनजाति के जीवन में काम, प्रेम, और यौन संबंधों से जुडे प्रसंगों पर लोक-काव्य के माध्यम से प्रकाश डालते हैं। पहला लेख वेरियर एल्विन का है जो इस विषय के शोधकर्ता रहे हैं और जिन्होंने ददरिया, काम और झारपट गीतों का अंग्रेजी में काव्यानुवाद भी किया है। उनका यह लेख भी अंग्रेजी से ही अनूदित है और इसी लेख के साथ-साथ बैगा काव्य के उनके अंग्रेजी भाषान्तर से गीतों को हिंदी में प्रस्तुत किया है अर्नेस्ट अल्बर्ट ने जबकि उनके पूर्वोक्त लेख के अनुवादक हैं, मदन मोहन माथुर। 'यौन अभिप्राय' लेख के लेखक हैं डॉ. श्यामसुंदर दुबे, जिनका 'पक्षी अभिप्राय' पर भी सहयोगी लेख सम्मिलित है।

इन लेखों का उल्लेख विशेषतः इसलिए किया गया कि इनके विषय कुछ लोक से हटकर हैं। यों ग्रंथ की अपनी एक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत आरंभिक चार लेखों के बाद चित्रकला, कथा-कहानी, गीत, आधुनिक संदर्भों में लोक, लोक का शास्त्र-चिंतन, अनुष्ठान, लोक-संगीत, लोक-महाकाव्य, लोकनृत्य तथा लोक-रंगमंच और कुछ इतर विषयों से संबंधित अच्छे सुविचारित लेख संगृहीत हैं। प्रयत्न पूरे भारतीय लोक को समेट लेने का रहा है, जिससे राष्ट्र की एक संगठित छवि प्रस्तुत की जा सके। इस चिंतन में मराठी सबसे बडे हिस्से की साझेदार है, जबकि तमिल अनुपस्थित और कन्नड की उपस्थिति नगण्य-सी है। दो निबंधों में रेखांकन और छायाचित्र के माध्यम से बात को स्पष्ट किया गया है। हरिहर वैष्णव लिखित 'बस्तर की लोकचित्र परंपरा' और भानु भारती लिखित 'गवरी : एक छाया निबंध' क्रमशः इसी प्रकार के निबंध है। हकु शाह का 'घर... सजीव साथी' भी अपने ढंग का विशिष्ट निबंध है, जो घर को उसकी पूरी संरचना और भावनिक संबंध में उपस्थित करता है। कथा-कहानी और काव्य, दो ऐसी विधाएँ हैं जिन्हें ग्रंथ में प्रमुख स्थान मिला है। कथा-

कहानी का विस्तार मुख्यतः उसने लिखित और मौखिक रूपों, दंतकथा-अनुष्ठान-लोककथा, बातपोशी, लोककथा अध्ययन और भाषाशास्त्र तथा लोक-संस्कृति को लेकर हुआ है और इसमें कोमल कोठारी, जी. एस. कर्क, वागीशकुमार सिंह, सी. डब्ल्यू वॉन सीदौव और अरुणा ढेरे का योगदान है। डॉ. रामचंद्र चिंतामण ढेरे के निशिकांत ठकार द्वारा मराठी से अनूदित दो लेख क्रमशः 'मराठी संतों के कूटकाव्य और लोकसाहित्य की पहलियाँ' तथा 'लोक-साहित्य और इतिहास' दो अलग प्रश्नों पर प्रकाश डालते हैं। पहले लेख में डॉ. ढेरे ने संतों के कूटकाव्य का निर्देश करते हुए कूट और कूटकाव्य की परंपरा का भी निर्देश किया है और उसका संबंध यजुर्वेद के 'ब्रह्म कूट', महाभारत के 'यक्षप्रश्न', सुत्तनिपात के 'सुचिलोमसुत्त' और 'आलवकसुत' तथा डफगान और कलगी-तुर्रे वाले शाहीरों से स्थापित किया है। दूसरे लेख में लोक साहित्य और सामाजिक शास्त्र तथा उत्कीर्ण लेख, इतिहास और लोक साहित्य के आपसी संबंधों पर प्रकाश डाला गया हैं।

शास्त्र-चर्चा के अंतर्गत संगृहीत सात लेखों में से पहला लेख 'लोक और शास्त्र' में राममूर्ति त्रिपाठी दोनों के आपसी संबंध और दोनों के बीच के विभेद की सीमाएँ तय करते हैं, डॉ. हेतुकर झा ने 'लोक सम्प्रत्यय की संक्षिप्त विवेचना' की है और मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और प्राचीन भारतीय परंपरा के संदर्भों की छानबीन की है। रमेश थावनी ने ईशावास्योपनिषद् के श्लोकांश 'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान' शीर्षक से एक लघु किंतु ललित निबंध लिखा है, जो बडा सार्थक और पठनीय है। लोक प्रतीक से संबंधित दो लेख इसी के बाद प्रकाशित हैं। रामचंद्र तिवारी ने 'लोक के प्रतीक और उनका परिदृश्य' शीर्षक लेख में लोक और प्रतीक शब्दों की अपनी व्याख्या करते हुए प्रकृति से गृहीत वनस्पति, पशु-पक्षियों, ग्रह-नक्षत्रादि प्राकृतिक शक्तियों, भारतीय धर्म-साधना में प्रयुक्त पवित्र माने जाने वाले उपादानों, स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थों, जीवों तथा अन्ततः सतीत्व को प्रमाणित करने वाले प्राकृतिक साक्षियों का विचार किया है तो वसंत निरगुणे के 'लोक संस्कृति में प्रतीक' शीर्षक लेख के प्रतीक के स्वरूप और महत्त्व पर विस्तृत सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। निरगुणे प्रतीक को मिथक, बिंब, पुरा आख्यान, आदि के साथ रख कर उनके पारस्परिक

भेद को तो स्पष्ट करते ही हैं, उन्हें बुद्धि और रागात्मकता, चित्रकला तथा अनुष्ठान के संदर्भ में भी विचार-क्रम में प्रस्तुत करते हैं और अंत में प्रतीकार्थ के रूढ और परिवर्तित होते रहने वाले स्वरूप का निर्देश करते हैं। प्रतीक पर व्यापक सैद्धान्तिक चर्चा जहाँ इस लेख का गुण है, वहीं इसकी कुछ कमजोरियाँ भी है। जैसे, लेखक को सब-कुछ समेट लेने की अधीरता है। परिणामस्वरूप जहाँ स्पष्टता के लिए उदाहरण देने की आवश्यकता है, वहाँ उसका अभाव है। कुछ उद्धरणों के संदर्भ दिये गये हैं, कुछ के नहीं दिये गये, जिससे लगता है कि सामग्री मूल से गृहीत नहीं है। इसी प्रकार व्याकरण तथा वर्तनीगत अनेक भूलें लेख-पठन में व्याघात पहुंचाती हैं।

'लोकदेव हनुमान : अतीत से वर्तमान तक' यद्यपि उसके लेखक विश्वनाथ खैरे के अनुसार ही "मराठी में प्रकाशित अनेक लेखों का सारांश है" तथापि संक्षेप में बहुमूल्य सामग्री से परिचित कराता है। कठिनाई इस लेख के साथ भी यही है कि वाक्यविन्यास कई जगह मराठी ढलाव का है और वही स्थिति आलोचना या शोध के अर्थ में मराठी शब्द 'चिकित्सा' के प्रयोग की भी है। पर डॉ. जया परांजपे का लेख 'लोक : इतिहास, पुराण, मिथक' इन दोषों से मुक्त है और चारों शब्दों की समझ को उनके आपसी अंतःसंबंधों के आलोक में विकसित करता है।

संभव नहीं है कि सभी लेखों पर टिप्पणी एक दौडती नजर में भी इस समीक्षा में की जा सके। वस्तुतः हम इसे समीक्षा भी नहीं, केवल सांकेतिक परिचय ही कहना चाहेंगे। इससे इतना लक्षित हो जाय कि समीक्ष्य ग्रंथ 'लोक' मूल्यवान पठनीय और संग्राह्य है, तो अलम् है। हाँ, यदि इन विद्वान लेखकों का संक्षिप्त-सा परिचय, उनके पते और संपादक की ओर से इस आयोजन से संबंधित उनकी दृष्टि, प्रयत्न और लेख-संग्रह के मूल स्रोतों आदि के विषय में दो शब्द ग्रंथारंभ में होते तो ग्रंथ का मूल्य और बढ जाता। हमारी विनम्र सम्मति में तो एक परिचयात्मक लेख भारतीय लोक कला मण्डल के विषय में भी होना चाहिए था।

'कलापी' १६२/५ ब-१ स,
डी. पी. रोड, औंध,
पुणे - ४११००७ (महाराष्ट्र)

डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित